तमिळ

तिरुक्कुरळ्

भुवन वाणी ट्रस्ट
लखनऊ ३

तमिळ

तिरुवकुरळ

(नागरी लिप्यन्तरण सहित हिन्दी गद्य-पद्य अनुवाद)

रचयिता

महर्षि तिरुवळ्ळुवर

लिप्यन्तरण एवं गद्यानुवाद

श्रीमती राजम् पिल्लै

पद्यानुवाद

नन्दकुमार अवस्थी

प्रकाशक

भुवन वाणी ट्रस्ट

'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८, चौपटियाँ रोड, लखनऊ—२२६००३

प्रथम संस्करण—
१९७६ ई०

मूल्य— २०·०० रुपया
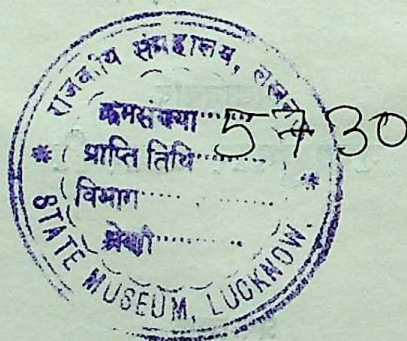
मुद्रक:—
वाणी प्रेस
भुवन वाणी ट्रस्ट
'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८, चोपटियां रोड, लखनऊ–२२६००३

ग्रन्थ - विमोचन

कर्नाटक प्रदेश के महामहिम राज्यपाल
श्री पं० उमाशंकर दीक्षित के
कर-कमलों द्वारा।

भारतीय वाङ्मय की तमिऴ शाखा का
सर्वमान्य नीतिग्रन्थ 'तिरुक्कुऱळ्' का
हिन्दी गद्य-पद्य अनुवाद सहित
यह नागरी लिपि संस्करण,
ग्रन्थ के मूल रचयिता, २००० वर्ष पूर्व अवतरित
महर्षि तिरुवळ्ळुवर को
सादर समर्पित।

नन्दकुमार अवस्थी
मुख्यन्यासी सभापति
भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ–३

....

....

....

महामहिम राज्यपाल उत्तरप्रदेश

डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी

को

माल्यार्पण

तमिऴ् तिरुक्कुरळ्

नागरी लिप्यन्तरण

:—:*:* तिरुवळ्ळुवर-कृत *:*:—:

जनता के सच्चे प्रतिनिधि, सदैव क्रान्तिमय जीवन व्यतीत करनेवाले, डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी महोदय, महामहिम राज्यपाल उत्तरप्रदेश, को भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ की ओर से, अपने अद्वितीय भाषाई-सेतुबन्ध में नवीन शिलार्पण स्वरूप 'तमिऴ्' का यह अनुपम ग्रन्थ 'तिरुक्कुरळ्' सादर माल्यार्पित ।

२९ जून, १९७६
रथयात्रा दिवस

नन्दकुमार अवस्थी
प्रतिष्ठाता—भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ—३

विषय-सूची

प्रकाशकीय

तमिल-देवनागरी वर्णमाला

அ अ	ஆ आ	இ इ	ஈ ई
क	का	कि	की
உ उ	ஊ ऊ	எ ऎ	ஏ ए
कु	कू	कॆ	के
ஐ ऐ	ஒ ऒ	ஓ ओ	ஔ औ
कै	कॊ	को	कौ
	ஃ अक्		
க क	ங ङ	ச च	ஞ ञ
ட ट	ண ण	த त	ந न
ப प	ம म	ய य	ர र
ல ल	வ व	ழ ऴ,ऴ	ள ळ
ற ऱ,ऱ	ன ऩ,ऩ	ஷ ष	ஸ स
ஹ ह	ஜ ज	க்ஷ क्ष	

विषय-प्रवेश

तमिऴ् का साहित्य अति प्राचीन, सर्वाङ्गसमृद्ध और अनेक क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में प्रचुर है। फिर भी तीन ग्रन्थशिरोमणि १. तिरुक्कुऱळ् २. तिरुवाचकम् ३. तिरुमन्दिरम् के फलस्वरूप तमिऴ् भाषा जगद्वन्द्य और अजर-अमर है। "तिरुक्कुऱळ् मानव के लिए जीवन है, तो तिरुवाचकम् हृदय और तिरुमन्दिरम् आत्मा।" तमिऴ् में ग्रन्थलिपि का जन्म हुआ और उसमें वेद-वेदाङ्ग, शास्त्र-पुराण तथा संस्कृत का विशाल साहित्य भी प्रस्तुत हुआ। प्रतिवादभयङ्कर श्री अण्णङ्गाचार्य और

उनके अनुवर्तियों ने प्रबन्धस्तोत्रों की रचना और संकलन किया। कहा जाता है उनकी संख्या चार-पाँच हज़ार है, और विशिष्ट सम्प्रदायों में तो उनका पाठ वेदपाठ से भी अग्रणीय स्थान प्राप्त करता है। ऐसी समृद्धि-शालिनी तमिऴ भाषा के ग्रन्थरत्न 'तिरुक्कुऱळ्' के सानुवाद नागरीलिपि-संस्करण की आज चर्चा है।

ग्रन्थ के प्रकाशन-आरम्भ के समय पृष्ठ १७-१८ पर ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता आदि पर प्रस्तावना-स्वरूप, कुछ पंक्तियाँ मैंने लिखी हैं। वे पंक्तियाँ पर्याप्त सामग्री रखती हैं और पठनीय हैं। उस समय मैंने ग्रन्थ की समाप्ति पर, वस्तुविषय के सम्बन्ध में कुछ विशेष लिखने का विचार व्यक्त किया था, आज सौभाग्य से वह अवसर उपस्थित हुआ :—

तमिऴ की जटिलता

भारतीय वाङ्मय की तमिऴ शाखा का अनुपम ग्रन्थ तिरुवल्लुवर कृत 'तिरुक्कुऱळ्' समाप्त हुआ। भुवन वाणी ट्रस्ट द्वारा अब तक प्रकाशित, और प्रकाशन में चल रहे विविध-भाषाई ग्रन्थों में तमिऴ का यह कार्य सर्वाधिक जटिल रहा। तमिऴ वर्णमाला के नागरी-लिप्यन्तरण एवं अनुवाद में कई बाधाएँ, और दृष्टिकोणों में मतभेद रहे।

पिछले पृष्ठ संख्या ११ पर 'तमिऴ-देवनागरी' का चार्ट मुद्रित है। उसमें स्वर और व्यञ्जनों पर ध्यान दीजिये।

तमिऴ स्वर

'स्वर' नागरी लिपि के समान ही हैं। एकार और ओकार के ह्रस्व और दीर्घ दो रूप हैं। राष्ट्रभाषा, उत्तर की क्षेत्रीय भाषाएँ, और विभिन्न बोलियाँ—उच्चारण की दृष्टि से ए और ओ की ये ह्रस्व और दीर्घ मात्राएँ सब में न्यूनाधिक बोली तो जाती हैं, किन्तु उनके लेखन में अन्तर नहीं है। केवल दक्षिण की चार भाषाएँ—तेलुगु, कन्नड, मलयाळम और तमिऴ, इनमें ह्रस्व और दीर्घ एकार और ओकार की मात्राएँ लिखी भी भिन्न प्रकार से जाती हैं। हिन्दीभाषी पाठकों को दृष्टांत के लिए, उदाहरण है—'दीवानॆ ग़ालिब' और 'दीवाने लोग'। नॆ लघु है, ने दीर्घ है और नॆ से दुगना समय लेता है। लिप्यन्तरण में इनको पृथक् व्यक्त न करने पर, दूसरे भाषाभाषियों के अशुद्ध पढ़ जाने की आशंका है। यह समझना कठिन हो जायगा कि 'ग़ालिब का दीवान' और 'दीवाने अर्थात् पागल ग़ालिब'—इनमें कौन-सा अर्थ मन्तव्य है।

इस समस्या के हल के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास, हैदराबाद हिन्दी प्रचार सभा, और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने ह्रस्व-दीर्घ ए और ओ के लिए क्रमशः ॆ, ॊ तथा े, ो का प्रयोग किया है। ये ह्रस्व मात्राओं के रूप उपयुक्त तो नहीं थे, परन्तु विवश होकर इन प्रचलित

रूपों ॅ और ॉ को ही भुवन वाणी ट्रस्ट ने भी [तिरुक्कुरळ् के नागरी लिप्यन्तरण में प्रथम खण्ड पृष्ठ ११२ तक प्रयुक्त किया। इस बीच वाराणसी के अखिल भारतीय काशिराज न्यास और विक्रम परिषद् द्वारा प्रकाशित 'रामचरित-मानस' के संस्करणों पर दृष्टि गयी। उनमें ह्रस्व और दीर्घ के लिए ॆ, ॊ और े, ो का प्रयोग हुआ है। ये रूप लेखन, मुद्रण और पठन में अधिक स्पष्ट और सरल प्रतीत हुए। संयोग से पूज्य विनोबा जी ने दक्षिणी भाषाओं के नागरी लिप्यन्तरण में इन्हीं के अनुकरण पर इन चिह्नों को अपनाया। समझिये छाप लग गयी। भुवन वाणी ट्रस्ट का संशय भी समाप्त हुआ। पृष्ठ ११२ के बाद से ग्रन्थ में, और अब सभी दक्षिणी भाषाओं के लिप्यन्तरण में इन्हीं चिह्नों ॆ, े, ॊ, ो का प्रयोग हो रहा है।

तमिळ व्यञ्जन

तमिळ में मूलतः १८ व्यञ्जन होते हैं। पृष्ठ ११ पर दिये वर्णमाला चार्ट में कुछ नवागत वर्णों सहित १९ व्यञ्जन दिये गये हैं। इतने ही अक्षरों में तमिळ के सारे ग्रन्थ लिखे जाते हैं; किन्तु ये ही अक्षर स्थानभेद से उच्चारण बदल देते हैं। उदाहरण के लिए क, च, ट, त, प,—तमिळ में सदैव एक ही रूप में लिखे जाने के बावजूद, इन पाँच अक्षरों की ध्वनि स्थान भेद से बदलती रहती है :—

क— आरम्भ और द्वित्त में क; बीच वा अन्त में ह; और अनुनासिक के बाद ग उच्चरित होता है :—
काडु, पक्कम्; (नकम् का) नहम्; (बरुक का) बरुह; (नींकळ् का) नींगळ्।

च— आरम्भ, मध्य और अन्त में श; द्वित्त में च; और अनुनासिक के बाद ज:—
(चेवल्, करचन्, अरचु) का क्रमशः शेवल्, अरशन्, अरशु; (द्वित्त तच्चन् का) तच्चन्; और अनुनासिक (मंचल का) मंजल।

ट— द्वित्त में ट, और सब जगह ड; शुरू में ट कभी नहीं; सदैव ड ही उच्चारित होता है।

त— आरम्भ और द्वित्त में त; और सब जगह द :—
तहप्पनार्, वात्तियार्; (अतु का) अदु।

प— आरम्भ और द्वित्त में प; अन्यत्र सर्वत्र ब :—(त के समान ही)

न, ऩ—न का रूप दो प्रकार का है। उच्चारण में भेद नगण्य है।
र, ṟ (ऱ)—तमिऴ में र सामान्य नागरी के समान; ṟ (ऱ) में घर्षण अधिक है।
ळ—तालू पर जिह्वा रखकर 'ल' उच्चारित करने पर जो ध्वनि निकलती है।
ऴ (ऴ)—मूर्धन्य स्थान से ळ को उच्चरित करना।

प्रस्तुत नागरी-लिप्यन्तरण में प्रथम खण्ड पृष्ठ ११२ तक तो तमिऴ के अक्षर यथावत् क, च, ट, त, प ही लिखे गये; इस सिद्धान्त पर कि जैसे तमिऴ लिपि के अभ्यासी, अभ्यास से इनको स्थानभेद होने पर क्रमशः क, ह, ग; च, श, ज; ट, ड; त, द; प, ब; ध्वनित करते हैं, उसी अनुसरण पर नागरी लिपिवाले भी अपने को अभ्यासी बनायेंगे। परन्तु बाद में विद्वानों की राय में, तमिऴ लिपि के अनुसार नहीं, वरन् उच्चारण के अनुसार नागरी लिपि में लिखना सरल और श्रेयस्कर समझा गया। अतः दूसरे खण्ड से इन व्यञ्जनों को स्थानभेद से बोली जानेवाली ध्वनि में ही लिखा गया है। भविष्य में भी यही परिपाटी अपनायी जायगी।

तिरुक्कुऱळ् और तिरुवल्लुवर (श्रीकुऱळ्—श्रीवल्लुवर)

ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में पृष्ठ १७ पर दी हुई प्रस्तावना में सामग्री प्रस्तुत है, यह मैं निवेदन कर चुका हूँ। पुरातनकाल में जन-कल्याण में ही सदैव रत ऋषि-रचनाकारों में ग्रन्थ पर अपना नाम देने की परिपाटी नहीं थी। अपने यश और अपने अस्तित्व की ओर उनका कभी ध्यान भी नहीं जाता था। उनकी रचना, उनका ज्ञान, स्वतः जनता में अजर-अमर लोकप्रियता प्राप्त कर लेता था।

'वल्लुवर' दक्षिण में एक सामान्य जाति का नाम है। तिरु (श्री) उपाधि से जनता ने आचार्य को समलङ्कृत किया। इस प्रकार तिरुवल्लुवर नाम प्रसिद्ध हुआ। उसी भाँति 'कुऱळ्' एक छोटा-सा छन्दवृत्त है। २००० वर्ष पूर्व विरचित उस रचना ने वह शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त की कि जनता ने उसके साथ भी 'तिरु' (श्री) संलग्न किया।

लिप्यन्तरण एवं अनुवाद

तमिऴ में व्यञ्जनों की कमी, स्थानभेद से एक ही अक्षर की कई-कई ध्वनियाँ, स्वरों का आधिक्य—ये जटिलताएँ पहले निवेदन की जा चुकी हैं। इन्हीं के फलस्वरूप ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में एक, और द्वितीय एवं तृतीय खण्ड में दूसरी—और अब वही स्थायी—परिपाटी अपनायी गयी। भविष्य में तमिऴ के सारे लिप्यन्तरित ग्रन्थ भुवन वाणी ट्रस्ट द्वारा इसी बाद वाली शैली पर लिप्यन्तरित किये जायँगे।

अनुवाद में भी एक कठिनाई रही। तिरुक्कुऱळ् का कुऱळ् छन्द इतना छोटा और उसमें निहित भाव इतने सूत्र-रूप में इंगित हैं कि उनका

शाब्दिक अनुवाद भाव-व्यञ्जना के लिए अपर्याप्त बैठता है। इन छन्दों का अनुवाद मात्र न होकर व्याख्या ही अधिक समुचित है। यही अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाई अनुवादों में हुआ है। परिणामस्वरूप विद्वानों की व्याख्या में अपनी-अपनी सूझ-बूझ, और देश-काल-पात्र के अनुसार भावव्यञ्जना में भिन्नता दिखाई देती है। इससे, महर्षि से प्राप्त ज्ञान में वृद्धि होती है, कोई अन्तर नहीं आता। फलत: प्रस्तुत हिन्दी संस्करण के अनुवाद में भी कुऽऴ् के भाव को यथासाध्य पकड़ने की कोशिश की गयी है।

अनुवाद का काम सरल न था। आरम्भ में लखनऊ में ही श्री वी. नटराजन और उनकी धर्मपत्नी सुश्री गोमती अय्यर ने लिप्यन्तरण और अनुवाद बड़े उत्साह से शुरू किया। कुछ समय बाद, लखनऊ से उनकी बदली हो जाने के कारण, उस कार्य-सञ्चालन में उनको असुविधा होने लगी। उस समय भुवन वाणी ट्रस्ट की विद्वत्परिषद् के वरिष्ठ सदस्य डॉ० गजानन नरसिंह साठे ने रिज़र्वबैंक आफ़ इण्डिया के हिन्दी अधिकारी डॉ० जयरामन से ट्रस्ट का सम्बन्ध स्थापित करवाया। डॉ० जयरामन जितने ही उद्भट विद्वान् हैं, उतने ही व्यस्त। उनकी अतिव्यस्तता के कारण काम की गति धीमी रही। हम उपर्युक्त प्रशंसित विद्वानत्रय के अनुग्रहीत हैं। अन्त में डॉ० साठे के ही प्रबन्ध से श्रीमती राजम् पिल्लै ने इस जटिल कार्य को सम्हाला। उन्होंने बड़ी तन्मयता से लिप्यन्तरण और अनुवाद का कार्य किया, और उनके हाथों यह ग्रन्थरत्न सम्पूर्ण होकर आज राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। यह श्रेय श्रीमती राजम् पिल्लै को है।

श्रीमती राजम् पिल्लै

यह चर्चा भी समुचित है कि भुवन वाणी ट्रस्ट के न्यासी उपसचिव श्री विनयकुमार अवस्थी ने इस बीच तमिऴ लिपि को सीखा, और नागरी लिप्यन्तरण में उनका बड़ा सहयोग रहा। ट्रस्ट के इन्हीं भाषाई कार्यों में संलग्न रहने के फलस्वरूप तमिऴ, मलयाऴम, बंगला, असमिया, अरबी, फ़ारसी, उर्दू में भली प्रकार, और ओडिया में भी सामान्य-सा दखल—इन लिप्यन्तरणों में उन्होंने क्षमता प्राप्त कर ली है।

पद्यानुवाद

तिरुक्कुऽऴ नीति का ग्रन्थ है। नीति के वाक्यों को गद्य में पढ़ लेने मात्र से, समय पड़ने पर न वे मस्तिष्क में जागते हैं, न उनसे लाभ

होता है। अतः गद्यानुवाद के साथ-साथ पद्यानुवाद देना मैंने ज़रूरी समझा। उस कार्य को मैंने स्वयं हाथ में लिया। प्रत्येक कुऱळ् के मूल पाठ के नीचे पद्य अनुवाद दिया गया है। उसको सहज ही कण्ठाग्र किया जा सकता है। पद्यानुवाद का आधार हिन्दी गद्यानुवाद और अंग्रेज़ी के कई प्रामाणिक अनुवाद हैं। भावव्यञ्जना में कहीं-कहीं कुछ भिन्नता दिखाई दे सकती है। सूत्र-स्वरूप भावों को स्पष्ट करने में यह अनिवार्य है। पाठक स्वयं निर्णय करें कि पद्यानुवाद कहाँ तक सफल, और कण्ठाग्र करने में सरल रहा है।

विमोचन

श्री उमाशंकर जी दीक्षित, महामहिम राज्यपाल, कर्नाटक प्रदेश की, इन पंक्तियों के लेखक पर एक बड़े समय से कृपा रही है। ट्रस्ट के कार्यक्रम को भी उनसे सराहना प्राप्त है। एक साथ हमारे तीन प्रकाशनों—१.(मराठी) श्रीराम-विजय, २.(तमिळ) तिरुवल्लुवर कृत तिरुक्कुऱळ् और ३.(नेपाली) श्रीभानुभक्त रामायण— का विमोचन अपने पुष्कल कर-कमलों से उन्होंने स्वीकृत किया। वे हमारे अनन्य सहायक हैं, अनन्य अनुग्रहकर्ता हैं।

आभार-प्रदर्शन

ट्रस्ट को, कई उदार सदाशयों, विद्वानों, एवं उत्तरप्रदेश शासन से प्राप्त सहायता से बड़ा सहारा मिलता रहा है। अन्य ग्रन्थों के साथ, तमिळ 'तिरुक्कुऱळ्' भी अपनी सहज गति से प्रकाशित हो रहा था। सौभाग्य से केन्द्रीय उपशिक्षामंत्री माननीय श्री डी० पी० यादव, भारत सरकार के राष्ट्रभाषा सलाहकार बहुभाषामर्मज्ञ श्री रमाप्रसन्न नायक और शिक्षा एवं समाजकल्याण मंत्रालय के शिक्षानिदेशक एवं उपसचिव श्री सनत्कुमार चतुर्वेदी जी की अनुकम्पा हुई। उसके परिणाम-स्वरूप ग्रन्थ परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। हम उनके अतिशय अनुग्रहीत हैं। हम विश्वास के साथ निवेदन करते हैं कि भुवन वाणी ट्रस्ट की भाषाई सेतुकरण की विशाल और अद्वितीय योजना उत्तरोत्तर फलवती होकर शासन और जनता को संतुष्ट करती रहेगी।

श्री रायबहादुर मोतीलाल बिसेसरलाल हलवासिया ट्रस्ट, कलकत्ता के भी हम अत्यन्त आभारी हैं। उन्होंने पाँच हज़ार रुपये की राशि से ट्रस्ट की सहायता की। उसका उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया। प्रशंसित ट्रस्ट एवं न्यासीगण के प्रति हम अतिशय कृतज्ञ हैं।

नन्दकुमार अवस्थी

मुख्यन्यासी सभापति,
भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ-३

[ॐ]

सन्त तिरुवळ्ळुवर द्वारा प्रणीत

तिरुक्कुरळ्

देवनागरी-लिप्यन्तरण एवं हिन्दी गद्य-पद्यानुवाद—

प्रस्तावना

केवल हिन्दी ही नहीं, अपितु भारत की समस्त क्षेत्रीय भाषाओं के पाठकों के लिए आज अनुपम सुअवसर है कि तमिळ् भाषा के समृद्ध प्राचीन वाङ्मय के अनमोल रत्न "तिरुक्कुऱळ्" का सानुवाद देवनागरी लिप्यन्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता के सदृश आदृत और रामचरितमानस के सदृश, तमिळ् प्रदेश में घर-घर नित्य पढ़े जाने वाले, इस नीतिग्रंथ के अंग्रेज़ी तथा विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में अनेक अनुवाद हो चुके हैं। कैसा आश्चर्य है कि तमिळ् के अतिरिक्त, भारत के अन्य भाषा-भाषी क्षेत्र अब तक इसके पठन-पाठन से वञ्चित रहे! आशा है प्रस्तुत प्रयास से इस अवाञ्छनीय अभाव की पूर्ति होगी। सुदूर-सीमित तमिळ् भाषा, देवनागरी लिपि के माध्यम से, भारत के कोने-कोने में सुपरिचित होकर प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार प्रदान करेगी।

ग्रंथ 'तिरुक्कुऱळ्' का विशद परिचय एवं विवेचन तो ग्रंथ के सम्पूर्ण प्रकाशन के उपरांत ही दिया जायगा, किन्तु पाठकों को सामान्यतया परिचित कराने के लिए सुयोग्य अनुवादक एवं लिप्यन्तरणकार की ही लेखनी से निस्सरित कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :—

"वेद, धर्मशास्त्रादि में वर्णित एवं प्रतिपादित धर्म के विविध तत्त्वों का सम्यक् विवेचन हमें सन्तशिरोमणि तिरुवळ्ळुवर के अमर नीति-ग्रंथ तिरुक्कुऱळ् में मिलता है। तमिळ् साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में से यह प्रमुख है। इसकी विशेषताओं के आधार पर ही इसे 'तमिळ् मऱै' या 'तमिळ्-वेद' कहते हैं। इसकी रचना लगभग २००० वर्ष पूर्व हुई।

"प्रस्तुत ग्रंथ में धर्म, अर्थ, काम—इन तीनों शीर्षकों पर आधारित तीन खण्ड हैं। धर्म-काण्ड में ३८, अर्थ-काण्ड में ७० तथा काम-काण्ड में २५ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में—दस कुऱळ्-पद्यों में एक-एक तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार १३३० कुऱळ् में धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत विषयों की व्यापक व्याख्या की गई है। छोटे से कुऱळ् छंद में सारगर्भित तत्त्वों के समावेश के विषय में यह कथन प्रसिद्ध है कि 'तिरुवळ्ळुवर ने राई को छेदकर उसमें सप्त सागरों को भर दिया है।'

"इस ग्रंथ के प्रत्येक छंद में जीवन का चिरन्तन सत्य समाहित है। जीवन के समस्त कल्याणकारी तत्त्वों का विश्लेषण कर प्राणिमात्र के जीवन-पथ को प्रशस्त बनाने के हेतु मार्ग-निर्देश किया है। निष्काम कर्मयोग पर विशेष बल देने वाले इस ग्रंथ के प्रत्येक कुऱळ् को वेदों की ऋचा के समान स्वीकार कर इसे तमिळमरै (तमिऴ्-वेद) सत्य ही कहा गया है।

"तिरुवळ्ळुवर के जन्म, कुल एवं धर्मादि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन सभी धर्मों के अनुयायियों ने तिरुवळ्ळुवर को अपने धर्म का अनुयायी सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु वस्तुतः वे किसी संप्रदाय-विशेष की संपत्ति न थे। अपनी रचना में उन्होंने मानव-मात्र को ही अपना लक्ष्य माना है। इसीलिए उनका अन्यतम ग्रंथ भी सार्वजनीन एवं सर्वकालीन है।

"इस अलौकिक नीति-ग्रन्थ के तत्त्वों से हिन्दी-भाषा-भाषी भी अवगत होकर भारतीय भावात्मक एवं सांस्कृतिक एकीकरण को पूर्णरूपेण सिद्ध कर सकें—इस उद्देश्य से, सम्पादक—वाणी सरोवर (श्री नन्दकुमार अवस्थी) के सुझाव पर, मैं हिन्दी अनुवाद के साथ ही साथ ग्रंथ के मूल तमिऴ् रूप के देवनागारी लिप्यन्तरण में प्रवृत्त हुई।"

अनुवादक के इन उद्‌गारों को व्यक्त करने के उपरांत भगवान् से प्रार्थना है कि वह इस सद्-ग्रंथ के प्रकाशन के उद्देश्य को सफलता प्रदान करे।

जय तमिऴ्नाड ! जय भारत !!

—प्रकाशक

तिरुक्कुरळ्

धर्मकाण्डम्

अदिकारम् (अध्याय) १

कडवुळ्-वाऴ्त्तु (ईश-वन्दना)

अकर मुदल ऍऴुत्तॅल्लाम् आदि
भगवन् मुदट्रे उलगु ॥ १ ॥

'अ' अक्षर है सकल अक्षरों का जिस भाँति मूल आधार;
सकल विश्व का उसी भाँति 'भगवान्' आदि है जगदाधार ॥ १ ॥§

समस्त अक्षरों का आदि स्रोत अक्षर 'अ' है उसी प्रकार विश्व का आदि स्रोत भगवान् है ॥ १ ॥

कट्रदनाल् आय पयनॅन्कॉल् वालऱिवन्
नट्राळ् तॉऴा अर् ऍनिन् ॥ २ ॥

सुफल कहाँ पाण्डित्य वहाँ, जिनमें उपजा न भक्ति-सञ्चार;
ज्ञानागार-दिव्य चरणों में नहीं किया पूजा-सत्कार ? ॥ २ ॥

उन लोगों के अध्ययन का क्या लाभ, जिन्होंने ज्ञानागार [भगवान्] के दिव्य चरणों की आराधना नहीं की ॥ २ ॥

मलर्मिसै एगिनान् माणडि सेर्न्दार्
निलमिसै नीडुवाऴ् वार् ॥ ३ ॥

कुसुमित-मनमन्दिर में जिनके, जगमग कृपा-चरण-भगवन्त,
शाश्वत जीवन के अधिकारी उनको ही सुख-शांति अनन्त ॥ ३ ॥

---

§ सन्त तिरुवळ्ळुवर का यह नीति-काव्य हिन्दी भाषा में भी कण्ठाग्र करने योग्य उपलब्ध हो, इस दृष्टि से प्रत्येक कुऱळ् का, विविध अनुवादों के आधार पर हिन्दी पद्यानुवाद श्री नन्दकुमार अवस्थी द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जो भगवान् के चरण-कमलों को अपने हृदय-कमल में स्थापित करते हैं, वे भूतल पर आनंद भोगते हुए [अन्ततः] शाश्वत जीवन प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

वेण्डुदल् वेण्डामै इलान् अडि सेरन्दार्क्कु
याण्डुम् इडुम्बै इल ॥ ४ ॥

सदा भरोसा प्रभु का रखते, जिनके मन में राग न द्वेष,
भव-बाधा से दूर, व्यापता पाप-दुःख का उन्हें न लेश ॥ ४ ॥

रागद्वेष - रहित होकर भगवान् के चरणों के आश्रित रहने वाले जनों को सांसारिक वाधा [अर्थात् जन्म-मरण] का रोग नहीं लगता ॥ ४ ॥

इरुळ्सेर् इरुविनैयुम् सेरा इरैवन्
पॉरुळ्सेर् पुगळ्पुरिन्दार् माट्टु ॥ ५ ॥

एक मात्र भगवान्-भजन में रहते भक्त सर्वदा लीन;
पाप-पुण्य के युगल कर्मबन्धन-तापों से सदा विहीन ॥ ५ ॥

जो व्यक्ति सदैव भगवान् के भजन में लीन रहते हैं उन्हें अज्ञान पर आश्रित दोनों प्रकार के कर्म-बन्धन* लिप्त नहीं करते ॥ ५ ॥

पॉरिवायिल् ऐन्दवित्तान् पॉय्दीर् ऑळुक्क
नॅरिनिन्रार् नीडुवाळ् वार् ॥ ६ ॥

पंच इन्द्रियों पर संयम हो चुके भस्म वासना-विकार,
प्रभु में पगे इन्हीं सन्तों का चिदानन्द पर है अधिकार ॥ ६ ॥

जो पाँचों इन्द्रियों का संयम करके भगवान् के धर्म-मार्ग का अनुगमन करते हैं वे चिदानन्द प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

तनक्कुवमै इल्लादान् ताळ्सेरन्दार्क् कल्लाल्
मनक्कवलै माट्रल् अरिदु ॥ ७ ॥

जिनको अनुपम ईश-चरण के आश्रय की है मिली न शक्ति,
त्रिविध ताप की दुसह वेदना से निश्चय है उन्हें न मुक्ति ॥ ७ ॥

---

* दो प्रकार के कर्म—पाप-पुण्य ।

जो व्यक्ति, अनन्य भगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं उनके अतिरिक्त, यह निश्चय है कि [अन्य को] दुःख और मानसिक अशान्ति से मुक्त होना संभव नहीं ॥ ७ ॥

अऱवाऴि अन्दणन् ताळ्सेर्न्दार्क् कल्लाल्
पिऱआऴि नीन्दल् अरिदु ॥ ८ ॥

गुणागार प्रभु धर्मसिन्धु के पदपंकज के बिना पखार,
छोर न पाओ जन्म-मरण का, अहह ! अगम यह पारावार[1] ॥ ८ ॥

धर्म-सिन्धु गुणनिधान भगवान् के शरणागत के अतिरिक्त और कोई इस दुःख-रूपी भवसागर को पार नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

कोळिल् पॉऱियिल् गुणम् इलवे ऍण्गुणत्तान्
ताळै वणङ्गात् तलै ॥ ९ ॥

अष्टलक्षणी§ ब्रह्मपाद में जिसका सविनय झुका न शीश,
शीश नहीं, निष्क्रिय है, जड़ है, नाम-रूप का केवल शीश ॥ ९ ॥

अष्टलक्षणी§ भगवान् के चरणों को जिस 'सिर' ने अभिवादन नहीं किया वह निष्क्रिय इन्द्रियों [अथवा निर्जीव पुतलियों] के समान केवल नाम मात्र का 'सिर' है ॥ ९ ॥

पिऱविप् पॅरुङ्कडल् नीन्दुवर् ; नीन्दार्
इऱैवन् अडिसेरा दार् ॥ १० ॥

'प्रभु-पद-प्राप्त' पार होते हैं जन्म-मरण का पारावार[1];
विना प्रभु-चरण भवसागर से कभी न संभव है निस्तार ॥ १० ॥

विशाल भवसागर* को वे (ही) लोग पार कर पाते हैं जो भगवान् के शरणापन्न हो जाते हैं। ईश्वर की शरण के बिना, लोग इसे पार नहीं कर पाते ॥ १० ॥

---

§ अष्टलक्षण—स्वतंत्रत्त्व, विशुद्धदेहत्व, अनादि बोध, सर्वज्ञत्त्व, निरामयत्त्व, अलुप्तशक्ति, अनंतशक्ति, तृप्ति। अथवा स्वयमाधार, निर्मल, विवेकमय, ज्ञानमय, निस्पृह, अनन्त करुणामय, सर्वशक्तिमान, चिदानन्द।

* टीकाकारों ने 'जन्म-मरण (आवागमन) का सिन्धु', भी लिखा है।

१ समुद्र।

अदिकारम् (अध्याय) २

वान् सिऱप्पु (वर्षा-महत्व)

वाऩिऩ् ऱुलगम् वऴङ्गि वरुदलाल्
ताऩ् अमिऴ्तम् एँऩ्ऱुणरऱ् पाट्ऱु ॥ १ ॥

समयोचित वर्षा के बल पर जीवन पाता है संसार;
इसीलिए आकाश-सलिल को कहता लोक 'अमृत की धार' ॥ १ ॥

संसार [उचित समय की] वर्षा से जीवित है, इसीलिए आकाश-वृष्टि को अमृत की धार कहा जाता है ॥ १ ॥

तुप्पार्क्कुत् तुप्पाय तुप्पाक्कित् तुप्पार्क्कुत्
तुप्पाय तूउम् मऴै ॥ २ ॥

अन्नादिक आहार सकल की वर्षा ही है सिरजनहार;
अन्न सिरज कर स्वयं अन्न बन जाती है पावस की धार ॥ २ ॥

आहार के लिए वर्षा ही खाद्य [पदार्थ] देती है; वर्षा, स्वयं ही [अन्नादिक] आहार बन जाती है ॥ २ ॥

विण्णिऩ्ऱु पॉय्प्पिऩ् विरि नीर् वियऩुलगत्
तुण्णिऩ् ऱुडट्ऱुम् पसि ॥ ३ ॥

अवसर पर जो जलद विमुख हों, बन्द करें देना जलदान,
क्षुधा-प्रपीड़ित सिन्धु-घिरा यह धरालोक बन जाय मसान ॥ ३ ॥

यदि समुद्र के द्वारा घिरी हुई धरती पर वर्षा [समय से] न हो तो [अकाल-ग्रस्त] संसार क्षुधा से प्रपीड़ित हो उठे ॥ ३ ॥

एरिऩ् उऴाअर् उऴवर् पुयल्एँऩ्ऩुम्
वारि वळङ्कुऩ्ऱिक् काल् ॥ ४ ॥

वारिद वारि न बरसायें, हो वसुन्धरा पर वारि-अभाव,
खेतों में हल चलें न कृषकों में उपजे खेती का भाव ॥ ४ ॥

यदि बादलों से [समयोचित] वर्षा की उपलब्धि न होती तो कृषक जन खेत में हल नहीं चला सकते ॥ ४ ॥

कॅडुप्पदूउम्   कॅट्टार्क्कुच्   चार्वाय्मट्ऱाङ्गे
ऍडुप्पदूउम्   ऍल्लाम्   मळै   ॥ ५ ॥

प्रलयंकर पावस-प्रकोप ही से होता जब-तब संहार;
सुख-समृद्धि का मानव में वर्षा हो फिर करती संचार ॥ ५ ॥

वर्षा ही [अति प्रचण्ड होकर] सब को नष्ट कर देती है, और फिर दुखियों का अवलम्ब बनकर वही उन्हें सम्पन्न भी करती है ॥ ५ ॥

विसुम्बिऩ्   तुळिवीऴिऩ्   अल्लाल्मट्ऱाङ्गे
पसुम्पुल्   तलैकाण्   परिदु   ॥ ६ ॥

नभमण्डल से मेघ न करते भूतल पर जो पावन वृष्टि,
शस्य-श्यामली हरियाली की सृष्टि न छिति पर आती दृष्टि ॥ ६ ॥

मेघों से जलबुन्द गिरे बिना पृथ्वी पर हरे-भरे तृणों की नोक भी अंकुरित नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

नॅडुङ्कडलुम्   तऩ्ऩीर्मैं   कुऩ्ऱुम्   तडिन्तॅळिलि
ताऩल्का   तागि   विडिऩ्   ॥ ७ ॥

जलदों[1] का जलदान जलधि[2] को करता रहे न जो परिपूर्ण,
रत्नाकर[2] विपन्न की निधियाँ हों क्रमशः विनष्ट संपूर्ण ॥ ७ ॥

यदि बादल सागर [से प्राप्त हुए जल] को [सागर को पुनः] दान न करें तो विशाल सागर की [रत्न, जलचर आदि] सम्पत्ति नष्ट हो जाय ॥ ७ ॥

सिऱप्पॉडु   पूसऩै   चॅल्लादु   वाऩम्
वऱक्कुमेल्   वाऩोर्क्कुम्   ईण्डु   ॥ ८ ॥

अहा ! गगन-घन नीर न देते, धरती पर मिटता उल्लास;
देवार्चन हविष्य पाने की देवों की मिट जाती आस ॥ ८ ॥

यदि आकाश से वृष्टि न हो तो पृथ्वी पर दैनिक या विशेष देवार्चना लुप्त हो जाय ॥ ८ ॥

दाऩम्   तवम्   इरण्डुम्   तङ्गा   वियऩुलगम्
वाऩम्   वळङ्गा   तॅऩिऩ्   ॥ ९ ॥

---

१ मेघ   २ समुद्र ।

मेघविहीन गगनमण्डल हो, भूतल अनावृष्टि से व्याप्त;
दान और तप सकल कर्म शुभ, यह जग से हो जायँ समाप्त ॥ ९ ॥

यदि इस विशाल भूतल पर वर्षा न हो तो दान-पुण्य-तप§ [आदि शुभ] कर्म समाप्त हो जायँ ॥ ९ ॥

नीरिन्‍ ऱमैया तुलकॅनिन्‍ यार्‍याक्कुम्
वानिन्‍ ऱमैया ताॅऴुक्कु ॥ १० ॥

जल जीवन है जल पर निर्भर सारे जग का है व्यापार;
उसी भाँति वर्षा पर निर्भर सदाचरण सब धर्माचार ॥ १० ॥

जिस प्रकार बिना जल के संसार का जीवन नहीं चलता उसी प्रकार बिना वर्षा के कोई भी सदाचार संभव नहीं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३

नीत्तार् पॅरुमै (संन्यासी-महिमा)

ऑऴुक्कत्तु नीत्तार् पॅरुमै विऴुप्पत्तु
वेण्डुम् पनुवल् तुणिवु ॥ १ ॥

जग से लिया विराग धन्य हैं त्यागी संन्यासी विद्वान्;
धर्मशास्त्र सब ही करते हैं संन्यासी का विरद बखान ॥ १ ॥

[आचारशील] संन्यासी, जो [संसार से] असंलग्न हो चुके हैं, सभी धर्मशास्त्र उनकी श्रेष्ठ महिमा का बखान करते हैं ॥ १ ॥

तुऱन्दार् पॅरुमै तुणैक्कूऱिन् वैयत्तु
इऱन्दारै ऍण्णिक्कॉण् डट्रु ॥ २ ॥

मरे हुओं की गिनती का इस जग में कितना कठिन शुमार !
किन्तु कठिनतर संन्यासी-महिमा का अंकन अतिव अपार ॥ २ ॥

संन्यासी के महत्व का अंकन वैसा ही [असंभव] है जैसा इस संसार में मृतकों की गणना करना ॥ २ ॥

इरुमै वगैतॅरिन् तीण्डऱम् पूण्डार्
पॅरुमै पिऱङ्गिट्रु उलगु ॥ ३ ॥

---

§ दान और तप से न केवल मानव वरन् जीवमात्र की तुष्टि होती है।

बन्धन[1] - मोक्ष-मर्म के ज्ञाता, जग से ग्रहण किया संन्यास,
उनकी महिमा का जगमग जगती पर रहता अमर प्रकाश ॥ ३ ॥

जन्म और मोक्ष के ज्ञान से युक्त जिन महान् आत्माओं ने संसार से संन्यास ग्रहण किया है, उनकी महिमा विश्व में चिरंतन प्रकाशित होती है ॥ ३ ॥

उरत्तॅन्नुम् तोट्टियान् ओरैन्दुम् काप्पान्
वरत्तॅन्नुम् वैप्पिर्कोर् वित्तु ॥ ४ ॥

ज्ञानशक्ति के अंकुश से इंद्रियाँ पञ्च जिसके आधीन,
दिव्यलोक की ज्योति-उर्वरक बीज स्वयं वह ज्ञान-प्रवीन ॥ ४ ॥

जो सुदृढ़ ज्ञानरूपी अंकुश से पाँच विषयेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है वह ज्ञानी स्वयं, दिव्यलोक का बीज बनता है ॥ ४ ॥

ऐन्दवित्तान् आट्रल् अगल्विसुम्बु ळार्कोमान्
इन्दिरने सालुङ्करि ॥ ५ ॥

पंच इन्द्रियों पर संयम है, उस तपसी की शक्ति अनन्त;
स्वयं साक्षी सुरपति हैं [देखो गौतम-शापित[2] का अन्त] ॥ ५ ॥

इन्द्रियजयी की अगाध शक्ति होती है; स्वर्गलोक के अधिपति इन्द्र स्वयं इसके साक्षी हैं[2] ॥ ५ ॥

सॅयर्करिय सॅय्वार् पॅरियर्; सिऱियर्
सॅयर्करिय सॅय्गला दार् ॥ ६ ॥

कर्मठ और कठिन तप करनेवाले ही हैं व्यक्ति महान्;
साधारण असमर्थ जनों का निम्नकोटि में है अनुमान ॥ ६ ॥

दुष्कर और विरल कार्य महान् लोग ही करते हैं; उन महान् कार्यों को न कर सकने वाले निम्न कोटि के लोग हैं ॥ ६ ॥

सुवैऑळि ऊऱोसै नाट्रम्ऍन् ऱैन्दिन्
वगैतॅरिवान् कट्टे उलगु ॥ ७ ॥

---

१ आवागमन २ संयमी तपस्वी गौतम के शाप-वश सुरराज इन्द्र की दुर्दशा की ओर संकेत करते हुए संन्यासी की अपार शक्ति का परिचय दिया है।

शब्द रूप रस गंध और स्पर्श पंच इन्द्रियज-विकार,
इन्हें समझने वाले ही के वशीभूत है यह संसार ॥ ७ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—इन पंच-इन्द्रियविषयों को जानने वाले ही के वश में संसार है ॥ ७ ॥

निऱैमॉऴि मान्दर् पॅरुमै निलत्तु
मऱैमॉऴि काट्टि विडुम् ॥ ८ ॥

वचन-अमोघ[1] बोलने वाले ऋषियों की महिमा है सिद्ध;
उनसे मुखरित गूढ़ मंत्र ही होते हैं संसार-प्रसिद्ध ॥ ८ ॥

अमोघ वचन बोलने वाले तपस्वियों द्वारा कथित गूढ़ मंत्रों ही से संसार में उनकी महिमा सिद्ध है ॥ ८ ॥

गुणमॅन्नुङ् कुन्ऱेऱि निन्ऱार् वॅगुळि
कणमेयुङ् कात्तल् अरिदु ॥ ९ ॥

धर्म-रूप अविचल पर्वत पर दृढ़ासीन जो महिमावान्,
उसके क्षणिक क्रोध को झेले, ऐसा दुर्लभ है इंसान ॥ ९ ॥

जो धर्म रूपी पर्वत पर आरूढ़ होते हैं, उनका क्षण भर का क्रोध भी सहन करना कठिन है ॥ ९ ॥

अन्दणर् ऍन्बोर् अऱवोर् मट्ऱॅव्वुयिर्क्कुम्
सॅन्दणमै पूण्डॉऴुकलान् ॥ १० ॥

प्राणि मात्र के प्रति करुणामय सब पर दया-क्षमा के रूप;
इसीलिए मानवजन में हैं सिद्ध संयमी सन्त अनूप ॥ १० ॥

प्राणिमात्र के साथ प्रेम और करुणा का सद्व्यवहार करते हैं, इसी लिए वे साधु धर्म और सत्य के रूप कहलाते हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ४

अऱन् वलियुऱुत्तल् (धर्म पर आग्रह)

सिऱप्पीनुम् सॅल्वमुम् ईनुम् अऱत्तिनूङ्गु
आक्कम् ऍवनो उयिर्क्कु ? ॥ १ ॥

---

1 कभी निष्फल न जाने वाले ।

धर्म मुक्तिदायी, समृद्धि-धन-वैभव का दाता है धर्म;
तज कर ऐसा धर्मतत्व, है भला कौन जग में सत्कर्म ? ॥ १ ॥

धर्म मोक्ष का दाता है तथा धर्म, अर्थ (धन) भी देता है। इससे अधिक श्रेयस्कर तत्त्व और कौन वस्तु है ? [अर्थात् धर्म सर्वोपरि श्रेय है§] ॥ १ ॥

अऱत्तिऩूउङ् काक्कमुम् इल्लै अदऩै
मऱत्तलि ऩूङ्गिल्लै केडु ॥ २ ॥

साधन श्रेष्ठ धर्म ही है, मानव का इससे ही कल्यान;
अकल्यान सर्वथा विपथ जो हुआ धर्मपथ से इंसान ॥ २ ॥

धर्म से बढ़कर प्राणी के लिए अन्य कुछ भी श्रेय नहीं है; और यदि जीव धर्म को भूल गया तो इस धर्म-विस्मरण से बढ़कर अन्य अकल्याण नहीं है ॥ २ ॥

ऑल्लुम् वगैयाऩ् अऱविऩै ओवादे
सॅल्लुम्वाय् ऍल्लाम् सॅयल् ॥ ३ ॥

इसीलिए सर्वदा शक्ति भर समुचित हमको सर्व प्रकार,
तन से, मन से और वचन से, है करणीय धर्म - आचार ॥ ३ ॥

पूरी सामर्थ्य से धर्मयुक्त ही कर्म करना चाहिए; तन से, मन से, वचन से—सब प्रकार से, सर्व स्थिति में धर्म-मार्ग पर चलना चाहिए ॥ ३ ॥

मऩत्तुक्कण् मासिलऩ् आदल् अऩैत्तऱऩ्
आगुल नीर पिऱ ॥ ४ ॥

हृदय कालिमा-हीन; वही मानव है अहा ! धर्म का रूप;
इसके विना आचरण सारे हैं आडम्बर मात्र विरूप ॥ ४ ॥

निष्कलुष (पवित्र-) हृदय होना ही धर्म का स्वरूप है। [इसके विना] शेष कर्म तो केवल आडम्बर मात्र हैं [अर्थात् व्यर्थ हैं] ॥ ४ ॥

अऴुक्का ऱवावॅगुळि इऩ्ऩाच्चॉल् नाऩ्गुम्
इऴुक्का इयऩ्ऱ तऱम् ॥ ५ ॥

मत्सर,[१] लोभ, क्रोध, कटुवानी—ये चारों वासना-विकार;
इनसे रहित मानवी जीवन मानो हुआ धर्म साकार ॥ ५ ॥

---

§ धर्म से इहलोक और परलोक दोनों सफल होते हैं। १ ईर्ष्या।

ईर्ष्या, लोभ, क्रोध एवं कटु वचन—इन चारों वासनाओं से रहित जीवन ही धर्म है [इन चारों कुविकारों का त्याग ही धर्म का तत्त्व है] ॥ ५ ॥

अऱ्ऱिवाम् ऍऩ्ऩा तऱ्ऱ् सॅय्ग ; मट्ऱ्दु
पॉऩ् रुङ्गाऱ् पॉऩ्ऱात् तुणै ॥ ६ ॥

आज करो, अब करो, न यावज्जीवन तजो धर्म-सत्संग;
मृत्यु समीप न सहचर कोई केवल धर्म मात्र चिरसंग ॥ ६ ॥

धर्म अभी करो [तथा अंत समय तक धर्म के कार्यों से वंचित न रहो], उन्हें आगे करने के लिए न रख छोड़ो; क्योंकि मृत्यु-काल में [तथा मृत्यु-उपरांत] धर्म ही चिरसंगी रहता है ॥ ६ ॥

अऱत्ता ऱिदुवॅऩ्ऩ वेण्डा सिविकै
पॉऱुत्ताऩो टूऱ्न्दाऩ् इडै ॥ ७ ॥

सत्कर्मों के पुरस्कार की, उभय लोक में देखो शान;
पुण्य-पालकी पर मानो मंजिल तय करता हो श्रीमान् ॥ ७ ॥

धर्म-कर्म के प्रतिफल [अर्थात् पारितोषिक] में और क्या, चाहिए ? शिविका (पालकी) में आरूढ़ की स्थिति के समान स्थिति धर्मात्मा की है ॥ ७ ॥

वीऴ्नाऴ् पडाअमै नऩ्ऱाट्ऱिऩ् अक्दॉरुवऩ्
वाऴ्नाऴ् वऴियडैक्कुम् कल् ॥ ८ ॥

दिवस न जाये व्यर्थ, निरन्तर चलो धर्म का मार्ग विशुद्ध;
पुनर्जन्म-पीड़ापथ को कर देगी धर्मशिला, अवरुद्ध ॥ ८ ॥

प्रति दिन निरंतर धर्माचरण करते रहने पर वह धर्म-रूपी शिला पुनर्जन्म का मार्ग रोक देगी [अर्थात् धर्म द्वारा ही आवागामन से रहित होकर मोक्ष-लाभ हो सकता है] ॥ ८ ॥

अऱत्ताऩ् वरुवदे इऩ्बम्मट् ऱॅल्लाम्
पुऱत्त ; पुगऴुम् इल ॥ ९ ॥

धर्म-कर्म ही से हासिल है मानव को सच्चा आनन्द;
अन्य कर्म हैं व्यर्थ कि जिनसे द्वार कीर्ति का, सुख का बंद ॥ ९ ॥

धर्म-कर्म से ही वास्तवकि सुख की प्राप्ति होती है। अन्य कर्मों का फल अनुताप और अपयश ही है ॥ ९ ॥

सॅयऱ्पाल दोरुम् अऱत्ते ; ऑरुवऱ्
कुयऱ्पाल दोरुम् पळि ॥ १० ॥

धर्म-कर्म करणीय कर्म हैं, चलना सदा धर्म की रीत;
अकरणीय हैं, वर्जनीय हैं सारे काम धर्म-विपरीत ॥ १० ॥

धर्म-कार्य ही मनुष्य के लिए करणीय कर्म हैं। [धर्म-विपरीत] अकरणीय कर्म सदैव वर्जनीय हैं [त्याज्य हैं।] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ५

इल्वाळ्क्कै (गार्हस्थ्य-धर्म)

इल्वाळ्वान् ऍन्बान् इयल्बुडैय मूवर्क्कुम्
नल्लाट्रिन् निन्ऱ तुणै ॥ १ ॥

चार आश्रमों में गृहस्थ का—है जीवन आदर्श विशाल;
शेष तीन आश्रमी सदा जिससे पाते रहते प्रतिपाल ॥ १ ॥

वही गृहस्थाश्रमी व्यक्ति आदर्श है जो [गृहस्थाश्रमी के अतिरिक्त] अन्य तीन आश्रमस्थित* लोगों का आश्रयदाता होता है ॥ १ ॥

तुऱन्दार्क्कुम् तुव्वा दवर्क्कुम् इऱन्दार्क्कुम्
इल्वाळ्वान् ऍन्बान् तुणै ॥ २ ॥

दीन, अनाथ, आश्रयहीनों का पोषक जो मित्र महान्
धन्य ! गृहस्थ-आश्रम सर्वोपरि गृहस्थ है गरिमावान् ॥ २ ॥

गृहस्थ, दीन-अनाथ-आश्रयहीनों का सहायक होता है ॥ २ ॥

तॅन्बुलत्तार् दॅय्वम् विरुन्दॉक्कल् तानॅन्ऱाङ्
कैम्बुलत्ता ऱोम्बल् तलै ॥ ३ ॥

बन्धु-बान्धव, पितृ, देव, बलिवैश्व, स्वयं, ऋषि, अतिथि-सुकर्म—
आजीवन गृहस्थ-जीवन का पञ्चयज्ञ§ है पावन धर्म ॥ ३ ॥

---

* गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—यह तीन आश्रम।

§ गृहस्थ के लिए दैनिक कर्त्तव्य—पंच महायज्ञ (ब्रह्म, पितृ, देव, बलिवैश्व और नृ अर्थात् अतिथि यज्ञ) कदाचित् यहाँ अभीष्ट हैं।

पितृ, देवता, बन्धु-बान्धव, अतिथि एवं स्वयं—इन पाँचों के प्रति कर्त्तव्य करना गृहस्थ का परमधर्म है ॥ ३ ॥

पऴि अञ्जिप् पात्तूण् उडैत्तायिऩ् वाऴ्क्कै
वऴि ऍञ्जल् ऍञ्ञाऩ्ऱुम् इल् ॥ ४ ॥

पाप-भीरु, समुचित व्यय करता धन उपार्जन के उपरांत,
वंश-बेलि ऐसे गृहस्थ की फलती है सर्वदा अनन्त ॥ ४ ॥

जो गृहस्थ पाप से सदैव बचता और उपार्जित धन का यथोचित विभाजन कर के भोग करता है उसका वंश सदैव फलता-फूलता रहता है ॥ ४ ॥

अऩ्बुम् अऱऩुम् उडैत्तायिऩ् इल्वाऴ्क्कै
पण्बुम् पयऩुम् अदु ॥ ५ ॥

धर्म-प्रेम से युक्त अहो ! जिसका गृहस्थ जीवन है, धन्य !
[लोक और परलोक] सुफल सर्वदा वही है सफल अनन्य ॥ ५ ॥

जिसका गृहस्थ-जीवन प्रेम एवं धर्ममय है वही धन्य है, तथा उसे ही सुफल प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अऱत्ताऱ्ऱिऩ् इल्वाऴ्क्कै आऱ्ऱिऩ् पुऱत्ताऱ्ऱिल्
पोऑय्प् पॅऱुव दॅवऩ् ? ॥ ६ ॥

जो गृहस्थ-आश्रम में रहते पूरा करे धर्म-आचार,
पूर्ण सफल; फिर शेष आश्रमों की उस जन को क्या दरकार ॥ ६ ॥

यदि गृहस्थ, धर्म-मार्ग पर चल कर अपना कर्त्तव्य पालन करता है तो उसको अन्य आश्रमों के धर्मों के पालन से क्या प्रयोजन ? [उसके कल्याण के लिए एक मात्र गृहस्थ-धर्म ही पर्याप्त है।] ॥ ६ ॥

इयल्बिऩाऴ् इल्वाऴ्क्कै वाऴ्बवऩ् ऍऩ्बाऩ्
मुयल्वारुळ् ऍल्लाम् तलै ॥ ७ ॥

जो गृहस्थ निज आश्रम के सब धर्म-कर्म पर है आसीन,
सकल मुमुक्ष[1] साधकों में है श्रेष्ठ; मुक्ति उसके आधीन ॥ ७ ॥

[क्योंकि] जो गृहस्थ, धर्मपथ पर चल कर गृहस्थ-जीवन व्यतीत

---

१ मोक्ष चाहने वाला ।

करता है वह अन्य मोक्षाभिलाषी साधकों में अग्रगण्य माना जाता है ॥ ७ ॥

आट्ररिन् ऑळुक्कि अऱनिळुक्का इल्वाळ्क्कै
नोऱ्पारिन् नोन्मै उडैत्तु ॥ ८ ॥

जो गृहस्थ-जीवन स्वधर्म-रत, हों प्रेरित जिससे अन्यान्य,
वह तपस्वियों में तपसी है, उस गृहस्थ का जीवन धन्य ॥ ८ ॥

वह गृहस्थ जो निज धर्म [और निज आश्रम] पर आचरण करता है उसका जीवन, कठिन तपस्वियों के जीवन से अधिक श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

अऱन् एॅऩप् पट्टदे इल्वाळ्क्कै ; अक्दुम्
पिऱन् पळिप्प दिल्लायिन् नऩ्ऱु ॥ ९ ॥

जन-निन्दा से रहित, लोकप्रिय, यदि गृहस्थ-जीवन है शुद्ध,
सर्वोपरि जीवन पुनीत वह, वही सर्वथा धर्म विशुद्ध ॥ ९ ॥

गृहस्थ-जीवन ही श्रेष्ठ धर्म है, और यदि वह जन-निन्दा से रहित होकर पवित्र है तो [अन्य आश्रमों से] श्रेष्ठतर है ॥ ९ ॥

वैयत्तुळ् वाळ्वाङ्गु वाळ्बवऩ् वाऩुऱैयुम्
दॅय्वत्तुळ् वैक्कप् पडुम् ॥ १० ॥

जो गृहस्थ, आदर्श-धर्ममय जीवन का करता निर्वाह,
देवोपम-पद-प्राप्त उसी को खुली स्वर्ग की सीधी राह ॥ १० ॥

जो गृहस्थ इस संसार में आदर्श धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करता है वह स्वर्ग में देवोपम स्थान का अधिकारी है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ६

वाळ्क्कैत्तुणै नलम् (सहधर्मिणी-गुण)

मनैत्तक्क माण्बुडैयळ् आकित्तऩ् कॉण्डाऩ्
वळत्तक्काळ् वाळ्क्कैत् तुणै ॥ १ ॥

पति की आय गृहस्थी का व्यय—जिसको तालमेल का ज्ञान,
गुणवन्ती सहचरी, यही आदर्श सुगृहिणी की पहचान ॥ १ ॥

जो सुगृहिणी के गुणों से युक्त, पति की आय के अनुसार गृह का व्यय चलाती है वही सुयोग्य गृहिणी है ।। १ ।।

मनैमाट्चि इल्लाळ्कण् इल्लायिन् वाऴ्क्कै
ऍन्नैमाट्चित् तायिनुम् इल् ।। २ ।।

यदि गृहस्थ के धर्म-कर्म के गुण से गृहिणी हुई विहीन,
कितना ही सम्पन्न घरेलू जीवन भी हो जाता दीन ।। २ ।।

यदि गृहिणी में गृहस्थ धर्म-कर्म के अनुसार गुणों का अभाव है तो संपन्न से संपन्न गृहस्थ-जीवन भी व्यर्थ हो जाता है ।। २ ।।

इल्लदॅन् इल्लवळ् माण्बानाल् , उळ्ळदॅन्
इल्लवळ् माणाक् कडै ? ।। ३ ।।

पत्नी जो धर्मिणी, कमी क्या ? ऋद्धि-सिद्धि-सर्वत्र प्रभाव;
धर्महीन गृहिणी के रहते कौन वस्तु का नहीं अभाव ।। ३ ।।

यदि गृहिणी सुधर्मिणी है तो फिर किस वस्तु का अभाव है ? [और] यदि गृहिणी सुधर्मिणी नहीं है तो फिर क्या अभाव नहीं है ? [अर्थात् अभाव ही अभाव है] ।। ३ ।।

पॅण्णिऱ् पॅरुन्दक्क यावुळ कऱ्पॅन्नुम्
तिण्मैउण् डाकप् पॅऱिन् ? ।। ४ ।।

सती-साध्वी के पातिव्रत से जगमग है जहाँ प्रकाश,
उससे बढ़कर दिव्य वस्तु संभव क्या जिसकी होय तलाश ।। ४ ।।

यदि पत्नी में अनन्य सतीत्व-धर्म विद्यमान है तो पुरुष के लिए इससे बढ़कर प्राप्त करने योग्य निधि क्या है ? ।। ४ ।।

दॅय्वम् तॉऴा अळ् कॉऴुनट् ऱॉऴुतॅऴुवाळ्
पॅय्यॅनप् पॅय्युम् मऴै ।। ५ ।।

पतिपूजन में मगन, न मन में अन्य देव का यदि सत्कार,
पतिव्रता के वचनमात्र पर बरस चले पावस की धार ।। ५ ।।

जो पतिव्रता नारी अन्य देवों की पूजा में अनुराग नहीं रखती, केवल अपने पति की ही पूजा में सर्वदा निरत रहती है, तो उस सती के आदेश मात्र से तुरन्त वर्षा हो जायगी ।। ५ ।।

तऱ्कात्तुत् तऱ्कॉण्डाऱ् पेणित् तगैसान्ऱ
सॉऱ्कात्तुच् सोर्विलाळ् पॅण् ॥ ६ ॥

निज सतीत्व की सदा सुरक्षा, पति-सेवा में ध्यान अनन्य,
मर्यादिक यशवती अहो ! दुर्लभ गृहिणी पाना है धन्य ॥ ६ ॥

स्त्री जो सतीत्व की रक्षा करती है तथा पति की सेवा करती है तथा जो अपने यश की रक्षा करती है, ऐसी पत्नी दुर्लभ है ॥ ६ ॥

सिऱैकाक्कुम् काप्पॅवऩ् सॅय्युम् ? मगळिर्
निऱैकाक्कुम् काप्पे तलै ॥ ७ ॥

भला चौकसी-पहरा से रक्षा-सतीत्व का कहाँ सवाल ?
सतवन्ती को सत् पर दृढ़ता एक मात्र है कवच विशाल ॥ ७ ॥

पहरा डाल कर स्त्री-रक्षा कैसे संभव है ? सतीत्व पर उसकी दृढ़ता ही श्रेष्ठ रक्षा [का साधन] है ॥ ७ ॥

पॅट्ऱाऱ् पॅट्ऱिपॅऱुवर् पॅण्डिर् पॅरुम् सिऱप्पुप्
पुत्तेळिर् वाळुम् उलगु ॥ ८ ॥

पति-पूजन में पगी, निरत पति-सेवा में अनन्य है ध्यान,
अधिकारिन है, वही स्वर्ग में पाती है शुभ्र कीर्ति महान् ॥ ८ ॥

यदि पति की सेवा और पूजा में ही स्त्री रत रहे, तो वही सती स्त्री स्वर्गलोक में अक्षय कीर्त्ति प्राप्त करती है ॥ ८ ॥

पुगळ्पुरिन् तिल्लिलोर्क् किल्लै इगळ्वार्मुन्
एऱुपोर् पीडु नडै ॥ ९ ॥

जो सतीत्व का मूल्य न माने, रख न सके अपनी मर्याद,
सिंह-सदृश उसका पति कैसे झेल सके निन्दा-अपवाद ॥ ९ ॥

जो स्त्री अपने सतीत्व की मर्यादा को नहीं रखती उसका पति निन्दक अन्य जनों के सम्मुख सिंह के समान नहीं खड़ा हो सकता ॥ ९ ॥

मङ्गलम् ऍऩ्ब मऩैमाट्चि मट्ऱदन्
नन्कलम् नन्मक्कट् पेऱु ॥ १० ॥

सती सहचरी पति-अनुरक्ता घर के हेतु महा वरदान;
वही अलंकृत होती है पाकर भूषण 'सुयोग्य सन्तान' ॥ १० ॥

सती और अनुचरी गृहिणी घर के लिए वरदान है। [और] सुयोग्य सन्तान-प्राप्ति उसका अलंकार है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ७

मक्कट् पेरु (सन्तान-लाभ)

पॅरुमवट्रुळ् यामऱिव तिल्लै अऱिवऱिन्द
मक्कट्पे रल्ल पिऱ ॥ १ ॥

सुख-सौभाग्य सुलभ जग में जो, जिनसे धन्य हुआ संसार,
बुद्धि-विवेकशील सन्तति का सुख उनमें है अतुल अपार ॥ १ ॥

इस पृथ्वी पर सभी सुखों में, बुद्धिमान संतान से बढ़कर पाने योग्य कोई भी सुख नहीं है ॥ १ ॥

ऍऴुपिऱप्पुम् तीयवै तीण्डा पऴिपिऱङ्गाप्
पण्बुडै मक्कट् पॅऱिन् ॥ २ ॥

शिष्ट और निर्दोष प्राप्त, जिस मानव को सुयोग्य सन्तान;
सात जन्म तक पापों से स्पर्श-रहित है वह इन्सान ॥ २ ॥

शील-सदाचार से युक्त निर्दोष सन्तान की प्राप्ति पर, सात जन्मों तक भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता ॥ २ ॥

तम्पॉरुळ् ऍन्पदम् मक्कळ् अवर्पॉरुळ्
तम्तम् विनैयान् वरुम् ॥ ३ ॥

सब समृद्धियों में सर्वोपरि—कहते हैं—सन्तान-समृद्धि।
सुत के सत्कर्मों से होती ऋद्धि-सिद्धि की है अभिवृद्धि ॥ ३ ॥

यह कहा जाता है कि अपनी सन्तान ही [इस पृथ्वी पर अपना] वैभव है; उनके सुकर्म ही अपना सौभाग्य है ॥ ३ ॥

अमिऴ्तिनुम् आट्ऱ इनिदेदम् मक्कळ्
सिऱुगै अळाविय कूऴ् ॥ ४ ॥

नन्हीं मृदुल उँगलियों से ओदन-क्रीड़ा[1] करता निज तात[2]।
अहा ! अमृत से अधिक मधुर वह साना और बिखेरा भात ॥ ४ ॥

अपनी सन्तान के नन्हें-नन्हें हाथों से साना और बिखेरा भात अमृत से भी कहीं अधिक मधुर होता है ॥ ४ ॥

मक्कळ्मॅय् तीण्डल् उडऱ्किऩ्बम् मट्ऱवर्
सॉऱ्केट्टल् इऩ्बम् सॅविक्कु ॥ ५ ॥

अपने शिशु के मृदुस्पर्श से रोमाञ्चित होता है गात।
उनकी मधुर तोतली वाणी से पुलकित होता है तात[3] ॥ ५ ॥

अपने शिशु के अंगों के स्पर्श से शरीर पुलकित होता है तथा उनकी [टूटी-फूटी तोतली] वाणी से कानों को आनंद मिलता है ॥ ५ ॥

कुऴलिऩिदु याऴिऩि तॅऩ्पदम् मक्कळ्
मऴलैच्चॉऱ् केळा दवर् ॥ ६ ॥

दरस न सुत का, सुत की मंजुल वाणी का न चखा है स्वाद,
वही बाँसुरी-बीणा की ध्वनि सुनकर पाते हैं आह्लाद ॥ ६ ॥

जिन्होंने [संतान का मुख नहीं देखा और अपने कान से] अपनी संतान की तोतली मंजुल वाणी नहीं सुनी वे ही मुरली एवं तार-वीणा की ध्वनि को मधुर कहेंगे ॥ ६ ॥

तन्दै मकऱ्काट्ऱुम् नऩ्ऱि अवैयत्तु
मुन्दि इरुप्पच् चॅयल् ॥ ७ ॥

सर्वोपरि कर्तव्य—पिता की देन पूर्ण है, यदि सन्तान,
हो गुणज्ञ विद्वत्-समाज में पावे अग्रगण्य स्थान ॥ ७ ॥

पिता का यह सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वह ऐसा कार्य करे जिससे उसका पुत्र विद्वत्समाज में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करे ॥ ७ ॥

तम्मिट्ऱम् मक्कळ् अऱिवुडैमै मानिलत्तु
मऩ्ऩुयिर्क् कॅल्लाम् इऩिदु ॥ ८ ॥

अधिक सुयोग्य जनक-जननी से, यदि गुणज्ञ उपजो सन्तान,
और अधिक ऐसी सन्तति से जग में होगा विरद-बखान ॥ ८ ॥

---

१ परोसे भात से बालक जैसे खेलता-खाता है २ पुत्र ३ पिता।

यदि संतान माता-पिता से भी योग्य है तो संसार में उसकी कीर्त्ति और प्रख्यात होगी ॥ ८ ॥

ईऩ्ऱ पॉऴुदिऱ् पॅरिदुवक्कुम् तऩ्मकऩैच्
चाऩ्ऱोऩ् एॅऩक्केट्ट ताय् ॥ ९ ॥

पुत्र-जन्म से अधिक सुखी, जननी, जब उसका पुत्र महान्,
अपने सुत की कीर्त्ति-कथा का सुनती चौतरफ़ा गुणगान ॥ ९ ॥

माता को पुत्र-जन्म से भी अधिक आनंद तब प्राप्त होता है जब वह अपने पुत्र की योग्यता की कीर्त्ति सुनती है ॥ ९ ॥

मगऩ् तन्दैक् काट्ऱुम्उदवि इवऩ्तन्दै
एॅऩ्नोट्ऱाऩ् कॉल् एॅऩ्ऩुम् सॉल् ॥ १० ॥

बुद्धिमान वह पुत्र धन्य हैं जिनका जग यों करे बखान,
'ऐसे पुत्ररत्न हैं पितु की विपुल तपस्या के वरदान' ॥ १० ॥

ऐसे बुद्धिमान पुत्र धन्य हैं जिन्हें संसार यह कहे कि ऐसे पुत्ररत्न पिता की अति तपस्या के वरदान हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ८

अऩ्बुडैमै (प्रेम-भाव)

अऩ्बिऱ्कुम् उण्डो अडैक्कुम्ताऴ् आर्वलर्
पुऩ्कणीर् पूसल् तरुम् ॥ १ ॥

भला प्रेम पर रोक लगाये, इसमें कब समर्थ संसार ?
प्रेमी के नयनों के आँसू करते प्रकट स्वयं उद्गार ॥ १ ॥

क्या प्रेम पर कोई ताला लगा सकता है ? प्रेमी के नेत्रों के अश्रु ही प्रेम की घोषणा कर देते हैं ॥ १ ॥

अऩ्बिलार् एॅल्लाम् तमक्कुरियर् अऩ्बुडैयार्
एॅऩ्बुम् उरियर् पिऱर्क्कु ॥ २ ॥

प्रेमशून्य प्राणी स्वारथ-रत ! रखता सदा स्वार्थ का ध्यान।
धन्य प्रेममय व्यक्ति ! हड्डियाँ तक करता परहित में दान ॥ २ ॥

प्रेम-शून्य व्यक्ति स्वार्थी होता है। प्रेम-मय व्यक्ति पर-हित के लिए अपनी हड्डियाँ तक त्याग देते हैं ॥ २ ॥

अऩ्बो डियैन्द वऴक्कॅऩ्ब आरुयिर्क्
कॅऩ्बो डियैन्द तॉडर्पु ॥ ३ ॥

देही-देह (आत्मा-काया), यह संयोग प्रेम का सेतु।
बने प्रेममय मानव, केवल इसमें यही सृष्टि का हेतु ॥ ३ ॥

अत्मा और शरीर का संयोग मानव को प्रेममय बनाने के हेतु ही किया गया है ॥ ३ ॥

अऩ्बीऩुम् आर्वम् उडैमै अदुवीऩुम्
नण्पॅऩ्ऩुम् नाडाच् चिऱप्पु ॥ ४ ॥

प्रेम-भावना ही से [जग में] होता नेह-सलिल उत्पन्न।
नेह-वारि-बन्धन से प्राणी होते मित्रभाव-सम्पन्न ॥ ४ ॥

प्रेम की भावना स्नेहशीलता उत्पन्न करती है, और यह [स्नेहशीलता] सच्ची मित्रता को प्रोत्साहित करती है ॥ ४ ॥

अऩ्बुऱ् ऱमर्न्द वऴक्कॅऩ्ब वैयकत्
तिऩ्पुट्ऱार् ऍय्दुम् सिऱप्पु ॥ ५ ॥

प्रेम-शान्तिमय पथ पर जिनका गार्हस्थ जीवन है सिद्ध।
स्वर्गोपम आनन्द उन्हें ही, संसारी सुख सुलभ समृद्धि ॥ ५ ॥

सांसारिक सुख-समृद्धि और स्वर्गीय आनन्द उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त है जिन्होंने अपने गृहस्थ-जीवन को सदैव शान्तिमय प्रेम से पिरोया है ॥ ५ ॥

अऱत्तिऱ्के अऩ्बुचार् पॅऩ्ब अऱियार्
मऱत्तिऱ्कुम् अक्दे तुणै ॥ ६ ॥

नासमझी की बात—'प्रेम' से जाग्रत बस होते सत्कर्म।
प्रेम प्रबल अंकुस के बल पर होते नष्ट सकल अपकर्म ॥ ६ ॥

मूर्ख ही यह सोचेंगे कि प्रेम से सुकर्म ही उत्पन्न होते हैं। सत्य तो यह है कि प्रेम कुकर्मों से रक्षा भी करता है ॥ ६ ॥

ऍऩ्बि लदनै वॅयिल्पोलक् कायुमे
अऩ्बि लदनै अऱम् ॥ ७ ॥

प्रखर धूप में अस्थि-रहित कीटाणु जिस तरह होते नष्ट।
प्रेम-हीन भी प्रेम-ज्योति-सम्मुख होते सर्वथा विनष्ट ॥ ७ ॥

जिस प्रकार अस्थि-रहित कीटाणुओं को धूप झुलसा देती है उसी प्रकार प्रेम-रहित प्राणी को प्रेम [का पावन प्रकाश] भस्म कर देगा ॥७॥

अऩ्बकत् तिल्ला उयिर् वाऴ्क्कै वऩ्पाऱ्कण्
वट्ऱल् मरम्तळिर्त् तट्ऱु ॥ ८ ॥

मरुस्थली के सूखे तरु में संभव नहीं जीव-सञ्चार।
सुलभ न प्रेम-रहित प्राणी को सुखमय जीवन किसी प्रकार ॥ ८ ॥

जिस प्रकार सूखा पेड़ मरुस्थल में जीवन-युक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रेम-रहित जीवन कभी सुखमय नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

पुऱत्तुऱुप् पॅल्लाम् ऍवऩ् सॅय्युम् याक्कै
अगत्तुऱुप् पऩ्बि लवर्क्कु ? ॥ ९ ॥

उर न प्रेम-छबि से जगमग, तो आडम्बर बाहरी सरूप;
व्यर्थ सकल, यदि अन्तस् में जागा न प्रेम का रूप अनूप ॥ ९ ॥

यदि मनुष्य में प्रेम रूपी आन्तरिक सौन्दर्य नहीं है तो समस्त वाह्य सौन्दर्य यदि उसके पास हों भी तो उससे क्या लाभ§ ? ॥ ९ ॥

अऩ्बिऩ् वऴिय तुयिर्निलै अक्तिलार्क्
कॅऩ्बुतोल् पोर्त्तउडम्बु ॥ १० ॥

जहाँ प्रेममय बसी आत्मा, धन्य-धन्य वह धन्य शरीर।
प्रेमहीन तो हाड़-चाम का पञ्जर है निर्जीव शरीर ॥ १० ॥

प्रेम से परिपूर्ण आत्मिक शरीर ही सार्थक शरीर है। प्रेम-हीन व्यक्ति का शरीर तो [चर्म से] आवृत अस्थि-पञ्जर मात्र ही है ॥ १० ॥

---

§ जिस प्रकार कान-आँख के आकार होने पर भी वहरे-अन्धे के लिए व्यर्थ हैं उसी प्रकार प्रेमरहित प्राणी शून्य है।

अदिकारम् (अध्याय) ९

विरुन्दोम्बल् (अतिथि-सत्कार)

इरुन्दोम्बि इल्वाळ्व दॅल्लाम् विरुन्दोम्बि
वेळाण्मै सॅय्दर् पॉरुट्टु ।। १ ।।

धन उपार्जन करने वाले हर गृहस्थ का धर्म पुनीत।
[तन-मन-धन से] नित्य अतिथि-सेवा में तत्पर रहे सप्रीत ।। १ ।।

गृहस्थ, जो धनोपार्जन करता है, उसका यह कर्तव्य है कि सदा अतिथि-सेवा के लिए तत्पर रहे ।। १ ।।

विरुन्दु पुऱत्तदात् तान्उण्डल् चावा
मरुन्दॅनिनुम् वेण्डर्पाट्ऱ्ऱु ।। २ ।।

घर में अभ्यागत हो प्रस्तुत, सद्गृहस्थ की यह पहचान—
अमृत सुलभ हो, फिर भी अनुचित, यदि वह करे अकेले पान ।। २ ।।

घर आये भूखे अतिथि के रहते गृहस्थ को अमृत सुलभ होने पर भी उसका अकेले पान करना अनुचित है ।। २ ।।

वरुविरुन्दु वैकलुम् ओम्बुवान् वाळ्क्कै
परुवन्दु पाळ्पडुदल् इऩ्ऱु ।। ३ ।।

सदा अतिथि-पूजन में तत्पर, आजीवन-सेवा-सत्कार।
वही गृहस्थ सुखी है, उसको कमी न रहती किसी प्रकार ।। ३ ।।

जो व्यक्ति जीवनपर्यन्त अतिथि-सत्कार में ही लीन रहता है उसे जीवन में कभी किसी प्रकार की कमी नहीं रहती है ।। ३ ।।

अगऩमर्न्दु सॅय्याळ् उऱैयुम् मुगऩमर्न्दु।
नल्विरुन् दोम्बुवान् इल् ।। ४ ।।

अतिथि देव की परिचर्या में जो गृहस्थ पाता है मोद।
उसके गृहमंदिर पुनीत में लक्ष्मी का आवास समोद ।। ४ ।।

लक्ष्मी जी की कृपा सदैव ऐसे व्यक्ति पर रहती है जो अतिथियों को प्रसन्नता से भोजन कराता है ।। ४ ।।

वित्तुम् इडल्वेण्डुम् कॉल्लो विरुन्दोम्बि
मिच्चिल् मिसैवान् पुलम् ? ।। ५ ।।

प्रथम अतिथि को भोजन देकर बचे-खुचे पर सदा प्रसन्न,
उस गृहस्थ के खेतों में है बोये बिना उपजता अन्न ॥ ५ ॥

क्या ऐसे व्यक्ति के लिये ज़मीन के जोतने-बोने की आवश्यकता है जो सदैव दया-भावना से प्रेरित रहता है और अपने अतिथियों को प्रथम भोजन कराकर बचे हुए टुकड़ों पर ही जीवित रहता है ? ॥ ५ ॥

सॅल्विरुन् दोम्बि वरुविरुन्दु पार्त्तिरुप्पान्
नल्विरुन्दु वाऩत् तवर्क्कु ॥ ६ ॥

अभ्यागत की सेवा में रत, अभ्यागत की देखे राह।
ऐसे अतिथि-सेवियों के स्वागत की देवों को है चाह ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति आये हुए अतिथि की सेवा करता है और आने वाले अतिथि के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहता है, वह स्वर्ग में स्वयं अतिथि-सत्कार का भागी होता है ॥ ६ ॥

इऩैत्तुणैत् तॅऩ्पतॉऩ् ऱिल्लै विरुन्दिऩ्
तुणैत्तुणै वेळ्विप् पयऩ् ॥ ७ ॥

पाहुन-परिचर्या[1] के अंकन का प्रमाण कैसे परिमाण ?
परिचर्या की मूल्य-कसौटी एक, कि जैसा हो मिहमान[2] ॥ ७ ॥

अतिथि-सेवा को [उसके परिमाण से] आँका नहीं जा सकता। सही मूल्यांकन तो अतिथि की स्थिति के अनुसार ही संभव है ॥ ७ ॥

परिन्तोम्बिप् पट्ऱट्रेम् ऍऩ्बर् विरुन्दोम्बि
वेळ्वि तलैप्पडादार् ॥ ८ ॥

अतिथि-अर्चना, अतिथि-यज्ञ के जो नर बने नहीं यजमान।
'विफल कमाई गई' अन्त में पछतायेंगे वे इन्सान ॥ ८ ॥

जिन व्यक्तियों ने जीवन में अतिथि-सेवा नहीं की वे अन्तकाल में क्रन्दन करेंगे कि 'हाय, धन भी चला गया और [प्रत्युपकार-स्वरूप] सहायता भी नहीं मिली' ॥ ८ ॥

उडैमैयुळ् इऩ्मै विरुन्दोम्बल् ओम्बा
मडमै मडवार्कण् उण्डु ॥ ९ ॥

---

१ अतिथि-सेवा २ अतिथि।

धन-रहते धन-हीन बनें, मुँह फेरें देख अतिथि-मिहमान।
निपट मूर्खता के झूले में उनको झुला रहा अज्ञान ॥ ९ ॥

मूर्ख व्यक्ति ही धन रहते हुए गरीबी का स्वांग भर कर अतिथियों की सेवा से विमुख रहते हैं ॥ ९ ॥

मोप्पक् कुऴैयुम् अनिच्चम् मुगम्तिरिन्दु
नोक्कक् कुऴैयुम् विरुन्दु ॥ १० ॥

सूँघा नहीं कि मुरझाया बस ! सुमन 'अनिच्चा' का सुकुमार।
रूखे रुख से मुरझाता है अभ्यागत भी उसी प्रकार ॥ १० ॥

जिस प्रकार-'अनिच्चा' पुष्प सूंघे जाते ही मुरझा जाता है वैसे ही आया हुआ अतिथि भी रूखे सत्कार से मुरझा जाता है। [अनिच्चा वृक्ष के पुष्प अति मृदु और कोमल होते हैं] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १०

इऩियवै कूऱल् (मृदु-भाषण)

इऩ्सॉलाल् ईरम् अळैइप् पडिऱिलवाम्
सॅम्पॉरुळ् कण्डार्वाय्स् सॉल् ॥ १ ॥

प्रेमसनी निश्छल वाणी है सत्पुरुषों का सहज स्वभाव।
'सत्य किन्तु प्रिय' विज्ञ-वचन सरसाते सदा प्रेम का भाव ॥ १ ॥

शब्द जो प्रेम और निश्छल भाव से धर्मात्माओं द्वारा उच्चरित होते हैं वही [शब्द] मृदु और सत्य होते हैं ॥ १ ॥

अगऩमर्न्दीदलिऩ् नऩ्ऱे मुगऩमर्न्
तिऩ्सॉलऩ् आगप् पॅऱिऩ् ॥ २ ॥

उर उदार अतिशय प्रसन्न मन—श्रेष्ठ दान की यह पहचान।
अभ्यागत का, किन्तु सरस वचनों से स्वागत, अधिक महान् ॥ २ ॥

मृदु वचन से अतिथि का स्वागत करना उस दान से भी श्रेष्ठ है जो हार्दिक प्रसन्नता से दिया जाय ॥ २ ॥

मुगत्ताऩ् अमर्न्दिऩिदु नोक्कि अगत्ताऩुम्
इऩ्सॉ लिऩदे अऱम् ॥ ३ ॥

करुण दृष्टि, मुस्कान मृदुल, उर अभ्यागत पर नेह अनूप,
संवेदन-शब्दों से अर्चन यही धर्म का सत्य स्वरूप ॥ ३ ॥

प्रसन्न मुद्रा से अतिथि का स्वागत करना, दया व सद्भावना के वचन कहना, यही धर्म का स्वरूप है ॥ ३ ॥

तुन्बुरूउम् तुव्वामै इल्लाकुम् यार्माट्टुम्
इन्बुरूउम् इऩ्साॅ लवर्क्कु ॥ ४ ॥

सुखदायी करुणामय वाणी सब से सदा मधुर संलाप ।
प्रियवादी को नहीं सताता कभी दीनता[1] का परिताप ॥ ४ ॥

जो सदैव सद्वचन से अन्य को आनन्द देते हैं उन्हें कभी धन की कमी का कष्ट नहीं होता ॥ ४ ॥

पणिवुडैयऩ् इऩ्साॅलऩ् आदल् ऑरुवर्कु
अणि यल्ल मट्ऱुप् पिऱ ॥ ५ ॥

विनयशील मीठी वाणी है जिसकी जिह्वा का शृंगार ।
अलंकार सर्वस्व यही है, अन्य विविध भूषण बेकार ॥ ५ ॥

विनयशीलता और मृदु सद्वचन ही अपने असली आभूषण हैं, अन्य नहीं ॥ ५ ॥

अल्लवै तेय अऱम्पॅरुकुम् नल्लवै
नाडि इऩिय साॅलिऩ् ॥ ६ ॥

सुखकारी सद्वचनों को अपनाने से अधर्म का ह्रास ।
दिन प्रति दिन सद्धर्म-सद्गुणों का होता है अतुल विकास ॥ ६ ॥

मृदु और सद्वचन को अपनाने से धर्म की वृद्धि और अधर्म की अवनति होती है ॥ ६ ॥

नयऩीऩ्ऱु नऩ्ऱि पयक्कुम् पयऩीऩ्ऱु
पण्पिऱ् ऱलैप्पिरियाच् चाॅल् ॥ ७ ॥

शिष्ट, मधुरभाषी होकर जो करता है जग में उपकार ।
धर्म-ईश की उस पर छाया, वही सुखी जन सर्व प्रकार ॥ ७ ॥

उपकार करते समय शिष्ट और मृदुभाषी होने पर धर्म और भगवत्कृपा की उपलब्धि होती है ॥ ७ ॥

---

१ दुःख-दारिद्र्य ।

सिऱुमैयुळ् नीङ्गिय इऩ्सॉल् मऱुमैयुम्
इम्मैयुम् इऩ्बम् तरुम् ॥ ८ ॥

कटुताहीन सुखद शब्दों का जो सत्पुरुष करे व्यवहार।
क्या धरती क्या स्वर्ग! अपरिमित सुख पर है उसका अधिकार ॥ ८ ॥

सद्वचन से, जो कटुता से परे हो, पृथ्वी पर सुख व समृद्धि बढ़ती है और स्वर्ग में शान्ति मिलती है ॥ ८ ॥

इऩ्सॉल् इऩिदीऩ्ऱल् काण्बाऩ् ऍवऩ्कॉलो
वऩ्सॉल् वऴङ्गु वदु ? ॥ ९ ॥

मञ्जु-मधुर भाषा के मीठे फल का जिसे मिला है स्वाद।
वह, कटु शब्द चुभो कर कैसे करे भला उत्पन्न विषाद ॥ ९ ॥

जब मृदु और सद्वचन से अनन्य आनन्द प्राप्त होता है तो कोई कटु वचन का प्रयोग ही क्यों करे ॥ ९ ॥

इऩिय उळवाग इऩ्ऩाद कूऱल्
कऩिइरुप्पक् काय्कवर्ऩ् दट्ऱु ॥ १० ॥

प्रचुर मधुर शब्दों के रहते कटुवाणी की क्या दरकार ?
मीठे-पके फलों को तज कर, कच्चे फल किसको स्वीकार? ॥ १० ॥

मृदु शब्दों के अनन्यता से उपलब्ध होने पर भी कटु शब्दों का प्रयोग करना ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई पक्के फलों के रहते हुए भी कच्चे फलों को खाये ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ११

सॅय्न्नऩ्ऱि अऱिदल् (कृतज्ञता)

सॅय्यामल् सॅय्द उदविक्कु वैयकमुम्
वाऩकमुम् माट्ऱल् अरिदु ॥ १ ॥

नहीं किसी के ऋणी, किन्तु फिर भी करते हैं पर-उपकार।
उभय लोक देकर भी इनका कभी न संभव है प्रतिकार[1] ॥ १ ॥

---

१ बदला।

जिन्होंने जीवन में कभी कोई सहायता नहीं प्राप्त की और वे अन्य की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते हैं, तो ऐसे सज्जनों का ऋण इहलोक और परलोक देकर भी पूरा नहीं होता ॥ १ ॥

कालत्ति ऩाऱ्सॅय्द नऩ्ऱि सिऱिदॆऩिऩुम्
ञालत्तिऩ् माणप् पॅरिदु ॥ २ ॥

मूल्यवान है मदद समय पर, भले मदद कितनी हो स्वल्प[1] ।
क्षणिक सहारे की तुलना में सकल धरा है नहीं विकल्प[2] ॥ २ ॥

जो सहायता, चाहे कितनी भी लघु हो, समय पर प्रदान की जाती है, उसका मूल्य समस्त पृथ्वी के मूल्य से भी अधिक है ॥ २ ॥

पयऩ्तूक्कार् सॅय्द उदवि नयऩ् तूक्किऩ्
नऩ्मै कडलिऩ् पॅरिदु ॥ ३ ॥

नहीं लालसा किसी लाभ की निस्पृह[3] करते पर-उपकार—
उस सहायता की समता में नहीं ठहरता पारावार[4] ? ॥ ३ ॥

सहायता जो किसी लाभ की आशा से प्रेरित नहीं होती वह महासागर से भी अधिक मूल्यवान है ॥ ३ ॥

तिऩैत्तुणै नऩ्ऱि सॅयिऩुम् पऩैत्तुणैयाक्
कॉळ्वर् पयऩ्तॅरि वार् ॥ ४ ॥

कण के सदृश सहारा पाकर गिनते हैं तरु-ताल[6] समान ।
क्षणिक मदद को मेरु[5] मानते हैं मन में कृतज्ञ मतिमान् ॥ ४ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति, प्राप्त सहायता को, वह चाहे कितनी भी लघु दाने के समान हो, सदैव ताड़ के पेड़ से भी विशाल मानते हैं ॥ ४ ॥

उदवि वरैत्तऩ्ऱुदवि उदवि
सॅय्प्पट्टार् साल्बिऩ् वरैत्तु ॥ ५ ॥

अहा ! भलाई तो अमूल्य है, दुर्लभ उसका प्रत्युपकार[7] ।
उपकारों का एक मूल्य बस, उपकृत-उर[8] में हर्ष अपार ॥ ५ ॥

---

१ छोटी २ बदला ३ निःस्वार्थ ४ समुद्र ५ ताड़ का वृक्ष ६ मेरु पर्वत
७ बदला, पूर्त्ति ८ सहायता पाये हुए व्यक्ति के मन में ।

सहायता का मूल्य आँका नहीं जा सकता है। मूल्यांकन तो उस व्यक्ति-विशेष का आनन्द है जो सहायता प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

मऱवऱ्क मासट्ऱार् केण्मै दुऱवऱ्क
तुऩ्बत्तुळ् तुप्पायार् नट्पु ॥ ६ ॥

कृपावन्त सत्पुरुषों के प्रति मन में सदा रहे अनुराग।
संकट में सहाय—ऐसे सुहृदों का कभी न समुचित त्याग ॥ ६ ॥

सत्पुरुषों की कृपा को कभी भी भूलना नहीं चाहिए। जिन मित्रों ने समय पर सहायता की हो उनकी मित्रता को कभी खोना नहीं चाहिए ॥ ६ ॥

ऍ‌ळुमै ऍ‌ळुपिऱप्पुम् उळ्ळुवर् तङ्गण्
विऴुमम् तुडैत्तवर् नट्पु ॥ ७ ॥

अश्रु निवारण किये किसी ने दुख में किया कभी उपकार।
सात जन्म तक समझदार हैं नहीं भूलते वह आभार ॥ ७ ॥

बुद्धिमान् सात जन्म तक उन व्यक्तियों के आभारी रहते हैं जिन्होंने उनके दुख के समय पर एक बार भी उनके अश्रु पोंछे ॥ ७ ॥

नन्ऱि मऱप्पदु नन्ऱन्ऱु नन्ऱल्ल (दु)
अन्ऱे मऱप्पदु नन्ऱु ॥ ८ ॥

उपकारी के उपकारों को है बिसारना निपट अधर्म।
किन्तु धर्म है—दें बिसार अपने प्रति हुए सकल अपकर्म[1] ॥ ८ ॥

[अपने प्रति किये गये] उपकार को भूलना अधर्म है। अपकारों को उसी समय भुला देना अच्छा है ॥ ८ ॥

कॉन्ऱन्न इन्ना सॅयिनुम् अवर्सॅय्द
ऑन्ऱुनन्ऩ् ऱूळ्ळक् कॅडुम् ॥ ९ ॥

कभी न भूलो यदि जीवन में किया किसी ने है उपकार।
एक अनुग्रह के बदले में धूमिल[2] हैं शत-शत अपकार ॥ ९ ॥

किसी व्यक्ति के अनेक जघन्य अपराध भी भूल जाना अच्छा है, यदि उसके द्वारा भूतकाल में कोई भी उपकार अपने प्रति हुआ हो ॥ ९ ॥

---

१ बुराइयाँ २ धुँधले पड़ जाते हैं।

ऍन्नन्ऱि कॉन्ऱार्क्कुम् उय्वुण्डाम् उय्विल्लै
सॅय्न्नन्ऱि कॉन्ऱ मगऱ्कु ॥ १० ॥

सकल सद्‌गुणों-सत्कर्मों की हत्या एक बार हो क्षम्य।
कृतज्ञता का हनन, कृतघ्नी का पातक सर्वथा अ-क्षम्य ॥ १० ॥

सभी अधर्मों के अपराधी व्यक्ति को शायद मोक्ष प्राप्त हो जाय, परन्तु वह व्यक्ति, जो पर-उपकार की कृतज्ञता को नहीं मानता, ऐसे [कृतघ्नी] को मोक्ष कभी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १२

नडुवु निलैमै (न्यायशीलता)

तगुदि ऍन्ओन्ऱु नन्ऱे पगुदियाऱ्
पाऱ्पट् टॉळुकप् पॅऱिन् ॥ १ ॥

उसी रूप में न्याय, न्यायसंगत है सत्य-धर्म साकार।
मित्र, शत्रु औ' गैर सभी के रहें सुरक्षित सब अधिकार ॥ १ ॥

उसी न्याय को धर्मसंगत कहेंगे जिससे हर व्यक्ति को, जो उसका अधिकृत भाग है, प्राप्त हो जाय ॥ १ ॥

सॅप्पम् उडैयवन् आक्कम् चिदैविन्ऱि
ऍच्चत्तिऱ् केमाप् पुडैत्तु ॥ २ ॥

न्यायशील का जीवन सुखमय, कभी न जग में होय विपन्न[1]।
सुख-समृद्धि से उसके वंशज तक होते सशक्त-सम्पन्न ॥ २ ॥

न्यायशील व्यक्ति का जीवन समृद्ध रहता है और उसकी भविष्य-संतान भी सुख और समृद्धि से सशक्त रहते हैं ॥ २ ॥

नन्ऱे तरिनुम् नडुविकन्दाम् आक्कत्तै
अन्ऱे ऑळिय विडल् ॥ ३ ॥

अन्यायों से अर्जित कितनी भी मोहक सम्पदा विशाल।
'अमृत रूप विष' समझ, विसर्जन उसका समुचित है तत्काल ॥ ३ ॥

---

१ दुखी, अभावग्रस्त।

अन्याय और कुकर्म के द्वारा प्राप्त धन को उसी समय विसर्जित कर देना चाहिए यद्यपि वह देखने में लाभदायक लगता हो ॥ ३ ॥

तक्कार् तकविलर् ऍऩ्ब दवरवर्
ऍच्चत्ताऱ् काणप् पडुम् ॥ ४ ॥

न्यायी कौन, कौन अन्यायी ? इसकी सही परख-पहचान,
प्रतिविम्बित है उस साँचे में जिसमें है उनकी सन्तान ॥ ४ ॥

कौन न्यायी है और कौन अन्यायी–इसकी सही झलक उनकी सन्तान में प्राप्त होगी ॥ ४ ॥

केडुम् पॅरुक्कमुम् इल्लल्ल; नॅञ्जत्तुक्
कोडामै साऩ्ऱोर्क् कणि ॥ ५ ॥

विधि-सञ्चालित हानि-लाभ जीवन में हैं अदृष्ट-आधीन ।
सत्पुरुषों में रत्न-रूप, जो अविचल सदा न्याय-आसीन ॥ ५ ॥

हानि और लाभ तो जीवन में भाग्य के साथ जुड़े रहते ही हैं । न्याय पर अविचल व्यक्ति ही सत्पुरुषों में मणि हैं ॥ ५ ॥

कॅडुवल्याऩ् ऍऩ्ब तऱिकदऩ् नॅञ्जुम्
नडुऑरीइ अल्ल सॅयिऩ् ॥ ६ ॥

न्याय-धर्म से विचलित मन जब दुर्भावों का होय शिकार ।
अधःपतन आया समीप, समझो खुल रहा नरक का द्वार ॥ ६ ॥

जब कभी मन में अन्याय की भावना उत्पन्न हो उसी समय यह सोचना चाहिए–क्या हम अवनति के गर्त में जाना चाहते हैं ? ॥ ६ ॥

कॅडुवाग वैयादुलगम् नडुवाग
नऩ्ऱिक्कण् तङ्गियाऩ् ताऴ्वु ॥ ७ ॥

न्यायशील, निर्धन होने पर, जग में नहीं गवाँता मान ।
भले दीन हो न्यायपरायण, जग में पाता है सम्मान ॥ ७ ॥

न्यायप्रिय व्यक्ति की रंक-अवस्था से उसके मान का ह्रास नहीं होता, सदैव सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है ॥ ७ ॥

समऩ्सॅय्दु सीर्तूक्कुम् कोल्पोल् अमैन्दॉरुपाऱ्
कोडामै साऩ्ऱोर्क् कणि ॥ ८ ॥

धन्य ! तराज़ू के समान है नीर-क्षीर का जहाँ विवेक।
सत्पुरुषों में मणि-स्वरूप है जिसकी सदा न्याय पर टेक[1] ॥ ८ ॥

सज्जन व्यक्ति सदा तराज़ू की भाँति न्याय करने के लिए अडिग रहते हैं और यही सत्पुरुषों का अलंकार है ॥ ८ ॥

सॉर्‌कोट्टम् इल्लदु सॅप्पम् ऑरुतलैया
उट्‌कोट्टम् इन्मै पॅऱिन् ॥ ९ ॥

निर्विकार है, पक्षपात-अविचार-विकारों से जो मुक्त।
मुख से मुखरित शब्द संयमी के सर्वदा न्याय-संयुक्त ॥ ९ ॥

यदि न्यायशील की दृढ़ता से उसके चित्त से [पक्षपात, अविचार आदि] विकार दूर हो चुका है तो उसका कथन सचमुच न्यायसिद्ध होगा ॥ ९ ॥

वाणिकम् सॅय्‌वार्क्कु वाणिकम् पेणिप्
पिऱवुम् तमपोर् सॅयिन् ॥ १० ॥

अपने ही समान, पर-हित पर, रहती जिसकी दृष्टि उदार।
नीतिकुशल उस व्यापारी का है सर्वथा सफल व्यापार ॥ १० ॥

व्यापारी वही समृद्धिशाली होगा जो कि अपने ही समान दूसरों के हित का भी ध्यान रखेगा ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १३

अडक्कमुडैमै (संयमशीलता)

अडक्कम् अमररुळ् उय्क्कुम् अडङ्गामै
आरिरुळ् उय्त्तु विडुम् ॥ १ ॥

जिसको अपने ऊपर संयम, उसे अमर-पद पर अधिकार।
संयम-हीन अधम पुरुषों को सीधा खुला नरक का द्वार ॥ १ ॥

आत्म-संयम ही व्यक्ति को अमर व्यक्ति बनाता है। जो इससे परे हैं वह रौरव नरक के भागी होते हैं ॥ १ ॥

---

१ आश्रय।

काक्क पॉरुळा अडक्कत्तै आक्कम्
अदनिऩूङ् किल्लै उयिर्क्कु ॥ २ ॥

रहो सचेत आत्मसंयम पर, सर्वोपरि उसको निधि[1] मान।
इससे अधिक आत्मा के हित में है नहीं और कल्यान ॥ २ ॥

आत्म-संयम वह अमूल्य निधि है जिसकी बड़ी सतर्कता से निगरानी करना चाहिए। अपनी आत्मा के लिए इससे अधिक कोई श्रेयस्कर लाभ नहीं है ॥ २ ॥

शॅऱिवऱिन्दु शीर्मै पयक्कुम् अऱिवऱिन्
ताट्ऱिऩ् अडङ्गप् पॅऱिऩ् ॥ ३ ॥

वही ज्ञानियों में ज्ञानी है, जिसको भलीभाँति है ज्ञान—
'इन्द्रियादि मन पर संयम से बनता है सत्पुरुष महान्' ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति ज्ञानी है और अपने आत्म-संयम को सँजोये रहता है वही ज्ञानियों में अग्रगण्य रहता है ॥ ३ ॥

निलैयिऱ् ऱिरिया तडङ्गियाऩ् तोट्ऱम्
मलैयिऩुम् माणप् पॅरिदु ॥ ४ ॥

अविचल अचल सदा संयम पर अतुलनीय संयमी-स्वरूप।
भव्य[2] मेरु गिरि से भी सुन्दर तेजस्वी का तेज अनूप ॥ ४ ॥

अविचल रूप से जो आत्म-संयम को रखते हैं वे मेरु से भी अधिक सुन्दर दीखते हैं ॥ ४ ॥

ऍल्लार्क्कुम् नऩ्ऱाम् पणिदल् अवरुळ्ळुम्
शॅल्वर्क्के शॅल्वन् तगैत्तु ॥ ५ ॥

सदा आत्मसंयम श्रेयस्कर सब के हित में एक समान।
संयम-धन से किन्तु धनी होते हैं अधिक और श्रीमान्[3] ॥ ५ ॥

आत्म-संयम सब के लिए अच्छा है। धनवानों के लिए तो आत्म-संयम धन से भी अधिक धन है ॥ ५ ॥

ऑरुमैयुळ् आमैपोल् ऐन्दडक्कल् आट्ऱिऩ्
ऍऴुमैयुम् एमाप् पुडैत्तु ॥ ६ ॥

१ ख़जाना २ शानदार, अति सुन्दर ३ धनवान्।

पंच इन्द्रियों को वश में कर, ले समेट कछुए की भाँति।
सात जन्म तक सुलभ संयमी को सर्वदा सुखद सुख-शान्ति ॥ ६ ॥

यदि कोई कछुवे की तरह पाँचों इन्द्रियों पर संयम रख सके तो उसे सात जन्मों तक सुख-शान्ति प्राप्त होगी ॥ ६ ॥

यागावार् आयिनुम् नागाक्क कावाक्काल्
सोगाप्पर् सॉल्लिऴुक्कुप् पट्टु ॥ ७ ॥

अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा जिह्वा पर निग्रह[1] अनिवार्य।
कटुवाणी की क्षणिक भूल से होते बड़े-बड़े अपकार्य[2] ॥ ७ ॥

चाहे किसी भी वस्तु की निगरानी न की जाय, परन्तु जिह्वा को वश से रखना आवश्यक है। जिह्वा की एक तुच्छ गलती अति दुख का कारण बन जाती है ॥ ७ ॥

ऑन्ऱानुम् तीच्चॉल् पॉरुट्पयन् उण्डायिन्
नन्ऱागा ताकि विडुम् ॥ ८ ॥

एक बार भी किसी हृदय पर कटु वयनों से पहुँचा कष्ट।
उसके दुख से आजीवन के पुण्य-धर्म होते सब नष्ट ॥ ८ ॥

एक अपशब्द के कहने से यदि किसी को पीड़ा पहुँचती है तो सारे पुण्यों का श्रेय समाप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

तीयिनाऱ् शुट्टपुण् उळ्ळारुम् आऱादे
नाविनाऱ् शुट्ट वडु ॥ ९ ॥

जल कर पड़े फफोले, पाकर समय, एक दिन होते शान्त।
किन्तु 'बात की चोट' अमिट ! जीवन-पर्यन्त न होती अन्त ॥ ९ ॥

जलने से जो फफोले पड़ जाते हैं वे भी एक दिन स्वस्थ हो जाते हैं, परन्तु जिह्वा द्वारा की गई चोट कभी ठीक नहीं होती ॥ ९ ॥

कदम्कात्तुक् कट्ऱडङ्गल् आट्रुवान् सॅव्वि
अऱम्पार्क्कुम् आट्रिन् नुऴैन्दु ॥ १० ॥

जिसे इन्द्रियों पर संयम है, जिसके वश में क्रोध-विकार।
उसी आत्मा के स्वागत में रहता स्वयं धर्म तैयार ॥ १० ॥

---

१ संयम, रोक २ अनिष्ट।

जो दृढ़ता से इन्द्रियों और क्रोध पर संयम रखता है उसकी आत्मा को धर्म स्वयं चल कर मिलता है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १४

ऑळुक्कमुडैमै (सदाचरण)

ऑळुक्कम् विळुप्पम् तरलान् ऑळुक्कम्
उयिरिनुम् ओम्प्प् पडुम् ॥ १ ॥

सदाचार से मानव जग में होता कीर्तिमान है धन्य।
प्राणाधिक इस सदाचरण की सदा सुरक्षा करो अनन्य ॥ १ ॥

सद्-आचरण से कीर्ति उपलब्ध होती है। सदाचरण [और शिष्टाचार] की रक्षा अपने जीवन से भी अधिक मूल्यवान् समझ कर करनी चाहिए ॥ १ ॥

परिन्दोम्बिक् काक्क ऑळुक्कम्; तॅरिन्दोम्बित्
तेरिनुम् अक्दे तुणै ॥ २ ॥

सब-गुण से सम्पन्नों का भी सदाचार बिन कहाँ निबाह ?
जीवन में सर्वदा सहायक—'सदाचरण' की पकड़ो राह ॥ २ ॥

सदाचरण की सुरक्षा पूरी तरह करनी चाहिए, क्योंकि सर्वगुणों से सम्पन्न रहते हुए भी, सदाचरण ही [जीवन में] सर्वोपरि सहायक सिद्ध होता है ॥ २ ॥

ऑळुक्कम् उडैमै कुडिमै इळुक्कम्
इळिन्द पिरप्पाय् विडुम् ॥ ३ ॥

शिष्ट-सदाचारी जीवन है श्रेष्ठ कुलीनों की पहचान।
सदाचार से रहित पतित होते हैं बड़े-बड़े कुलवान् ॥ ३ ॥

सद्-आचरण ही कुलीनता का [वास्तव में] प्रतीक है। दुराचरण जीवन को पतित और अधम बनाता है [केवल उच्चकुल में जन्म सदाचारविहीन को पतन से बचा नहीं सकता।] ॥ ३ ॥

मऱ्प्पिनुम् ओत्तुक् कॉळलाकुम् पार्प्पान्
पिऱ्प्पॉळुक्कम् कुन्ऱक् कॅडुम् ।। ४ ।।

विप्र, भले ही विस्मृत[1] वेदों पर कर सकें पुनः अधिकार,
पतित-आचरन की कुलीनता का सम्भव न कभी उद्धार ।। ४ ।।

ब्राह्मण, वेदों को भूलने के बाद उन्हें शीघ्र पुनः ग्रहण कर सकता है; परन्तु सदाचार-विहीन होने पर तो [ब्राह्मण] अपनी कुलीनता [एवं श्रेष्ठता] को सदा के लिए गवाँ देता है ।। ४ ।।

अळुक्का ऱुडैयान्कण् आक्कम्पोन्ऱ् ऱिल्लै
ऑळुक्क मिलान्कण् उयर्वु ।। ५ ।।

परसन्ताप-इर्ष्या[2] से जीवन में सुलभ न धन-संयोग ।
उसी भाँति आचारहीन को दुर्लभ सदा सुयश का योग ।। ५ ।।

ईर्ष्यालु व्यक्ति इस जीवन में कभी धन नहीं प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार निम्न आचरण का व्यक्ति कभी कीर्ति नहीं प्राप्त कर सकता ।। ५ ।।

ऑळुक्कत्तिन् ऑल्कार् उरवोर् इळुक्कत्तिन्
एदम् पडुपाक् कऱिन्दु ।। ६ ।।

सदाचरण-सन्मार्ग न तजते कभी संयमी व्यक्ति महान्;
'अधमाचारी का विनाश निश्चय'—है उन्हें सर्वथा ज्ञान ।। ६ ।।

संयमी जन कभी भी सदाचरण से पृथक् नहीं होते, क्योंकि वे जानते हैं कि निम्न आचरण से विनाश के भागी होंगे ।। ६ ।।

ऑळुक्कत्तिन् ऍय्दुवर् मेन्मै इळुक्कत्तिन्
ऍय्दुवर् एय्दाप् पळि ।। ७ ।।

सदाचार पर चल कर मानव को उपलब्ध सुयश-सम्मान ।
पतित-आचरण से मानव के पल्ले बस कलंक-अपमान ।। ७ ।।

सदाचरण के द्वारा मनुष्य कीर्ति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है । सदाचार-विहीन मानव कलंक और निरादर को प्राप्त होता है ।। ७ ।।

---

१ भूले हुए २ किसी की उन्नति को देखकर जलना ।

नऩ्ऱिक्कु वित्ताकुम् नल्लॉऴुक्कम् तीयॉऴुक्कम्
ऍऩ्ऱुम् इडुम्बै तरुम् ॥ ८ ॥

सदाचार सुखस्रोत, धर्म का सदाचार है बीज स्वरूप।
वामाचार-ग्रस्त[1] मानव का जीवन सदा दुःख का रूप ॥ ८ ॥

सदाचार सद्धर्म का मूल [और परमानन्द का स्रोत] है। पतित आचरण से जीवनपर्यन्त अनन्त दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

ऑऴुक्कम् उडैयवर्क्कु ऑल्लावे तीय
वऴुक्कियुम् वायाऱ् शॉलल् ॥ ९ ॥

सदाचारयुत शिष्ट जनों के मुख से अहो! स्वप्न में भूल-
कर भी नहीं निकलते अनुचित शब्द कभी कुत्सित,[2] प्रतिकूल[1] ॥ ९ ॥

सदाचारी शिष्टजनों के मुख से कभी भूल से भी अपशब्द नहीं निकलते ॥ ९ ॥

उलकत्तो टोट्ट ऑऴुकल् पलकट्ऱुम्
कल्लार् अऱिविला दार् ॥ १० ॥

सदाचार से हीन, लोक-व्यवहार का नहीं जिसको ज्ञान,
ऐसे विद्यावारिधि[3] को भी गिनता कौन, भला विद्वान ? ॥ १० ॥

सर्व विद्यानिधान होते हुए भी, यदि वे लोक-व्यवहार और सदाचार से रहित हैं, तो उनकी गणना विद्वानों में नहीं हो सकती ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १५

पिऱऩ्इल् विऴैयामै (परस्त्री-लोलुपता)

पिऱऩ्पॉरुळाळ् पॅट्टॉऴुकुम् पेदैमै ञालत्
तऱम्पॉरुळ् कण्डार्कण् इल् ॥ १ ॥

लोकाचार-धर्मसमलंकृत[4] होते जो सत्पुरुष महान्,
'पर नारी से प्रेम'—न उनमें कभी उपजता यह अज्ञान ॥ १ ॥

१ उलटे (अनुचित) काम करने वाला २ भद्दे ३ विद्यासागर ४ धर्म के लक्षणों से युक्त।

व्यक्ति जो धर्म और लोकाचरण से युक्त होते हैं वे कभी भी किसी परस्त्री से प्रेम करने की मूर्खता नहीं करते ।। १ ।।

अऱऩ्कडै निन्ऱारुळ् ऍल्लाम् पिऱऩ्कडै
निन्ऱारिऱ् पेदैयार् इल् ।। २ ।।

सदाचार से विमुखों में, अधमाधम[1] निपट मूर्ख वह व्यक्ति,
जो पड़ोस के गृह में गृहिणी से घुस-पैठ मिलाता युक्ति ।। २ ।।

धर्म और सदाचार से विमुख व्यक्तियों में वे व्यक्ति सर्वाधिक मूर्ख हैं जो अपने पड़ोसी के गृह में घुस-पैठ करते हैं [क्योंकि उनको तिरस्कार और दण्ड का भय सदैव सताता है ।] ।। २ ।।

विळिन्दारिन् वेऱल्लर् मन्ऱ तॅळिन्दारिल्
दीमै पुरिन्दॉळुकु वार् ।। ३ ।।

जिनको है विश्वास—उन्हीं मित्रों की नारी से व्यभिचार !
जीवन रहते मृतक तुल्य हैं—ऐसे अधमों को धिक्कार ।। ३ ।।

अपने ऊपर भरोसा करनेवाले मित्रों की पत्नियों पर जो व्यक्ति कुदृष्टि डालते हैं वे घृणित, जीवित रहते भी मृत शरीर के समान हैं ।। ३ ।।

ऍनैत्तुणैयर् आयिनुम् ऍन्नाम् तिनैत्तुणैयुम्
तेरान् पिऱनिल् पुगल् ।। ४ ।।

परनारी से साँठगाँठ में जिसे न अपयश[2] का है ध्यान,
भले अतुल सम्मानयुक्त, टिक सकता कब उसका सम्मान ।। ४ ।।

व्यक्ति कितना भी सम्मानित क्यों न हो, उसके मान का क्या लाभ, यदि वह किसी दूसरे की गृहिणी के साथ बदनामी सहकर भी, कुचेष्टा करे [बदनामी उसके सम्मान को नष्ट कर देगी ।] ।। ४ ।।

ऍळिदॅन इल्लिऱप्पान् ऍय्दुम्ऍञ् ञान्ऱुम्
विळियादु निऱ्कुम् पळि ।। ५ ।।

परनारी से दुराचार है जिनके लिए सहज व्यापार,
आजीवन बदनाम, कुयश का उनके लिए खुला है द्वार ।। ५ ।।

परस्त्री के साथ व्यभिचार को सामान्य समझकर जो करता है,

---

१ नीचों में नीच २ बदनामी ।

वह सदा के लिए कुख्यात होता है [वह बदनामी हटना उतना ही कठिन है जितना व्यभिचार-पंक में फँस जाना सरल है।] ॥ ५ ॥

पगैपावम् अच्चम् पऴियॆऩ्ऩ नाऩ्गुम्
इकवावाम् इल्लिऱप्पाऩ् कण् ॥ ६ ॥

घृणा (शत्रुता), पाप और भय, पग-पग पर दारुण अपमान—
व्यभिचारी को इन चारों सन्तापों से[1] है कभी न त्रान ॥ ६ ॥

व्यभिचारी को, घृणा, पाप, भय और अपमान इन चारों से कभी त्राण नहीं मिल सकता ॥ ६ ॥

अऱऩ्इयलाल् इल्वाऴ्वाऩ् ऎऩ्बाऩ् पिऱऩ्इयलाळ्
पॆण्मै नयवा दवऩ् ॥ ७ ॥

जो कुदृष्टि से नहीं निरखता परनारी का रूप-सुरूप,
सद्गृहस्थ हैं वही, उसी को कहते हैं जन, धर्मस्वरूप ॥ ७ ॥

परस्त्री की सुन्दरता को जो व्यक्ति कुदृष्टि से नहीं देखता है, वही धर्मवान् सद्गृहस्थ कहा जायगा। [अन्यथा गृहस्थ के अन्य सुलक्षणों के रहते भी सद्गृहस्थ नहीं कहा जायगा।] ॥ ७ ॥

पिऱऩ्मनै नोक्काद पेराण्मै शाऩ्ऱोर्क्
कऱऩ्ऑऩ्ऱो ? आऩ्ऱ ऑऴुक्कु ! ॥ ८ ॥

लोलुप[2] दृष्टि न परनारी पर, ऐसे जो संयमी महान्,
धर्मवान् नर वही लोक में, वही पुरुष मर्यादावान् ॥ ८ ॥

जो संयमी व्यक्ति परस्त्री को कुवासना की दृष्टि से नहीं देखते, वही [पुरुषपुंगव] धर्मवान् और [लोक में] मर्यादावान् हैं ॥ ८ ॥

नलक्कुरियार् यार्ऎऩिऩ् नामनीर् वैप्पिऱ्
पिऱर्क्कुरियाळ् तोळ्तोया दार् ॥ ९ ॥

सिन्धु[3]-घिरी इस विस्तृत धरनी पर उनका ही विरद बखान,
परनारी से दुराचार का जिनके मन में कभी न ध्यान ॥ ९ ॥

समुद्र से घिरी इस [विशाल] पृथ्वी पर उन्हीं व्यक्तियों की प्रशंसा अनन्यता से की जाती है जिन्होंने कभी पड़ोसी की स्त्री को बाहुपाश में नहीं लिया ॥ ९ ॥

---

१ दुःखों से   २ ललचायी   ३ समुद्र।

अऱन्वरैयान् अल्ल शॅयितुम् पिऱन्वरैयाळ्
पॅण्मै नयवामैनन्ऱु ।। १० ।।

सना कुकर्मों में आजीवन, पापयुक्त अवगुण की खान,
किन्तु न उन्मुख[1] पर नारी से, ऐसा धन्य-धन्य इन्सान ।। १० ।।

जिसने जीवन पर्यन्त अवगुण व कुकर्म ही किये हों वह व्यक्ति भी धन्य है, यदि उसने अपने पड़ोसी की स्त्री [अर्थात् परनारी] पर कुदृष्टि नहीं डाली ।। १० ।।

अदिकारम् (अध्याय) १६
पॉऱैयुडैमै (सहनशीलता)

अगऴ्वारैत् ताङ्गुम् निलम्पोलत् तम्मै
इगऴ्वार्प् पॉऱुत्तल् तलै ।। १ ।।

धरा[2] खोदने वालों का भी धरा सहन करती है भार;
'दुष्ट जनों के दुर्वचनों को सहना'—सद्गुण उसी प्रकार ।। १ ।।

जैसे धरती उन व्यक्तियों का, जो उसके वक्षस्थल को खोदते हैं, भार सहन करती है, उसी प्रकार दुर्जनों की कटूक्तियों को सहन करना भी मनुष्य का सर्वोच्च गुण है ।। १ ।।

पॉऱुत्तल् इऱप्पिनै ऍन्ऱुम्; अदनै
मऱत्तल् अदनिनुम् नन्ऱु ।। २ ।।

'क्षमा करे अपराध किसी के'—यह संयम की है पहचान;
किन्तु 'भूल जाना अपराधों को' गुण उससे अधिक महान् ।। २ ।।

अपने प्रति किसी के अपराध को क्षमा करना उत्तम है, परन्तु [अपराधी के] अपराधों को भूल जाना और भी अधिक उत्तम है ।। २ ।।

इन्मैयुळ् इन्मै विरुन्तॉराल्; वन्मैयुळ्
वन्मै मडवार्प् पॉऱै ।। ३ ।।

सर्वोपरि दीनता—अतिथि की कर न सके सेवा-सत्कार।
सर्वोपरि दृढ़ शक्ति—मूर्खों का सह सकना दुर्व्यवहार ।। ३ ।।

---

१ अनुरक्त, झुका २ पृथ्वी।

अतिथि की सेवा न करना सर्वोपरि दरिद्रता है। मूर्खों के असहनीय व्यवहार को [सहनशीलता से] वहन करना महान् शक्ति और दृढ़ता का परिचायक है ॥ ३ ॥

निऱैयुडैमै नीङ्गामै वेण्डिन् पॉऱैयुडैमै
पोट्रि ऑळुकप् पडुम् ॥ ४ ॥

सदा कीर्ति की विमल पताका फहराये—यह जिसे पसन्द,
सहनशीलता-क्षमा—इन्हीं के बल पर हो सकता निर्द्वन्द ॥ ४ ॥

विमल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखना है, तो क्षमा और सहनशीलता, की प्रवृत्ति को सदैव अपनाना और बनाये रखना चाहिये ॥ ४ ॥

ऑऱुत्तारै ऑन्ऱाग वैयारे; वैप्पर्
पॉऱुत्तारैप् पॉन्पोऱ् पॉदिन्दु ॥ ५ ॥

नहीं क्रोध-प्रतिशोघ[1] किसी को जग में देता है सम्मान;
अक्षय स्वर्णकोष के तद्वत्[2] क्षमावान् की कीर्त्ति महान् ॥ ५ ॥

क्रोध [और प्रतिशोध] की कहीं सराहना नहीं होती। किन्तु क्षमावान् और सहनशील की कीर्त्ति अक्षय स्वर्णभण्डार की भाँति मूल्यवान है ॥ ५ ॥

ऑऱुत्तार्क् कॉरुनाळै इन्बम्; पॉऱुत्तार्क्कुप्
पॉन्ऱुन् तुणैयुम् पुगळ् ॥ ६ ॥

क्षणिक सुक्ख है सुलभ, क्रोधवश जब हम हैं लेते प्रतिकार[3],
आजीवन है, किन्तु क्षमा करने पर, सुख-संतोष अपार ॥ ६ ॥

रोष [और प्रतिशोध] से केवल एक दिन का (अर्थात् क्षणिक) आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु क्षमा करने का सुख-संतोष सदैव अमर रहता है ॥ ६ ॥

तिऱन्नल्ल तऱ्पिऱर् शॅय्यिनुम् नोनॉन्
तऱन्नल्ल शॅय्यामै नन्ऱु ॥ ७ ॥

अपकारी[4] पर रोष न करके उचित सदा करुणा का भाव।
बदले में अपकार न करना है विशेष सद्गुणी स्वभाव ॥ ७ ॥

---

१ बदला २ समान ३ बदला ४ बुराई करने वाला।

जो तुम्हारे साथ बुराई करें उन पर शोक न करो [करुणा का भाव रखो] और प्रयत्न करो कि बदले में उनके प्रति बुराई न करो ॥ ७ ॥

मिकुदियाल् मिक्कवै शॅय्दारैत् ताम्दम्
तकुदियाल् वॅन्ऱु विडल् ॥ ८ ॥

यदि मदान्ध[1] दुष्टों के हाथों कभी पहुँचता तुमको क्लेश ।
उन्हें विजय करने में समरथ सहिष्णुता का अस्त्र विशेष ॥ ८ ॥

अहंकर और मद में आकर जो व्यक्ति तुम को क्लेश पहुँचाता है, उस पर क्षमा और सहिष्णुता की सद्वृत्ति से विजय प्राप्त करो ॥ ८ ॥

तुऱन्तारिल् तूय्मै उडैयर् इऱन्दार्वाय्
इऩ्ऩाच्चॉल् नोऱ्गिऱ् पवर् ॥ ९ ॥

सहनशील है दृढ़ी[2], न जिसका दुर्वचनों पर जाता ध्यान,
ऐसे सद्गृहस्थ का जीवन संन्यासी के सदृश महान् ॥ ९ ॥

जिनमें कटु वचन सहने की दृढ़ शक्ति है, वह गृहस्थ होते हुए संन्यासियों के समान हैं ॥ ९ ॥

उण्णादु नोऱ्पार् पॅरियर्; पिऱर्शॉल्लुम्
इऩ्ऩाच्चॉल् नोऱ्पारिऩ् पिऩ् ॥ १० ॥

उनका तप है धन्य जिन्होंने है व्रत लिया बिना आहार[3];
कटुवाणी का सहन किन्तु है अधिक श्रेष्ठ तप का आचार ॥ १० ॥

अनाहार व्रत करने वाले, महान् तपस्वी हैं; किन्तु वचनों को सहन करने वाले साहिष्णु पुरुष उनसे भी श्रेष्ठ तपस्वी हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १७

अऴुक्काऱामै (ईर्ष्या निवृत्ति)

ऑऴुक्काऱाक् कॉळ्क ऑरुवऩ्तऩ् नॅञ्जत्
तऴुक्का ऱिलाद इयल्पु ॥ १ ॥

सदाचार सत्पथ पर समझो है आचारवान् विद्वान्,
परसन्ताप-ईर्ष्या का जिसके मन में है कभी न भान[4] ॥ १ ॥

---

१ मद में चूर २ अचल, संयमी ३ अनाहार व्रत ४ आभास।

जिसका हृदय ईर्ष्या से रहित है उसी को कल्याणकारी सन्मार्ग पर समझना चाहिए ॥ १ ॥

विऴुप्पेट्ऱिन् अक्दॉप्पि तिल्लैयार् मट्टुम्
अऴुक्काट्ऱिन् अऩ्मै पॅऱिन् ॥ २ ॥

विजय ईर्ष्या पर पाई है, मत्सर[1] का न हृदय में नाम—
उसका है सौभाग्य, न उससे और अधिक मानव गुणधाम ॥ २ ॥

यदि मन में किसी के प्रति इर्ष्या का भाव नहीं है तो इससे बढ़कर संसार में कोई भी सद्गुण नहीं है ॥ २ ॥

अऱत्ताक्कम् वेण्डादान् ऍऩ्बान् पिऱत्ताक्कम्
पेणा तऴुक्करुप् पाऩ् ॥ ३ ॥

अन्य किसी के धन-वैभव से जिसके मन में है सन्ताप,
अपने ही धन-वैभव से, मानो कर रहा शत्रुता आप ॥ ३ ॥

जो भी दूसरों के धन और ऐश्वर्य से ईर्ष्या करता [और संताप करता] है समझो कि वह अपने ही धन-धर्म का शत्रु है। [परसन्तापी] को कभी सुख नसीब नहीं होता ॥ ३ ॥

अऴुक्काट्ऱिन् अल्लवै शॅय्यार् इऴुक्काट्ऱिन्
एदम् पडुपाक् कऱिन्दु ॥ ४ ॥

कभी ईर्ष्यावश प्रबुद्धजन पहुँचाते न किसी को हानि;
उन्हें ज्ञान है—यह प्रवृत्ति[2] उनके ही लिए दुःख की खानि ॥ ४ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति कभी भी ईर्ष्या के वशीभूत होकर किसी को हानि नहीं पहुँचाते, क्योंकि वे जानते हैं कि किसी के प्रति ईर्ष्या स्वयं अपने लिए दुःख का कारण बन जाती है ॥ ४ ॥

अऴुक्का ऱुडैयार्क् कदुशालुम् ऑऩ्ऩार्
वऴुक्कियुम् केडीऩ् पदु ॥ ५ ॥

हमको क्षमा भले वह कर दें, जिनके प्रति हमको है डाह,
किन्तु डाह का दुष्प्रवाह[3] उपजाता स्वयं निरंतर दाह[4] ॥ ५ ॥

इर्ष्यालु व्यक्ति के लिए उसका ईर्ष्या का स्वभाव स्वयं ही [परम शत्रु होकर] दुखदायी बन जाता है; भले ही उसके शत्रु [अथवा जिनसे

---

१ इर्ष्या, डाह २ स्वभाव ३ बुरा बहाव ४ जलन, ताप।

वह ईर्ष्या करता है वे] उसको दुःख न भी पहुँचायें। [डाह और परसन्ताप, सांसारिक सभी सुखों के मौजूद रहते भी मन को सदैव दग्ध और दुःखी रखते हैं] ॥ ५ ॥

कॉडुप्प दळुक्करुप्पान् शुट्रम् उडुप्पदूउम्
उण्पदूउम् इन्ऱिक् कॅडुम् ॥ ६ ॥

दानी देता दान दीन को—होता देख जिसे सन्ताप,
भोजन-वस्त्र-विहीन सगे-सम्बन्धी उसके पाते ताप ॥ ६ ॥

निर्धन-दुखी जनों को दान दिया जाते देखकर जो जलता है उसके सगे-सम्बन्धी सदैव भोजन-वस्त्र से दीन रहते हैं ॥ ६ ॥

अव्वित् तळुक्का ऱुडैयाऩैच् शॅय्यवळ्
तव्वैयैक् काट्टि विडुम् ॥ ७ ॥

ईर्ष्यालु[1] से कुपित, भाग्यलक्ष्मी जब होती है प्रतिकूल,
देवि दरिद्रा (मूदेवी[2]) को उसके करती है अनुकूल ॥ ७ ॥

जो दूसरों के धन से इर्ष्या करते हैं, उनसे भाग्यलक्ष्मी भी इर्ष्या करती है, और उनसे विमुख होकर उन इर्ष्यालु व्यक्तियों के पास अपनी बड़ी बहिन [मूदेवी अर्थात् दरिद्रता की देवी] को भेज देती है ॥ ७ ॥

अळुक्का ऱॅन्नऑरु पावि तिरुच्चॅट्रुत्
तीयुळि उय्त्तु विडुम् ॥ ८ ॥

नष्ट हुआ सौभाग्य सकल, मत्सर का ज्योंही हुआ शिकार।
अधम आत्मा को दुखदायी नरक-अग्नि का खुलता द्वार ॥ ८ ॥

किञ्चित् इर्ष्या भी सौभाग्य को नष्ट कर देती और आत्मा को नरकाग्नि में डाल देती है [अर्थात् ईर्ष्या इहलोक-परलोक दोनों को बिगाड़ देती है।] ॥ ८ ॥

अव्विय नॅञ्जत्ताऩ् आक्कमुम् शॅव्वियाऩ्
केडुम् निऩैक्कप् पडुम् ॥ ९ ॥

ईर्ष्यालु धनवान्! सदाचारी-सद्धर्मी हो धनहीन!
अनहोनी दोनों, न कल्पना कर सकते हैं कभी प्रवीन[3] ॥ ९ ॥

---

१ ईर्ष्या करने वाला २ भाग्य लक्ष्मी की बड़ी बहिन दरिद्रता की देवी
३ समझदार।

ईर्ष्यालु व्यक्ति कैसे धनवान हो सकता है, और सदाचारी सन्मार्गी व्यक्ति किस प्रकार निर्धन हो सकता है—यह कल्पना करना ही आश्चर्य-जनक है [अर्थात् यह दोनों बातें असम्भव हैं; न ईर्ष्यालु को सम्पन्नता के दर्शन हो सकते हैं, न सद्वृत्ति वाले को विपन्नता के ॥ ९ ॥

अऴुक्कऱ् ऱकन्ऱारुम् इल्लै ऱक्दिल्लार्
पॅरुक्कत्तिल् तीर्न्दारुम् इल् ॥ १० ॥

कभी न होते ईर्ष्यालु, जीवन में सुख-समृद्धि-सम्पन्न।
मत्सर-मुक्त[1] जनों का जीवन सफल, न होते कभी विपन्न[2] ॥ १० ॥

ईर्ष्यालु व्यक्ति को सुख-समृद्धि कभी सुलभ नहीं है, और ईर्ष्या-रहित व्यक्ति सदैव फलते-फूलते हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) १८
वॅक्कामै (लोभ-त्याग)

नडुविन्ऱि नन्पॉरुळ् वॅक्किऱ् कुडिपॉन्ऱिक्
कुट्रमुम् आङ्गे तरुम् ॥ १ ॥

सदोपार्जित[3] अन्य किसी के धन पर दृष्टि, विना अधिकार,
लोभ-ग्रस्त ऐसे मानव का होता शीघ्र नष्ट परिवार ॥ १ ॥

यदि कोई व्यक्ति दूसरे के सदोपार्जित धन के अनधिकार अपहरण की लालसा करता है, तो यह लोभ उसके परिवार के निश्चय विनाश का कारण होता है ॥ १ ॥

पडुपयन् वॅक्किप् पऴिप्पडुव शॅय्यार्
नडुअन्मै नाणु पवर् ॥ २ ॥

ध्यानमात्र से लज्जित होते, रुचिर[4] न जिनको कभी अधर्म,
लालच में पड़कर न लाभवश करते ऐसे जन अपकर्म[5] ॥ २ ॥

जो व्यक्ति अन्याय और अनुचित कर्म करने से लजाते हैं, वे लोभवश दूसरों के धन को हस्तगत करने से सदा दूर रहते हैं ॥ २ ॥

---

१ ईर्ष्या-हीन २ दुखी, विपत्तिग्रस्त ३ उचित ढंग से कमाया हुआ ४ पसन्द ५ बुरे कर्म।

शिट्रिऩ्पम् वॅक्कि अऱऩल्ल शॅय्यारे
मट्रिऩ्पम् वेण्डु पवर् ।। ३ ।।

अहो ! आत्मा, जिनकी रखती है सच्चे सुख की अभिलाष ,
क्षणिक लालसाओं में पड़कर, लोभ न आता उनके पास ।। ३ ।।

जिनकी आत्मा शाश्वत और वास्तविक सुख की अभिलाषा रखती है वे कभी भी क्षणिक दुर्वासनाओं में पड़कर अपकर्म नहीं करते ।। ३ ।।

इलम्एँऩ्रु वॅक्कुदल् शॅय्यार् पुलम्वॅऩ्ऱ
पुऩ्मैयिल् काट्चि यवर् ।। ४ ।।

निपट दीन हैं किन्तु संयमी जिन्हें इन्द्रियों पर अधिकार !
पर धन की लालसा न रखते, कभी लोभ के नहीं शिकार ।। ४ ।।

जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर संयम कर रक्खा है वे [विवेकी व्यक्ति] दरिद्रता में भी लोभवश दूसरे के धन की लालसा नहीं करते ।। ४ ।।

अक्कि यकऩ्ऱ अऱिवॅऩ्ऩाम् यार्माट्टुम्
वॅक्कि वॅऱिय शॅयिऩ् ? ।। ५ ।।

लोभ और तृष्णा[1] में पड़कर, अपनाता है पापाचार !
कौन कहेगा ऐसा मानव बुद्धि-ज्ञान का है भण्डार ? ।। ५ ।।

बुद्धि औ ज्ञान की विलक्षणता किस काम की है, यदि मनुष्य लोभ-तृष्णा में पड़कर संसार में दुराचरण करता है। [अर्थात् लोभ ज्ञानियों और बुद्धिमानों की भी मति भ्रष्ट कर देता है] ।। ५ ।।

अरुळ्वॅक्कि आट्रिऩ्कण् निऩ्ऱाऩ् पॅरुळ्वॅक्किप्
पॅाल्लाद शूऴ्क् कॅडुम् ।। ६ ।।

धर्ममार्ग पर चला, सुयश-सन्मारग की जिसको अभिलाष ,
लोभ-लालसा में फँस कर उसका भी निश्चय सदा विनाश ।। ६ ।।

जो सद्‌गृहस्थ सन्मार्ग पर चल कर सुयश का अभिलाषी है, वह लोभ में फँस कर दूसरों का धन अपहरण करने पर, निश्चय विनाश के गर्त में पहुँच जायगा ।। ६ ।।

---

१ प्यास, लालसा ।

वेण्डऱ्क वॅक्कियाम् आक्कम् विळैवयिन्
माण्डऱ् करिदाम् पयन् ॥ ७ ॥

अनधिकार लालच में फँस कर, परधन पर करना अधिकार—
कभी न सुख का हेतु, सर्वदा दुखदायी है लोभ-विकार ॥ ७ ॥

तृष्णा और लोभ के वश में पराया धन नहीं अपहरण करना चाहिए; क्योंकि ऐसे धन-लाभ से सिवाय दुःख के सुख कभी प्राप्त नहीं होता [सुख तो न्याय से अर्जित धन ही से सुलभ है] ॥ ७ ॥

अक्कामै शॅल्वत्तिऱ् कियातॅन्निन् वॅक्कामै
वेण्डुम् पिऱन्कैप् पॉरुळ् ॥ ८ ॥

परधन-हरन किया मानो अपने धन का भी किया विनास;
निज समृद्धि[1] की कुशल तभी जब तजो पराये धन की आस ॥ ८ ॥

यदि धन को स्थायी रखना है [और विनाश से बचाना है] तो दूसरे के धन पर लोलुप दृष्टि न रखो। पराये धन पर लोभ न करना ही समृद्धि-लाभ का मार्ग है ॥ ८ ॥

अऱनऱिन्दु वॅक्का अऱिवुडैयार्च् शेरुम्
तिऱनऱिन् ताङ्गे तिरु ॥ ९ ॥

लोभरहित हैं धर्मपरायण, जिन्हें न परधन से है प्यार।
सदा समय पर भाग्यलक्ष्मी का प्रस्तुत है इन्हें दुलार ॥ ९ ॥

भाग्यलक्ष्मी समय पर उन्हीं सुपात्रों के पास पहुँचती है जो लोभ-पाश से मुक्त हैं ॥ ९ ॥

इऱलीनुम् ऍण्णादु वेक्किन् विऱलीनुम्
वेण्डामै ऍन्नुम् शॅरुक्कु ॥ १० ॥

होते नष्ट लोभ में पड़कर वही न जिनको बुद्धि-विचार।
लोभरहित सामर्थ्यवान् हैं, सहज उतरते पारावार[2] ॥ १० ॥

विचारहीन मानव, लोभ में पड़कर, विनाश को प्राप्त होते हैं; लोभ-तृष्णा से रहित आत्माएँ ही सफल [और संसार-संकट पर विजयी] होती हैं ॥ १० ॥

---

१ सम्पन्नता, खुशहाली   २ संसारसागर।

अदिकारम् (अध्याय) १९

पुऱङ्कूऱामै (परनिन्दा)

अऱम्कूऱान् अल्ल शॅयिनुम् ऑरुवन्
पुऱम्कूऱान् ऍन्ऱल् इनिदु ॥ १ ॥

वाणी मलिन, अधम प्राणी के लिए न अनुचित है सत्कार;
यदि परोक्ष[1] में परनिन्दा[2] से मुक्त रहा उसका आचार ॥ १ ॥

मलिन वाणी और दुराचरण वाला व्यक्ति भी धन्य है यदि वह किसी की पीठ पीछे निन्दा नहीं करता ॥ १ ॥

अऱन् अऴीइ अल्लवै शॅय्दलिऱ् ऱीदे
पुऱन् अऴीइप् पॉयॅत्तु नगै ॥ २ ॥

सम्मुख मृदु[3], परोक्ष में निन्दा—जिन अधमों का यह व्यापार,
दुष्टों से भी दुष्ट, अधम से अधम, निन्द्य[4] यह कपटाचार ॥ २ ॥

जो सामने तो बनावटी प्रसन्न मुद्रा में वार्ता करते हैं और पीछे निन्दा करते हैं, ऐसे [कपटी] व्यक्ति, कुमार्गियों और दुष्कर्मियों से भी अधिक अधम हैं ॥ २ ॥

पुऱङ्कूऱिप् पॉय्त्तुयिर् वाऴ्दलिऱ् शादल्
अऱङ्कूऱुम् आक्कम् तरुम् ॥ ३ ॥

झूठ, पराई निन्दा से आजीवन दुःखदायी परिणाम;
इससे अच्छी मृत्यु कि जीवन-संकट से देती आराम ॥ ३ ॥

परोक्ष-निन्दा और मिथ्याभाषण में लिप्त जीवन से तो मृत्मु ही अच्छी है, क्योंकि इससे जीवन [की व्याधियों] से मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३ ॥

कण्णिन्ऱु कण्णऱच् चॉल्लिनुम् शॉल्लऱ्क
मुन्निन्ऱु पिन्नोक्काच् चॉल् ॥ ४ ॥

कटुवाणी है निन्द्य, किन्तु सम्मुख कह देना फिर भी क्षम्य[5],
किन्तु पीठ-पीछे की निन्दा है अनुचित सर्वथा अक्षम्य ॥ ४ ॥

किसी के सामने कटु वाक्य तो कहा जाना क्षम्य हो सकता है, परन्तु उसके पीठ पीछे बुराई करना सर्वथा अनुचित है ॥ ४ ॥

---

१ पीठ पीछे २ दूसरे की बुराई ३ मीठा बोलने वाला ४ घृणित ५ क्षमा करने योग्य, सहनीय ।

अऱम्सॉल्लुम् नॅञ्जत्तान् अन्मै पुऱम्सॉल्लुम्
पुन्मैयाऱ् काणप् पडुम् ।। ५ ।।

परनिन्दा में लीन, किन्तु नाना सद्गुण का नित्य बखान।
आडम्बर है, वाणी ही तक सीमित है उसका गुण-गान ।। ५ ।।

सदैव पर-निन्दा करने वाला अधम व्यक्ति यदि सद्गुणों का बखान करता है, तो उसके सद्गुण, वाणी तक ही सीमित और आडम्बर मात्र हैं ।। ५ ।।

पिऱन्पऴि कूऱुवान् तन्पऴि उळ्ळुम्
तिऱन्तॅरिन्दु कूऱप् पडुम् ।। ६ ।।

पर-छिद्रों[1] को लोगों के सम्मुख कहने में जिसको प्रीति,
उसके दोषों का बखान करता जग[2], यही लोक की रीति ।। ६ ।।

जो किसी के अवगुणों को उसकी अनुपस्थिति में दूसरे लोगों से कहता रहता है, उसके स्वयं के अवगुणों और छिद्रों को निश्चय दूसरे लोग कहने लगेंगे। [परनिन्दा करने वाले की निन्दा दूसरे लोग उसकी अनुपस्थिति में करने लगते हैं—यह स्वाभाविक नियम है।] ।। ६ ।।

पहच्चॉल्लिक् केळिर्प् पिरिप्पर् नहच्चॉल्लि
नट्पाडल् तेट्ऱा दवर् ।। ७ ।।

मृदु वचनों से ग़ैरों को जो मित्र बनाने में असमर्थ,
परनिन्दा से अपनों तक का नेह यही खोते हैं व्यर्थ ।। ७ ।।

जो मृदु वाणी से अन्य को अपना मित्र नहीं बना पाते, वे पीठ पीछे दूसरों की बुराई करके अपने सगे-सम्बन्धियों और मित्रों तक के मन से उतर जाते हैं ।। ७ ।।

तुन्नियार् कुट्ऱमुम् तूट्ऱुम् मरबिनार्
ऍन्नैकॉल् एदिलार् माट्टु ? ।। ८ ।।

नहीं चूकते, सगे-सनेही के दोषों का करें बखान,
ग़ैरों की कब ख़ैर कि बख्शें करें न उनका अवगुण-गान[3] ।। ८ ।।

जो अपने मित्रों की त्रुटियों को दूसरों के सामने रखने से नहीं बाज आते, वे अनजाने व्यक्तियों के दोष बखानने में क्या बाकी रखेंगे ।। ८ ।।

---

१ पराये दोषों २ संसार के लोग ३ बुराई करना ।

अऱत्तोक्कि आट्रुङ्कॉल् वैयम् पुऱत्तोक्किप्
पुन्सॉल् उरैप्पान् पॉऱै ॥ ९ ॥

पर-निन्दाकारी[1] अधमों का धरा वहन करती है[2] भार;
क्योंकि धरा का सहज धर्म है 'धारण करना' सर्व प्रकार ॥ ९ ॥

जो किसी की अनुपस्थिति में उसके लिए बुरी से बुरी बातें कहते हैं, ऐसे अधमों का भार पृथ्वी केवल इसलिए वहन करती है कि [अपने वक्षस्थल पर सब कुछ] वहन करना उसका सहज धर्म है ॥ ९ ॥

एदिलार् कुट्रम्पोल् तम्कुट्रम् काण्किऱ्पिन्
तीदुण्डो मन्नुम् उयिर्क्कु ? ॥ १० ॥

पर-छिद्रों की खोज सुहाती है; यदि मानव उसी प्रकार,
निज दोषों को खोज निकालें, तो मानव का क्या अपकार[3] ? ॥ १० ॥

यदि अपनी त्रुटियों का उसी प्रकार निरीक्षण कर लिया जाय जिस प्रकार दूसरे के छिद्रों (दोषों) को परखा जाता है, तो मनुष्य का क्या अहित हो जाय ? [पर छिद्रान्वेषण के बजाय अपनी त्रुटियों पर दृष्टि डालते रहने पर एक दिन मानवमात्र निर्दोष हो जाय।] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २०

पयनिल सॉल्लामै (वृथा बकवाद)

पल्लार् मुनियप् पयनिल सॉल्लुवान्
ऍल्लारुम् ऍल्लप् पडुम् ॥ १ ॥

जो अभ्यस्त[4] सदा करते रहने में अ-प्रिय[5] व्यर्थ बकवाद,
उन्हें तिरस्कृत[6] करता जग में उनका यह सर्वदा प्रमाद ॥ १ ॥

जो व्यक्ति वृथा बकवाद द्वारा लोगों को असंतुष्ट करता रहता है, वह सर्वत्र तिरष्कृत होता है ॥ १ ॥

पयनिल पल्लार्मुन् सॉल्लल् नयनिल
नट्टार्कट् सॅय्दलिन् दीदु ॥ २ ॥

---

१ पीठ पीछे दूसरे की बुराई करनेवाले २ ढोती है ३ क्या बुरा हो जाय
४ अभ्यास है, आदी हैं ५ बुरी लगनेवाली ६ अपमानित।

करना अहित स्वजन-प्रिय का, यद्यपि यह एक घोर दुष्कर्म !
कहन मात्र कटु, जनसमूह के सम्मुख, है गुरुतर[1] अपकर्म ।। २ ।।

समाज के सामने वृथा बातें कहना अपने मित्रों के साथ बुराई करने से अधिक घृणित कार्य है [मित्र बुराई करने पर भी क्षमा कर सकता है, किन्तु समाज बुराई कहने मात्र पर भी क्षमा न करेगा।] ।। २ ।।

नयऩिलन् ऍऩ्बदु सॉल्लुम् पयऩिल
पारित् तुरैक्कुम् उरै ।। ३ ।।

व्यर्थ प्रलाप[2] जिन्हें रुचिकारी, करें जल्पना[2] सदा असार,
ऐसे मूढों को दुनिया में है उपाधि बस निपट गवाँर ।। ३ ।।

असार प्रलाप करने वाले बकवादी व्यक्तियों को संसार गँवार (असभ्य) समझता है ।। ३ ।।

नयऩ्सारा नऩ्मैयिऩ् नीक्कुम् पयऩ्साराप्
पण्पिल् सॉल् पल्लार् अहत्तु ।। ४ ।।

व्यर्थ प्रयोजनहीन[3] बात से जनसमूह पर यही प्रभाव—
सदाचार, सद्‌गुण, नैतिकता का इस जन में निपट[4] अभाव ।। ४ ।।

जनसमूह के सामने व्यर्थ बातें करते रहना सद्‌गुण, सदाचार और नैतिकता के अभाव का लक्षण है ।। ४ ।।

सीर्मै सिऱप्पॉडु नीङ्गुम् पयऩिल
नीर्मै उडैयार् सॉलिऩ् ।। ५ ।।

दैवयोग से कभी योग्य जन जो बक चलें ताल-बेताल,
ख्याति और महिमा उनकी भी फीकी पड़ जाती तत्काल ।। ५ ।।

[यहाँ तक कि] जब सुयोग्य भद्रजन [किसी प्रमादवश] फ़िज़ूल बकवाद करने लगते हैं, तो उनकी भी ख्याति और सम्मान फीका पड़ जाता है ।। ५ ।।

पयऩिल्सॉल् पाराट्टु वाऩै मगऩ्ऍऩल्;
मक्कट् पदडि ऍऩल् ।। ६ ।।

व्यक्ति दम्भ में[5] झूम-झूम कर करता है जब आत्मप्रचार[6],
मानव क्या ? चोकर[7] के तद्वत् रह जाता वह मनुज असार ।। ६ ।।

---

१ और अधिक   २ बकवाद   ३ बेमतलब   ४ बिलकुल   ५ अहंकार में
६ बढ़-बढ़ कर बोलना   ७ अन्न की भूसी ।

व्यक्ति, जो दम्भ में व्यर्थ बखान करता रहता है, वह मनुष्य नहीं वरन् मनुष्यों में चोकर के सदृश है। [जिस प्रकार अन्न की भूसी अन्न का अंग होते हुए भी निस्सार होती है।] ॥ ६ ॥

नयऩिल सॉल्लिऩुम् सॉल्लुक साऩ्ऱोर्
पयऩिल सॉल्लामै नऩ्ऱु ॥ ७ ॥

क्षम्य, अगर ज्ञानी के मुख से निकलें कभी वचन-अज्ञान[1],
किन्तु अनर्गल[2] वचन ज्ञानियों के हैं कभी न शोभावान् ॥ ७ ॥

बुद्धिमानों को बुद्धि से परे वचन क्षम्य हो सकते हैं, परन्तु कभी मिथ्या प्रलाप उनके लिए शोभन नहीं ॥ ७ ॥

अरुम्पयऩ् आयुम् अऱिविऩार् सॉल्लार्
पॅरुम्पयऩ् इल्लाद सॉल् ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् से उदित सदा होते रहते हैं गूढ़ विचार;
सारयुक्त वाणी को तज कर कभी न कहते वचन असार ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति सदैव उच्च विचारों से प्रेरित रहते हैं। वे गंभीर और सारयुक्त वचनों के अलावा [व्यर्थ] कुछ नहीं कहते ॥ ८ ॥

पॉरुळ्तीर्न्द पॉच्चान्दुम् सॉल्लार् मरुळ्तीर्न्द
मासऱु काट्चि यवर् ॥ ९ ॥

सूक्ष्म दृष्टि के अधिकारी, निर्दोष वस्तुतः जो विद्वान्,
व्यर्थ जल्पना[3] के प्रमाद का निकट न उनके शान-गुमान[4] ॥ ९ ॥

सूक्ष्मदर्शी और सद्बुद्ध जन भूल से भी वृथा वचन नहीं कहते ॥ ९ ॥

सॉल्लुक सॉल्लिऱ् पयऩुडैय; सॉल्लऱ्क
सॉल्लिऱ् पयऩिलाच् चॉल् ॥ १० ॥

सारयुक्त मंगलवाणी बोलो—यह रहे सदा उद्योग।
उचित अन्यथा मौन[5], न समुचित व्यर्थ शब्द का कभी प्रयोग ॥ १० ॥

कहना है तो सारयुक्त और समुचित बात कहो। अन्यथा व्यर्थ बोलने से न बोलना श्रेयस्कर है ॥ १० ॥

---

१ नासमझी की बात २ अनुचित, वृथा ३ बकवाद ४ लेशमात्र ५ खामोशी।

अदिकारम् (अध्याय) २१

तीविनै अच्चम् (पाप-भय)

तीविनैयार् अञ्जार् विळुमियार् अञ्जुवर्
तीविनै ऎन्नुम् सॆरुक्कु ॥ १ ॥

दुराचारियों के उर में भय तनिक न करने में अपकर्म।
सदाचार-युत् भय खाते हैं सदा, न करते कभी अधर्म ॥ १ ॥

दुराचारियों को पातकों [के परिणाम] का भय नहीं होता। सद्-आचरणवाले व्यक्ति [सहजही] सदैव पापकर्म से डरते हैं ॥ १ ॥

तीयवै तीय पयत्तलाल् तीयवै
तीयिनुम् अञ्जप् पडुम् ॥ २ ॥

दुष्कर्मों से सदा फैलती रहती दुष्कर्मों की बेल—
दाहक[1] अधिक सदा पावक[2] से, पातक की क़ुदरत[3] का खेल! ॥ २ ॥

दुष्कर्मों से [नित्य नये] दुष्कर्म फूलते-फलते हैं [और दुष्कर्मी को पाप में उत्तरोत्तर फसाते रहते हैं,] इस कारण पापकर्मों से अग्नि की अपेक्षा अधिक डरना चाहिए। [क्योंकि अग्नि तो एक ही बार दग्ध करती है] ॥ २ ॥

अऱिविनुळ् ऎल्लाम् तलैऎन्ब तीय
सॆऱुवार्क्कुम् सॆय्या विडल् ॥ ३ ॥

पहुँचाये नुक़सान, उसे भी अनुचित पहुँचाना नुक़सान—
श्रेष्ठ बुद्धि का यह लक्षण है, उसी व्यक्ति का ज्ञान महान् ॥ ३ ॥

अपने प्रति बुराई करनेवालों को भी किसी तरह का अनिष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए—यह सर्वोपरि बुद्धिमत्ता है ॥ ३ ॥

मऱन्दुम् पिऱन्केडु सूळऱ्क; सूळिन्
अऱम्सूळुम् सूळ्न्दवन् केडु ॥ ४ ॥

भूले से भी हानि किसी को पहुँचाने की करता युक्ति,
प्रतिफल में उसका विनाश करती है सदा, धर्म की शक्ति ॥ ४ ॥

भूल से भी किसी के विरुद्ध षडयंत्र करना [और उसे हानि पहुँचाना]

---

१ जलानेवाला २ अग्नि ३ पाप से नये पापों की उत्पत्ति होती रहती है, यह पाप की सहज प्रकृति है।

उचित नहीं । क्योंकि धर्म, षडयंत्रकारी व्यक्ति का स्वयं विनाश कर देता है । [दूसरे के लिए गड्ढा खोदनेवाले के लिए प्रकृति ही विनाश की खाँई तैयार कर देती है] ॥ ४ ॥

इलन्‌ऎन्‌रु तीयवै सॅय्यर्‌क; सॅय्यिन्‌
इलन् आहुम् मट्रुम् पॅयर्त्तु ॥ ५ ॥

लाचारी-दीनता-विवश भी अनुचित है करना दुष्काम ।
'मिटती नहीं वरन् बढ़ती दीनता'—यही इसका परिणाम ॥ ५ ॥

गरीबी को कारण बनाकर किसी को पापकर्म नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने पर वह व्यक्ति और अधिक गरीबी [दरिद्रता] को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तीप्पाल तान्‌पिऱर्कट् सॅय्यर्‌क; नोय्प्पाल
तन्नै अडल्‌वेण्डादान् ॥ ६ ॥

तुम्हें न पहुँचे दुःख किसी से, ऐसी यदि उर में अभिलाष,
अहित किसी का सपने में भी करो न सोचो कभी विनाश ॥ ६ ॥

जो भी यह इच्छा रखता है कि उसे किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे, उसे यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह स्वयं भी किसी को कष्ट न पहुँचाये । [दूसरों को दुःख पहुँचानेवाले को अनेक ओर से दुःख पहुँचने लगते हैं—यह प्रकृति का नियम है] ॥ ६ ॥

ऎन्नैप्पहै उट्रारुम् उय्वर्; विन्नैप्पहै
वीयादु पिन्‌सॅन्‌ ऱडुम् ॥ ७ ॥

अहित किया जिनका वह, रिपु भी बख़्शें, भले न लें प्रतिकार[1],
दुष्कर्मों के कुपरिणाम[2] से किन्तु न जीवन में निस्तार[3] ॥ ७ ॥

मनुष्य अपने सब शत्रुओं से बच सकता है, [शत्रु क्षमा भी कर सकते हैं और उनके वार का निवारण भी असंभव नहीं है] परंतु स्वयं अपने दुष्कर्मों और पातकों के फल से किसी को छुटकारा संभव नहीं ॥ ७ ॥

तीयवै सॅय्दार् कॅडुदल् निऴल्तन्नै
वीयादु अडियुऱैन्‌ दट्रु ॥ ८ ॥

---

१ बदला २ बुरे नतीजे ३ छुटकारा ।

काया[1] की अनुवर्त्तिनि[2] छाया[3], संग न तजती किसी प्रकार,
उसी भाँति प्रस्तुत विनाश है वहाँ, जहाँ है पापाचार ॥ ८ ॥

जिस प्रकार छाया [मनुष्य के] साथ ही चलती है, उसी प्रकार दुष्कर्मियों के पीछे विनाश चलता है ॥ ८ ॥

तऩ्ऩैत्ताऩ् कादलऩ् आयिऩ् ऍऩैत्तॉऩ्ऱुम्
तुऩ्ऩऱ्क तीविऩैप् पाल् ॥ ९ ॥

जो अपने से प्रीति, आत्मा का यदि चहते हो कल्यान !
छोटे से छोटे पातक से बचना है कर्तव्य महान्‌ ॥ ९ ॥

यदि तुम अपने को प्यार करते हो [और अपना कल्याण चाहते हो] तो पापकर्म—फिर वह कितना भी सामान्य क्यों न मालूम हो—उससे सदैव दूर रहो ॥ ९ ॥

अरुङ्गेडऩ् ऍऩ्ब तऱिक मरुङ्गोडित्
तीविऩै सॅय्याऩ् ऍऩिऩ् ॥ १० ॥

सदा पाप से विमुख, सुपथ[4] पर चलने में ही जिसका ध्यान,
धर्म-वर्म[5] से आरक्षित सर्वदा सुखी ऐसा इन्सान ॥ १० ॥

ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति पाप-पथ से दूर रह कर सन्मार्ग पर चलता है, वही विनाश से सदा सुरक्षित है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २२

ऑप्पुरवऱिदल् (समाज के प्रति कर्त्तव्य)

कैम्माऱु वेण्डा कटप्पाडु मारिमाट्
टॅऩ्ऩाट्ऱुम् कॉल्लो उलगु ॥ १ ॥

विना स्वार्थ सेवा समाज की, मानव का कर्तव्य महान्‌;
विना लाभ के, मेघ धरा पर करते रहते हैं जलदान ॥ १ ॥

[किसी के प्रति] कर्त्तव्य करने [के बदले] में प्रत्युपकार की अभिलाषा अनुचित है। धरती के प्राणी मेघों को वर्षा के बदले क्या पारिश्रमिक दे सकने में समर्थ हैं ?॥ १ ॥

---

१ शरीर २ पीछे चलनेवाली ३ परछाहीं ४ सन्मार्ग ५ धर्म रूपी कवच ।

ताळाट्रित् तन्द पॉरुळ्ऍल्लाम् तक्कार्क्कु
वेळाण्मै सॅय्दऱ् पॉरुट्टु ॥ २ ॥

कठिन कमाई पर, बिलास या सञ्चय का न तुम्हें अधिकार!
'परहित में उसको व्यय करना'—यही धर्म है सर्व प्रकार ॥ २ ॥

अथक परिश्रम से अर्जित सकल धन जरूरतमंदों के लिए है। [अपने विलास अथवा संचय के लिए नहीं] ॥ २ ॥

पुत्तेळ् उलहत्तुम् ईण्डुम् पॅऱल्अरिदे
ऑप्पुरविन् नल्ल पिऱ ॥ ३ ॥

सर्वोपरि गुण है उदारता धरती और स्वर्ग पर्यन्त।
परउपकारी की महिमा है [तीन लोक में] अतुल अनन्त ॥ ३ ॥

स्वर्ग और पृथ्वीमात्र में उदारता और परोपकार से बढ़कर गुण [और सुख] नहीं है, इसलिए समाजसेवा का सुअवसर कभी न खोओ ॥ ३ ॥

ऑत्त दरिवान् उयिर्वाऴ्वान्; मट्रैयान्
सॅत्तारुळ् वैक्कप् पडुम् ॥ ४ ॥

जीवित वही, जिसे अन्यों के प्रति, निज कर्त्तव्यों का ज्ञान।
जिनको इसका ज्ञान नहीं, वे जीवन रहते मृतक समान ॥ ४ ॥

दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य को जाननेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः जीवित है। जिनको इसका ज्ञान नहीं वे [जीवित रहते भी] मृतक समान हैं ॥ ४ ॥

ऊरुणि नीर्निऱैन्दु अट्रे उलहवाम्
पेररि वाळन् तिरु ॥ ५ ॥

ग्राम-सरोवर औ' प्रबुद्ध दानी का धन—ये एक समान;
सदा पूर्ण ये जल से, धन से—करते रहते जग-कल्यान ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् और उदार आत्माओं का धन तो एक ग्राम-सरोवर के समान है, जिसमें तट तक अगाध जल भरा हो ॥ ५ ॥

पयन्मरम् उळ्ळूर्प् पऴुत्तट्रार् सॅल्वम्
नयनुडै यान्गट् पडिन् ॥ ६ ॥

फल से लदा ग्राम-तरु[1] जैसे निस्पृह[2] करता है फल-दान—
उपकारी समाजसेवी के धन का हेतु[3] सर्वदा दान ॥ ६ ॥

दानी व्यक्तियों का धन तो उस फलयुक्त वृक्ष की तरह है जो ग्राम में सदैव सब को निष्काम रहकर फल देता रहता है ॥ ६ ॥

मरुन्दाकित् तप्पा मरत्तट्राऱ् सॅल्वम्
पॅरुन्दहै यान्कट् पडिऩ् ॥ ७ ॥

मुक्तहस्त[4] के धन की उपमा समझो उस तरुवर[5] के संग,
जगहित में औषध स्वरूप हैं आते काम अंग-प्रत्यंग ॥ ७ ॥

उदार महान् आत्माओं का धन तो उस वृक्ष के समान है जिसका प्रत्येक भाग अचूक औषध के समान सब को सुख देने ही के लिए है ॥ ७ ॥

इडऩिल् परुवत्तुम् ऑप्पुरविऱ् कॉल्हाऱ्
कडऩऱि काट्चि यवर् ॥ ८ ॥

जिनको है सद्बुद्धि, न उनसे कभी विलग पर-हित का भाव ।
सब के हित में लगे, न उनको कभी सताता अर्थाभाव[6] ॥ ८ ॥

विवेकवान् व्यक्ति, अर्थसंकट में भी दूसरों के प्रति उदार रहते हैं [और अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हैं । धनत्रस्त होने पर भी ज़रूरतमंद की सहायता करने से नहीं चूकते । धन की सहायता ही सर्वोपरि सहायता नहीं है] ॥ ८ ॥

नयऩुडैयान् नल्कूर्न्दाऩादल् सॅयुन्नीर
सॅय्या तमैहला वारु ॥ ९ ॥

परउपकारी, पर-सेवा में अपने को पाता जब व्यर्थ,
तभी समझता है अपने को सचमुच दीन, दुखी, असमर्थ ॥ ९ ॥

वृद्ध-पंगु की भाँति जब दानशील व्यक्ति अपने को दान कर सकने में असमर्थ पाता है, तभी वह अपने को दीन-धनहीन समझता है । [दानशील के लिए दान करने में असमर्थ और लाचार हो जाना ही सब से बड़ी गरीबी है] ॥ ९ ॥

---

१ गाँव का वृक्ष २ निष्काम ३ उद्देश्य, उपयोग ४ खुले हाथ से दान देनेवाला ५ श्रेष्ठ वृक्ष ६ धन का अभाव ।

आॅप्पुरवि ऩाल्वरुम् केडॅऩिऩ् अक्दॉरुवन्
विट्रुक्कोळ् तक्क दुडैत्तु ॥ १० ॥

निज को भी बेचना श्रेय[1] यदि होता है समाज-उपकार;
परहित में अपने तन की आहुति देते हैं पुरुष उदार ॥ १० ॥

दूसरों का हित करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए; चाहे उसके लिए स्वयं अपने ही को विक्रय करना पड़े। [परोपकार और समाजसेवा से बढ़ कर कुछ भी मूल्यवान् नहीं] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २३
ईकै (दान)

वऱियार्क्कॉन्ऱीवदे ईगै; मट्रॅल्लाम्
कुऱिएॅदिर्प्पै नीरदु उडैत्तु ॥ १ ॥

दीनों को, दुखियों को देना—यही वस्तुतः सच्चा दान।
दान अन्यथा[2], दान नहीं है, वह केवल है क़र्ज़ समान ॥ १ ॥

दीन-दुखियों को दान देना ही सच्चा दान है। अन्य लोगों को दान देना ऋण के तुल्य है। उसके साथ [धन, यश, सम्मान आदि के लाभ और] प्रत्युपकार की लालसा युक्त है ॥ १ ॥

नल्ला ऱॅऩिऩुम् कॉळल्तीदु; मेलुलहम्
इल्लॅऩिऩुम् ईदले नन्ऱु ॥ २ ॥

यद्यपि हो उपलब्ध स्वर्ग, फिर भी निन्दित है 'लेना दान'।
'देना दान' धर्म अनुपम है, भले स्वर्ग की होवे हानि ॥ २ ॥

दान लेना अच्छा नहीं है, भले ही उससे स्वर्ग की राह भी उपलब्ध हो। दान देना [बेशक] सर्वोपरि धर्म है, भले ही उससे स्वर्ग की भी हानि होती हो। [दीनातिदीन भी दान पाकर लज्जित ही होता है; जबकि दान देने वाले को संकटकाल में भी आत्म-संतोष रहता है—यह मानव-स्वभाव है] ॥ २ ॥

इलनॅन्नुम् एॅव्वम् उरैयामै ईदल्
कुलनुडैयान् कणणे उळ ॥ ३ ॥

---

१ कल्याणकारी २ और प्रकार से दिया गया दान।

दान हेतु अर्पण कर देते सकल, न कहते कभी अभाव[१] ।
सब कुछ देकर 'दीन' न बनते, यही श्रेष्ठ मानवी स्वभाव ।। ३ ।।

श्रेष्ठ जनों का यह लक्षण है कि वे सुपात्र को सब कुछ दान कर देते हैं, और उनके मुख से यह कभी नहीं निकलता कि 'हमारे पास अभाव है, हम तो असमर्थ हैं' ।। ३ ।।

इन्ना दिरक्कप् पडुदल् इरन्दवर्
इन्मुहम् काणुम् अळवु ।। ४ ।।

आरत[२] की पुकार दुखदायी उसी घड़ी तक है प्रतिकूल,
जब तक तृप्त दीन को करके हरें न उसके उर की शूल ।। ४ ।।

भिक्षुक की पुकार अच्छी नहीं लगती । किन्तु यह उसी समय तक, जब तक दाता दान देकर उस दीन के मुख को तुष्टि से प्रसन्न नहीं कर देता ।। ४ ।।

आट्रुवार् आट्रल् पसियाट्रल्; अप्पसियै
माट्रुवार् आट्रलिर् पिन् ।। ५ ।।

जिन्हें क्षुधा पर क़ाबू है, वे हैं तपसी-संयमी महान् ।
क्षुधा-निवारण करें[३] दूसरों की, वे अधिक श्रेष्ठ तपवान् ।। ५ ।।

अपनी क्षुधा [अथवा अन्य अभावों] की पीड़ा पर विजय प्राप्त करना निश्चय ही संयम और आत्मबल का परिचायक है; किन्तु दूसरों की क्षुधाग्नि अथवा दुःखो को शान्त करना उससे भी अधिक संयम और आत्मबल है ।। ५ ।।

अट्रार् अळिपसि तीर्त्तल्; अक्दॉरुवन्
पॅट्रान् पॉरुळ्वैप् पुळि ।। ६ ।।

जिनके धन से भोजन पाकर दुखियों का मिटता है त्रास;
अक्षयकोष[४] तुल्य संचित, उनके धन का है कभी न ह्रास[५] ।। ६ ।।

क्षुधा से त्रस्त दुखियों को भोजन देना उसी प्रकार है जैसे कोई भाग्यवान् अपने धन को निश्चित अपरिमित लाभ के लिए लगाये । [अथवा अक्षय कोष में जमा करे] ।। ६ ।।

---

१ कभी नहीं कहते कि हमारे पास तो कुछ देने को नहीं है २ दुखी, भिक्षुक ३ भूख मिटा दें ४ कभी खाली न होने वाला ख़जाना ५ घटाव, कमी ।

पात्तूण् मरीइ यवऩैप् पसिएॅऩ्ऩुम्
तीप्पिणि तीण्डल् अरिदु ।। ७ ।।

अपने भोजन में भूखों को सदा बनाते भागीदार[1] ।
सदा तृप्त, उनके जीवन में नहीं क्षुधा का है सञ्चार ।। ७ ।।

जो अपने भोजन में से सदैव भूखों को भाग देकर खाता है, उसे क्षुधा कभी नहीं सताती ।। ७ ।।

ईत्तुवक्कुम् इऩ्बम् अऱियार्कॉल् तामुडैमै
वैत्तिऴक्कुम् वऩ्क णवर् ।। ८ ।।

धन-सञ्चय में लीन जनों का धन होता अन्ततः विलीन;
मिला न धन का सुक्ख, दान के सुख से भी वे रहे विहीन ।। ८ ।।

जो कृपणता से धन का सञ्चय करते हैं और अन्त में गवाँ बैठते हैं, उन्होंने कभी भी अन्य लोगों को प्रेम से दान देने में सुलभ आनन्द का स्वाद नहीं पाया । [अन्यथा, उस नैसर्गिक आनन्द को त्याग कर कृपणता द्वारा अपने धन का दुरुपयोग और नाश न करते ।] ।। ८ ।।

इरत्तलिऩ् इऩ्ऩादु मऩ्ऱ निरप्पिय
तामे तमियर् उणल् ।। ९ ।।

भिक्षा निश्चय दुसह ताप है, उससे घोर किन्तु सन्ताप,
एकाकी[2] जब संचित धन को मानव कभी बिलसता आप ।। ९ ।।

भिक्षा मांगना नितांत दुखदायी है, लेकिन अपने धन को दूसरों को दिये विना अकेले उपभोग करना [भिक्षा मांगने से भी] अधिक दुख का हेतु है ।। ९ ।।

सादलिऩ् इऩ्ऩाद दिल्लै; इऩिददूउम्
ईदल् इयैयाक् कडै ।। १० ।।

मृत्यु क्लेशकर, किन्तु मृत्यु से बढ़कर है जीवन का क्लेश ।
दानशील असमर्थ, दान हित जब धन उसके पास न शेष[3] ।। १० ।।

मृत्यु अत्यन्त दुखदायी है, किन्तु [दानशील के लिए] दीन की सहायता में असमर्थ होना [जीवन रहते भी मृत्यु से] अधिक दुखदायी है ।। १० ।।

---

१ हिस्सेदार २ अकेले ३ जब दान देने को धन नहीं रहता ।

अदिकारम् (अध्याय) २४

पुहळ् (कीर्त्ति)

ईदल् इसैपड वाळ्दल्; अदुवल्लदु
ऊदियम् इल्लै उयिर्क्कु ॥ १ ॥

अक्षय कीर्त्ति करें अर्जन, देकर सुपात्र को खुलकर दान—
इससे बढ़कर लाभ न जग में, नहीं और कर्त्तव्य महान् ॥ १ ॥

दान देकर कीर्त्ति अर्जन करने की अपेक्षा जीवन में कोई अधिक लाभ नहीं है ॥ १ ॥

उरैप्पार् उरैप्पवै ऍल्लाम् इरप्पार्क्कॉन्
ऱीवार्मेल् निऱ्कुम् पुहळ् ॥ २ ॥

दीनों को, दुखियों को देते रहते आजीवन जो दान,
जन-जन की जबान पर उनकी महिमा का होता यशगान ॥ २ ॥

दीनों और ज़रूरतमंदों को दान देनेवालों के यश की महिमा की सर्वत्र चरचा होती है ॥ २ ॥

ऑन्ऱा उलहत् तुयर्न्द पुगळ्ल्लाल्
पॉन्ऱादु निऱ्पदॉन् ऱिल् ॥ ३ ॥

नाशवान् धन-धाम-सम्पदा का जग में निश्चित है अन्त;
एक मात्र बस धवल कीर्त्ति की विमल ध्वजा है सदा अनन्त ॥ ३ ॥

यशस्वी व्यक्ति की कीर्त्ति ही संसार में अमर रहती है। शेष सब कुछ नाशवान् है ॥ ३ ॥

निलवरै नीळ्पुहळ् आट्ऱिऱ् पुलवरैप्
पोट्ऱादु पुत्तेळ् उलगु ॥ ४ ॥

सदाचार से धरा-धाम पर अर्जित कर ली कीर्त्ति महान्,
देवों से भी अधिक, स्वर्ग तक में, उनको मिलता सम्मान ॥ ४ ॥

स्वर्ग में देवताओं से भी अधिक सम्मान उनको प्राप्त होता है जो इस पृथ्वी पर अक्षय कीर्त्ति से विभूषित होते हैं ॥ ४ ॥

नत्तम्बोर् केडुम् उळदाहुम् साक्काडुम्
वित्तकर्क् कल्लाल् अरिदु ॥ ५ ॥

मर कर अमर सदा ज्ञानी हैं, क्योंकि अमर उसका यशगान;
कभी न वह धनहीन, सुकर्मों की सुकीर्त्ति से वह धनवान् ॥ ५ ॥

बुद्धिमानों के लिए मृत्यु भी जीवन है और गरीबी भी ऐश्वर्य है [क्योंकि मरणोपरांत भी उनकी कीर्त्ति उनको जीवित रखती है, और सत्कार्य करते रहने से उनके यश को गरीबी नहीं रोक पाती] ॥ ५ ॥

तोऩ्ऱिऱ् पुहऴॉडु तोऩ्ऱुक; अक्दिलार्
तोऩ्ऱलिट् ऱॉऩ्ऱामै नऩ्ऱु ॥ ६ ॥

जियो यशस्वी होकर जग में, यदि जन्मना[1] तुम्हें दरकार[2] !
जीवन व्यर्थ बिना कीरति के जग में, जन्म हुआ बेकार ॥ ६ ॥

यदि [पृथ्वी पर] जन्म लो तो यशस्वी होकर रहो। [अन्यथा ऐसे जन्म और जीवन से मृत्यु अच्छी] ॥ ६ ॥

पुहऴ्पड वाऴादार् तन्नोवार् तम्मै
इहऴ्वारै नोव दॅवऩ् ॥ ७ ॥

यश को तज कर कुयश कमाते, नहीं देखते अपना दोष,
अपयश की निन्दा करनेवालों पर वृथा दिखाते रोष[3] ॥ ७ ॥

जो कीर्त्ति अर्जन करने में असमर्थ हैं और अपकीर्त्ति कमाते हैं, ऐसे कुख्यात जन, अपने दोषों की ओर ध्यान न देकर, अपनी आलोचना करने वालों से क्यों नाराज़ होते हैं ?॥ ७ ॥

वसैएॅऩ्ब वैयत्तार्क् कॅल्लाम् इसैएॅऩ्ऩुम्
एॅच्चम् पॅऱाअ विडिऩ् ॥ ८ ॥

सदाचार-सत्पथ पर चल कर जो न जगत् में छोड़ी कीर्त्ति,
तो मानव-जीवन धिक् समझो, केवल हाथ लगी अपकीर्त्ति ॥ ८ ॥

संसार में व्यक्ति के लिए यह लज्जा की बात है, यदि वह जीवन के उपरांत कीर्त्ति छोड़ने में समर्थ न रहा ॥ ८ ॥

वसैइला वण्पयऩ् कुऩ्ऱुम् इसैइला
याक्कै पॉऱुत्त निलम् ॥ ९ ॥

दुर्लभ यशी[4], जहाँ की धरती ढोती बदनामों का भार,
उस प्रदेश के सुख-वैभव का मानो है समीप संहार ॥ ९ ॥

---

१ जन्म लेना २ अभिलाषा ३ क्रोध ४ जहाँ यशस्वी जनों का अभाव है।

यशहीन और कुख्यात व्यक्तियों के भार से जो धरती दबी है, वह प्रदेश सर्वनिधि-सम्पन्न होते हुए भी दरिद्र हो जायगा ॥ ९ ॥

वसैऑळिय वाळ्वारे वाळ्वार् इसैऑळिय
वाळ्वारे वाळा दुवर् ॥ १० ॥

यश जीवन है, सफल जगत् में एकमात्र जीवन यशवान् ।
निष्फल अपयश का जीवन है, जीवन रहते मृतक समान ॥ १० ॥

संसार में वस्तुतः उन्हीं का जीवन सफल है जो यशस्वी हैं । और सचमुच उनका जीवन निष्फल है जिन्होंने अपयश की कमाई की है ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २५
अरुळुडैमै (दया-भावना)

अरुट्सॅल्वम् सॅल्वत्तुट् सॅल्वम्; पॉरुट्सॅल्वम्
पूरियार् कण्णुम् उळ ॥ १ ॥

निधियों में सर्वोपरि निधि है करुणामय भावना उदार ।
अन्य धनों पर तो अधमाधम[1] को भी सदा सुलभ अधिकार ॥ १ ॥

सहृदयता, समस्त धनों में सब से बड़ा धन है । सांसारिक धन और सम्पत्तियाँ तो अधम से अधम व्यक्तियों के पास भी रहती हैं ॥ १ ॥

नल्लाट्ऱाल् नाडि अरुळाळ्ह; पल्लाट्ऱाट्
ऱेरिनुम् अक्दे तुणै ॥ २ ॥

आत्मीय-करुणा उर में रख, सब जीवों पर रहो उदार ।
सकल मतों में मत समान है—'करुणा' है मुक्ती का द्वार[2] ॥ २ ॥

सन्मार्ग पर रह कर सम्पूर्ण जीवों के प्रति करुणा [और आत्मीयता] का भाव रखो । [अनेक मत-मतान्तर रहते हुए भी संसार के] सभी धर्म दया को मुक्ति का द्वार कहते हैं ॥ २ ॥

अरुळ्सेर्न्द नॅञ्जिनार्क् किल्लै इरुळ्सेर्न्द
इन्ना उलहम् पुहल् ॥ ३ ॥

---

१ नीचों में नीच २ यह सभी धर्मों को मान्य है ।

सहृदयता की दिव्य ज्योति का जिनके उर में दिव्य प्रकाश,
कभी सताता उन्हें न जग का अंधकारमय दारुण त्रास ॥ ३ ॥

जिनके हृदय दया और करुणा की ज्योति से प्रकाशमान हैं, वे व्यक्ति संसार के दुःखों और अन्धकारों में ग्रस्त नहीं होते ॥ ३ ॥

मन्नुयिर् ओम्बि अरुळाळ्वार्क् किल्ऍन्ब
तन्नुयिर् अञ्जुम् विनै ॥ ४ ॥

सब पर नेह, दया सबके प्रति—ऐसा जो आत्मा उदार,
पापों के त्रय-तापों[1] से वह त्रस्त न होता किसी प्रकार ॥ ४ ॥

सारे जीवों के प्रति दया और सहानुभूति का भाव रखनेवाले व्यक्तियों के आत्मा को कभी पाप-ताप स्पर्श नहीं करता। [शरीर से पातक होना असंभव नहीं है, किन्तु सर्वभूतों के प्रति दया का आचरण करनेवाले का आत्मा उन पापों के भोगों में त्रस्त नहीं होता] ॥ ४ ॥

अल्लल् अरुळाळ्वार्क् किल्लै; वळिवळङ्गुम्
मल्लल्मा ञालम् करि ॥ ५ ॥

सुख-समृद्धि-सम्पन्न धरा कहती यह 'सत्य' पुकार-पुकार—
'दयावन्त को नहीं सताते संसारी दुख किसी प्रकार' ॥ ५ ॥

अगाध सुख-समृद्धि से भरी-पुरी यह पृथ्वी साक्षी देती है कि दया के गुण से अलंकृत व्यक्ति ही सर्वदा दुःख और पीड़ा से मुक्त रहते हैं। [क्योंकि दया से प्राप्त सुख-शान्ति का ह्रास नहीं होता। दूसरे सारे सुख होते-मिटते रहते हैं] ॥ ५ ॥

पॉरूळ् नीङ्गिप् पॉच्चान्दार् ऍन्बर् अरुळ्नीङ्गि
अल्लवै सॅय्दॉळुहु वार् ॥ ६ ॥

दयाभाव का त्याग, और नित करते रहते हैं अन्याय,
कभी न खुलता उनके जीवन में धन का, यश का अध्याय ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति दया-भाव का त्याग कर अन्याय-कर्म करते हैं, उन्हें धन और यश कभी प्राप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

अरुळिल्लार्क् कव्वुलहम् इल्लै; पॉरुळिल्लार्क्
किव्वुलहम् इल्लाहि याङ्गु ॥ ७ ॥

---

१ दैहिक, दैविक और भौतिक तीन प्रकार के क्लेश।

धन से रहित निरीह[1] जनों का नहीं लोक में है निर्वाह।
दया-रहित का, लोक छोड़ परलोक तलक में नहीं निबाह ॥ ७ ॥

यह लोक निर्धन लोगों के रहने योग्य नहीं है। किन्तु दया से विहीन व्यक्ति के लिए [तो न केवल यह लोक वरन्] परलोक में स्थान नहीं है ॥ ७ ॥

पॉरुळट्ट्रार् पूप्पर् ऑरुहाल्; अरुळट्ट्रार्
अट्ट्रार्मट्ट्र् ट्रादल् अरिदु ॥ ८ ॥

धन होने पर नष्ट, असंभव नहीं कि निर्धन हो धनवान्।
दयाहीन निर्मम[2] को हासिल कभी न सुख, वैभव, सम्मान ॥ ८ ॥

जिनका धन नष्ट हो चुका है, वे एक दिन पुनः धनवान् हो सकते हैं; किन्तु जिनमें दया रूपी सद्गुण नष्ट हो चुका है, वे फिर कभी समुन्नत नहीं हो सकते ॥ ८ ॥

तॅरुळादान् मॅय्प्पॉरुळ् कण्डट्ट्राल् तेरिन्
अरुळादान् सॅय्युम् अट्रम् ॥ ९ ॥

हृदयहीन का दान! भला इस दान-तामसी का क्या अर्थ ?
'सत्य-खोज' में लगा नासमझ—दोनों ही समान हैं व्यर्थ ॥ ९ ॥

जिसके मन में दया का भाव नहीं है और वह दान देता है, तो उसका दान उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार नासमझ व्यक्ति के द्वारा सत्य की खोज करना [जिस प्रकार सत्य को पहचानने के लिए बुद्धि-विवेक ज़रूरी है, उसी प्रकार दान-धर्म के लिए दया अनिवार्य है] ॥ ९ ॥

वलियार्मुन् तन्नै निनैक्क; तान् तन्निन्
मॅलियार्मेर् सॅल्लुम् इडत्तु ॥ १० ॥

पराभूत[3], निर्बल को, करते-क्षण, अपने को लो पहचान !
सबल-सामना पड़ने पर अपनी हालत का कर लो ध्यान ॥ १० ॥

अपने से निर्बल को दबा कर गर्व अनुभव करने के समय यह ध्यान कर लेना चाहिए कि अपने से सबल के सामने हमारी भी कैसी दयनीय स्थिति होती है ॥ १० ॥

---

१ बेचारे २ ममता-हीन ३ पराजित ।

अदिकारम् (अध्याय) २६

पुलाल् मरुत्तल् (मांसभक्षण-निरोध)

तन्नून् पॅरुक्कर्कुत् तान्पिरि दून्उण्बान्
एँङ्ङनम् आळुम् अरुळ्? ॥ १ ॥

मास चढ़ाने को निज तन पर, भक्षण करे अन्य का मास—
ऐसे हृदयहीन के उर में दया-धर्म का कहाँ निवास ? ॥ १ ॥

अपने मांस-पोषण के लिए, जो दूसरों का मांस भक्षण करता है, क्या उसके हृदय में कभी करुणा का वास संभव है ? ॥ १ ॥

पॉरुळाट्चि पोट्रादार्क् किल्लै; अरुळाट्चि
आङ्गिल्लै ऊन्दिन् पवर्क्कु ॥ २ ॥

अपव्ययी[1] के पास, न धन का सञ्चय संभव किसी प्रकार;
मांसखोर में, उसी भाँति दुर्लभ है करुणा का सञ्चार ॥ २ ॥

जिस प्रकार अपव्ययी (फ़िज़ूल ख़र्च करनेवाले) के पास धन का सञ्चय सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मांसभक्षी के हृदय में दया-भाव की गुंजाइश नहीं ॥ २ ॥

पडैकॉण्डार् नॅञ्जम्पोल् नन्नूक्का तॉन्रन्
उडल्सुवै उण्डार् मनम् ॥ ३ ॥

अस्त्र-शस्त्र से वध करना—हत्या करना कठोर दुष्कर्म ।
सेवन-मांस बिना वध के भी, उसी भाँति है निर्मम कर्म ॥ ३ ॥

अस्त्र से [जीव का] वध करनेवाले के समान ही [किसी जीव का] मांस भक्षण करनेवाला भी निर्दय और कठोर होता है । [हत्या न करके केवल मांस का स्वाद ही लिया है—इतने से वह व्यक्ति कम अपराधी नहीं । वधिक भी खानेवाले ही के लिए वध करता है ।] ॥ ३ ॥

अरुळल्ल दियादॅनिन् कॉल्लामै कोरल्
पॉरुळल्ल तव्वून् तिनल् ॥ ४ ॥

सदा 'अहिंसा' धर्म, धर्म-विपरीत 'जीव-हिंसा' का कर्म;
भक्षक और बधिक का प्रेरक—सामिष-भोजन[2] परम अधर्म ॥ ४ ॥

किसी की हत्या न करना धर्म है और किसी जीव की हत्या करना निश्चय अधर्म है । किन्तु स्वयं वध न करके दूसरों द्वारा वध किये गये शरीर का मांस भक्षण करना तो महान् अधर्म है । [क्योंकि मांस-भक्षण,

---

१ फ़िज़ूलखर्च २ मांसयुक्त भोजन ।

और वधिक को वध के लिए अवसर तथा उत्साह प्रदान करना—मांसभक्षी के ये दो अपराध हैं] ॥ ४ ॥

उण्णामै उळ्ळ तुयिर्निलै; ऊऩुण्ण
अण्णात्तल् सॅय्या तळऱु ॥ ५ ॥

जो बच सके मांस-सेवन से, मानो जीत लिया संसार,
रुचिर मांस की नरक-अग्नि में फँस कर फिर न कभी उद्धार ॥ ५ ॥

मांस-भोजन से विमुख रहने वाले सदा सुखी रहते हैं। [क्योंकि] एक बार नरकाग्नि में पड़कर, मांसाहारी व्यक्ति फिर कभी छुटकारा नहीं पा सकते ॥ ५ ॥

तिऩऱ्पॉरुट्टार् कॉळ्ळा तुलकॅऩिऩ् यारुम्
विलैप्पॉरुट्टाल् ऊऩ्तरुवार् इल् ॥ ६ ॥

तज दें मांस-अहार, भला फिर वध-विक्रय की[1] क्या दरकार[2]?
भक्षक वध-विक्रय का प्रेरक[3], वही पाप का मूलाधार ॥ ६ ॥

[हम मांस का भोजनमात्र करते हैं, किसी का हनन नहीं करते—ऐसा कहनेवाले प्रमादी जनों को समझना चाहिए कि] यदि लोग मांस-भोजन से विमुख होजायँ तो फिर कोई व्यक्ति किस लोभ में जीव को मार कर उसका मांस विक्रय करेगा ?॥ ६ ॥

उण्णामै वेण्डुम् पुला अल् पिऱिदॊऩ्ऱऩ्
पुण्ण तुणर्वार्प् पॅऱिऩ् ॥ ७ ॥

किसी जीव का कटा, घिनौना, दूषित अंग मात्र है मास।
ऐसा जिसको ज्ञात, कौन फिर जाय मांस-भक्षण के पास ॥ ७ ॥

जो लोग यह अनुभव करते हैं कि मांस किसी जीवित प्राणी [को काट कर उस] का एक घृणित लोथड़ा मात्र है, वे सदैव मांस-भक्षण से विमुख रहेंगे ॥ ७ ॥

सॅयिरिट् ऱलैप्पिरिन्द काट्चियार् उण्णार्
उयिरिट् ऱलैप्पिरिन्द ऊऩ् ॥ ८ ॥

बुद्धि-पवित्र विवेकी जन से, कभी न संभव मांस-अहार!
क्योंकि ज्ञान है—मांस, किसी मुर्दे का अंशमात्र मुर्दार[4] ॥ ८ ॥

समझदार और निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति कभी मांस-

---

१ पशु मारना और मांस बेचना, दोनों की २ आवश्यकता ३ प्रेरणा देनेवाला ४ प्राणहीन।

भक्षण नहीं कर सकते; क्योंकि [उनको ज्ञान है कि] मांस जीवन-रहित मुर्दा शरीर [का अंश] मात्र है ॥ ८ ॥

अविसॉरिन् दायिरम् वॅट्टलिन् ओन्ऱन्
उयिर्सॅहुत् तुण्णामै नन्ऱु ॥ ९ ॥

सदा निरामिष[1], सदा अहिंसक[2]—ऐसा जो पवित्र ऋतवान्[3],
वह सहस्र घृत-आहुतियों के 'होता'[4] से भी अधिक महान् ॥ ९ ॥

जिसने किसी जीव को नहीं मारा है और न किसी का मांस खाया है, वह घी की हज़ारों यज्ञ-आहुतियों के देनेवाले से श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

कॉल्लान् पुलालै मऱुत्तानैक् कैकूप्पि
ऍल्ला उयिरुम् तॉळुम् ॥ १० ॥

नहीं किसी से हिंसा करता, नहीं किसी का मांसाहार—
ऐसे पावन जन के चरणों का पूजन करता संसार ॥ १० ॥

संसार के सभी प्राणी उस व्यक्ति की करबद्ध पूजा करेंगे, जो न कभी जीव-हत्या करता है और न कभी मांस-भक्षण करता है; क्योंकि उस अहिंसक महान् आत्मा के मार्ग से ही उन सब के प्राणों को अभय मिल सकता है।] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २७

तवम् (तप, संयम)

उट्ऱनोय् नोन्ऱल् उयिर्क्कुऱुहण् सॅय्यामै
अट्ऱे तवत्तिऱ् कुरु ॥ १ ॥

क्षति न किसी को पहुँचाये जो, स्वयं कष्ट सह सके सहर्ष—
यही संयमी का सच्चा तप, यही तपस्या का उत्कर्ष[5] ॥ १ ॥

बिना किसी को क्षति पहुँचाये, कष्टों को स्वयं दृढ़ता से सहना सच्ची तपस्या है ॥ १ ॥

तवमुम् तवमुडैयारक काहुम्; अवम् अदनै
अक्दिलार् मेर्कॉळ् वदु ॥ २ ॥

तप में वही समर्थ, जिन्हें भूलों पर होता है अनुताप।
तप के लिए अयोग्य शेष जन, उन्हें तपस्या है संताप ॥ २ ॥

---

१ मांस न खानेवाला २ हत्या अथवा हानि न करनेवाला ३ याज्ञिक ४ यज्ञ में आहुति देनेवाला ५ श्रेष्ठता।

अपनी दुर्बलताओं पर अनुताप और प्रायश्चित्त करनेवाले संयमी जन ही तप में सफल होते हैं। अन्य के लिए तपस्या से कोई लाभ नहीं होता ॥ २ ॥

तुऱन्दार्क्कुत् तुप्पुरवु वेण्डि मऱन्दार्कॉल्
मट्रै यवर्कळ् तवम्! ॥ ३ ॥

सद्गृहस्थ हैं, किन्तु न लेते जन-जीवन से कभी विराग।
क्योंकि तापसों[1] की सेवा से उनको कहीं अधिक अनुराग ॥ ३ ॥

सद्गृहस्थों ने तप के लिए वैराग्य नहीं साधा है—यह केवल इसलिए कि संयासियों की सेवा-सहायता में वे लगते हैं। [जन-कल्याण के लिए तपारूढ़ संन्यासी की सेवा करके गृहस्थ भी तपस्वी के समान ही श्रेष्ठ है] ॥ ३ ॥

ओन्नार्त् तॅऱलुम् उवन्दारै आक्कलुम्
ऍण्णिट् ऱवत्तान् वरुम् ॥ ४ ॥

तप की शक्ति अनन्त! तपी[2] की इच्छामात्र सदा साकार[3]!
सुहृदों का कल्याण, दुर्दमन[4] रिपुओं का क्षण में संहार ॥ ४ ॥

तपस्या में अनन्त शक्ति है। [तपस्वी की] इच्छामात्र से शत्रुओं (दुष्टों) का विनाश और मित्रों (सज्जनों) का कल्याण होता है ॥ ४ ॥

वेण्डिय वेण्डियाङ् कॅय्दलाल् सॅय्दवम्
ईण्डु मुयलप् पडुम् ॥ ५ ॥

तप से पूर्ण मनोरथ सारे, तप है ऋद्धि-सिद्धि की खान;
[संयम की आधार शिला पर] समुचित—सदा बनो तपवान् ॥ ५ ॥

तप के द्वारा सभी मनवाञ्छित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि जीवन को धर्ममय बनाने के लिए तप करता रहे ॥ ५ ॥

तवम्सॅय्वार् तम्करुमम् सॅय्वार्; मट् ऱल्लार्
अवम्सॅय्वार् आसैयुड् पट्टु ॥ ६ ॥

है कर्त्तव्य संयमी जीवन, सफल सदा तप का आचार।
विविध वासना-ग्रस्त[5] मूढ़ निज जीवन ही करते बेकार ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति संयमी और तपस्वी होते हैं, वे ही सफल होते हैं। अन्य जन वासनाओं के शिकार होकर अपना ही बुरा करते हैं ॥ ६ ॥

---

१ तपस्वियों २ तपस्वी ३ इच्छा करते ही पूर्ण होती है ४ कठिनता से क़ाबू आनेवाले ५ लालसाओं में फसा हुआ।

सुडच्चुडरुम् पॉन्पोल् ओळिविडुम् तुन्बम्
सुडच्चुड नोर्किर् पवर्क्कु ॥ ७ ॥

अनल-तप्त[1] सुबरन की आभा[2] का होता जिस भाँति निखार[3] ।
तप-संयम में तपा आत्मा होता पावन[4] उसी प्रकार ॥ ७ ॥

अग्नि में तपाये जाने पर जिस प्रकार सुवर्ण दीप्तिमान् होता है, उसी प्रकार तपोरति का आत्मा तप और संयम की पवित्राग्नि में उत्तरोत्तर परिष्कृत होता है ॥ ७ ॥

तन्नूयिर् तान् अरप् पॅट्ट्रानै एन्नैय
मन्नूयिर् ऍल्लाम् तॉळुम् ॥ ८ ॥

तप के द्वारा, अहंभाव पर जिसने प्राप्त किया अधिकार ।
ऐसे आत्मसंयमी की पूजा करता सारा संसार ॥ ८ ॥

आत्मसंयम द्वारा जिसने अपने ऊपर विजय पाई है [अर्थात् संयमाग्नि में अपने अहंभाव की आहुति दे दी है] उस परंतप की सारा जगत् पूजा करता है ॥ ८ ॥

कूट्रम् कुदित्तलुम् कैकूडुम् नोट्रलिन्
आट्रल् तलैप्पट् टवर्क्कु ॥ ९ ॥

अहो! परन्तप, दिव्य तपोबल से अनन्त पाते हैं शक्ति ।
विजय मृत्यु पर प्राप्त, धन्य उनको है जन्म-मरण से मुक्ति ॥ ९ ॥

तपोबल से जिन्होंने दिव्य शक्ति प्राप्त की है, वे मृत्युञ्जय होते हैं। [अर्थात् मृत्यु का भय उनको नहीं सताता] ॥ ९ ॥

इलर्बलर् आहिय कारणम् नोर्पार्
सिलर्; पलर् नोला दवर् ॥ १० ॥

प्रायः प्राणी दुखी, क्योंकि उनको है तप से सदा विराग ।
दुख-विमुक्त बिरले ही जिनको, तप-संयम से है अनुराग ॥ १० ॥

पृथ्वी पर दुखी जन ही अधिक हैं, [सुखी विरले ही हैं,] क्यों? इसलिए कि अधिकांश लोग तप और संयम से विमुख रहते हैं। [इन्द्रियों पर शासन के बजाय इंद्रियों के दास होकर रहते हैं, और फलस्वरूप नाना वासनाओं में ग्रस्त विविध दुःखों से त्रस्त रहते हैं] ॥ १० ॥

---

१ अग्नि में तपाये गये २ कान्ति ३ निर्मलत्व, शुद्धता ४ पवित्र ।

अदिकारम् (अध्याय) २८

कूडावॊऴुक्कम् (वञ्चना, मक्कारी, निफ़ाक़)

वञ्ज मनत्तान् पडिट्रॊऴुक्कम् बूदङ्गल्
ऐन्दुम् अहत्ते नहुम् ॥ १ ॥

पाखण्डी निज छिद्र[1] छिपा कर, करता है जब दम्भ प्रकाश,
पञ्चभूत[2], जिनसे वह सिर्जित[3], करते हैं उसका उपहास ॥ १ ॥

आडम्बरी व्यक्ति के कपट को देखकर पाँचों तत्त्व उस पर हँसते हैं। [मन की दुर्बलताओं और अपराधों को छिपाकर अपना बनावटी स्वरूप समाज में दरसाता है, उसकी इस वञ्चना पर उसके अपने शरीर के ही पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) जिनसे वह बना है, उसका उपहास करते हैं] ॥ १ ॥

वानुयर् तोट्रम् ऎवन्सॆय्युम् तन्नॆञ्जम्
तानरि कुट्रप् पडिन् ? ॥ २ ॥

मन को 'भूलें' विदित हमारी, अपने अपराधों का ज्ञान,
आडम्बर ऊपरी बनाने से कब तक, कैसे, कल्यान ? ॥ २ ॥

जब हमारा मन जानता है कि हम अपराधी [अथवा दुर्बल] हैं, तब ऊपरी आडम्बर और प्रदर्शन से क्या लाभ ? ॥ २ ॥

वलियिल् निलैमैयान् वल्लुरुवम् पॆट्रम्
पुलियिन्तोल् पोर्त्तुमेय्न् दट्रु ॥ ३ ॥

भय पर परदा डाल भयातुर[4], बल-विक्रम का करे प्रकाश—
व्याघ्रचर्म की झूल डाल कर मानो गाय चर रही घास ॥ ३ ॥

भयग्रस्त दुर्बल मनुष्यों का पराक्रम-प्रदर्शन वैसा ही है जैसा दूब चर रही गाय द्वारा व्याघ्रचर्म धारण करना ॥ ३ ॥

तवम्मरैन्दु अल्लवै सॆय्दल् बुदन्मरैन्दु
वेट्टुवन् पुट्चिमिऴ्त् तट्रु ॥ ४ ॥

साधु-सन्त का वेश किन्तु है वञ्चक[5]—महापाप की खान।
क्षुप[6] में छिपकर व्याध[7], विहंगों[8] पर, मानो साधता निशान ॥ ४ ॥

पाप-ग्रस्त जनों द्वारा सन्तों का स्वांग भरना वैसा है, जैसे बहेलिया (व्याध) झाड़ी में अपने को छिपा कर पक्षियों का शिकार करता है। [सन्तों के रूप में समाज में घूमने वाले ठगों की ओर संकेत है] ॥ ४ ॥

---

१ दोष २ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ३ बना हुआ ४ कायर, डरपोक ५ ठग ६ झाड़ी ७ शिकारी ८ पक्षियों।

पट्रट्रेम् ऍऩ्बार् पडिट्रॉऴुक्कम् ऍट्रेट्रेऩ्
रेदम् पलवुम् तरुम् ॥ ५ ॥

पापपंक में सने, किन्तु रचते हैं तप-संयम का रूप—
एक दिवस उनका दुख-क्रन्दन[1], स्वयं खोलता सही स्वरूप ॥ ५ ॥

अपवित्र जीवन व्यातीत करने वाले मक्कार, जब त्याग-वैराग्य का ढोंग रचते हैं, तब एक दिन विविध दुःख-जञ्जालों में फँसने पर स्वयं उनका चीत्कार उनके अपराधों को प्रकट कर देता है ॥ ५ ॥

नॅञ्जिट् रुऱवार् तुऱन्दार्पोल् वञ्जित्तु
वाऴ्वारिऩ् वऩ्कणार् इल् ॥ ६ ॥

मन में नहीं विराग, किन्तु वैरागी बन ठगते संसार,
इनसे बढ़कर अधम, धरा पर हुआ न मानव का अवतार ॥ ६ ॥

जो त्यागी-संन्यासी नहीं हैं, और संन्यासी-वेश द्वारा संसार को ठगते हैं, उनसे बढ़ कर अधम और नहीं है ॥ ६ ॥

पुरम्कुऩ्ऱि कण्डऩैयरेऩुम् अहम्कुऩ्ऱि
मूक्किऱ् करियार् उडैत्तु ॥ ७ ॥

घुँघची की लालिमा सदृश छलियों का होता रूप सुरम्य ।
घुँघची की कालिमा सदृश बटमार-ठगों का हृदय जघन्य[2] ॥ ७ ॥

छली वञ्चकों का रूप तो घुंघची के लाल रंग के सदृश रम्य होता है, किन्तु उनका हृदय घुंघची के मुख की कालिमा के समान काला होता है ॥ ७ ॥

मऩत्तदु मासाह माण्डार्नी राडि
मऱैन्दॉऴुहुम् मान्दर् पलर् ॥ ८ ॥

गठरी लादे हैं पापों की, तन-मन में असंख्य हैं दोष ।
सर-सरिता-तीरथ—नहान् का करते हैं सदम्भ[3] जयघोष ॥ ८ ॥

घृणित पापों में डूबे हुए लोग (गंगा आदि तीर्थों और) पवित्र नदियों में स्नान करते और अपने को पुण्यवान् प्रदर्शित करते हैं ॥ ८ ॥

कणैकॉडिदु; याऴ्कोडु सॅव्विताङ्ग कऩ्ऩ
विऩैपडु पालाऱ् कॉळल् ॥ ९ ॥

---

१ असहनीय दुःख पड़ने पर चिल्ल-पुकार २ नीच ३ अभिमान से ।

वीणा वक्र[1] किन्तु मनहरनी, शर[2] सीधा, लेता है प्रान।
भले-बुरे की परख रूप से नहीं, सदा आचरण प्रधान ॥ ९ ॥

वाण सीधा होने पर भी प्राणघातक है; वीणा देखने में टेढ़ी होनेपर भी हृदय को मुग्ध करती है। रूप नहीं, वरन् आचरण द्वारा ही भले-बुरे की पहिचान संभव है ॥ ९ ॥

मळित्तलुम् नीट्टलुम् वेण्डा उलहम्
पळित्त दॉळित्तु विडिन् ॥ १० ॥

[विषय-वासना], जग-निन्दित अपकर्म-त्याग—सच्चा संन्यास।
दाढ़ी-जटा, शीश मुण्डित—ये सारे व्यर्थ वेश-विन्यास[3] ॥ १० ॥

संसार में जो कर्म निन्दित और त्याज्य हैं, उनका यदि त्याग कर दिया है, तो [सदाचार के लिए] शिर मुँडाने और दाढ़ी-जटा बढ़ाने की क्या आवश्यकता? [पवित्र जीवन के लिए बाहरी आडम्बरों की ज़रूरत नहीं] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) २९

कळ्ळामै (निश्छलता)

ऍळ्ळामै वेण्डुवान् ऍन्बान् ऍनैत्तॉन्रुम्
कळ्ळामै काक्कतन् नॅञ्जु ॥ १ ॥

कोई निन्दा करे न अपनी, जग में हों न कभी बदनाम,
दगा-फ़रेब-जाल से बचना, तब उनका है पहला काम ॥ १ ॥

जिसको निन्दा से बचना है उसको अपने मन को छल-कपट से सर्वथा बचाये रखना चाहिए ॥ १ ॥

उळ्ळत्ताल् उळ्ळलुम् दीद पिरन्पॉरुळैक्
कळ्ळत्तार् कळ्वेम् ऍनल् ॥ २ ॥

करना दूर! पाप का मन में, लाना भी है पापाचार!
'छल से पर-धन हरण करें', यह कभी न मन में करो विचार ॥ २ ॥

पाप का चिन्तन भी पाप है, इस लिए दूसरे के धन को छल से हरण करके धनी बनने की बात भी कभी न सोचो ॥ २ ॥

---

१ टेढ़ी　२ वाण　३ रूपक, स्वांग।

कळविऩाल् आहिय आक्कम् अळविऱन्दु
आवदु पोलक् कॅडुम् ॥ ३ ॥

सदा शुरू में, छल से अर्जित धन की उन्नति का विस्तार;
शीघ्र विनसता सकल विभव, संभव न कभी उसका निस्तार ॥ ३ ॥

अन्याय और धोखे की कमाई से आरंभ में भले ही उन्नति का स्रोत उमड़ता दिखाई दे, किन्तु अन्ततः उसी स्रोत से दुःख-सिन्धु उमड़ कर विनाश पर पहुँचा देता है ॥ ३ ॥

कळविऩ्कट् कऩ्ऱिय कादल् विळैविऩ्कण्
वीया विऴुमम् तरुम् ॥ ४ ॥

ठगें किसी को, उसकी सम्पति पर किस भाँति करें अधिकार?
उर की यह लालसा अधम है शोक-दुःख का पारावार[1] ॥ ४ ॥

दूसरे की सम्पत्ति को फ़रेब से हरण करने की लालसा का परिणाम अनन्त शोक और दुःख ही है ॥ ४ ॥

अरुळ्करुदि अऩ्बुडैयर् आदल् पॉरुळ्हरुदिप्
पॉच्चाप्पुप् पार्प्पार्कण् इल् ॥ ५ ॥

ग़ाफ़िल कौन, हरें धन उसका ? उर में बसी सदा यह घात,
करुणा और प्रेम की ऐसे पतित हृदय में कौन बिसात[2] ॥ ५ ॥

किसी को असावधान पाते ही उसके धन की घात में लगा व्यक्ति करुणा और स्नेह के भाव को क्या जाने ॥ ५ ॥

अळविऩ्कण् निऩ्ऱॉऴुहल् आट्ऱार् कळविऩ्कट्
कऩ्ऱिय काद लवर् ॥ ६ ॥

छल-प्रपञ्च से करें कमाई, जिस लोलुप की यही निगाह,
कैसे उनके मन भावेगी धर्म और संयम की राह ॥ ६ ॥

छल और कपट से प्राप्त लाभ में ही जिसकी सूझ है, वह धर्म और संयम के मार्ग पर कैसे चल सकेगा ॥ ६ ॥

कळवॅऩ्ऩुम् काररि वाण्मै अळवॅऩ्ऩुम्
आट्रल् पुरिन्दार्कण् इल् ॥ ७ ॥

सहज स्वभाव सदाचारी हैं, जिनकी सदा धर्म पर प्रीत,
इन पुनीत हृदयों में कैसे संभव अधम कपट की रीत ॥ ७ ॥

---

१ दुःख का समुद्र २ मूल्य ।

जिन व्यक्तियों में सहज ही धर्मबुद्धि है उनके हृदय में धूर्तता और कपट का वास नहीं होता ॥ ७ ॥

अळवऱिन्दार् नॆञ्जत् तऱम्पोल निऱ्कुम्
कळवऱिन्दार् नॆञ्जिऱ् करवु ॥ ८ ॥

छली-धूर्त लोगों के मन में ठग-विद्या का सदा निवास;
किन्तु सदाचारी पावन हृदयों में सदा धर्म का वास ॥ ८ ॥

फ़रेबी मनुष्यों के हृदय में छल-कपट का ही निवास रहता है; उसी प्रकार सद्वृत्ति वाले जनों के हृदय में सदैव धर्म का वास रहता है ॥ ८ ॥

अळवल्ल सॆय्दाङ्गे वीवर् कळवल्ल
मट्रैय तेट्रा दवर् ॥ ९ ॥

ठगी, उठाईगीरी में, विश्वासघात में पटु[1] अत्यन्त,
ऐसे अधमों का अपने ही दुष्कर्मों से होता अन्त ॥ ९ ॥

ठगी और विश्वासघात में सने व्यक्ति अपने ही [कुलक्षणों और] दुष्कृत्यों की बदौलत विनाश को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

कळवार्क्कुत् तळ्ळुम् उयिर्निलै कळ्ळार्क्कुत्
तळ्ळादु पुत्तेळ् उलहु ॥ १० ॥

छली वञ्चकों[2] के निज तन[3] तक उन पर देते हैं धिक्कार,
किन्तु निश्छली जीवों का है स्वर्गलोक तक में सत्कार ॥ १० ॥

छली-वञ्चकों को उनके शरीर ही पृथ्वी पर धिक्कारते हैं; जबकि निश्छल आत्माओं का स्वर्ग में देवगण तक स्वागत करते हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३०
वाय्मै (सत्यवादिता)

वाय्मै ऍऩप्पडुव दियादॆऩिऩ् यादॊऩ्ऱुम्
तीमै इलाद सॊलल् ॥ १ ॥

'सत्य किसे कहते हैं ?' इसका उत्तर एक लीजिए जान—
"अहित किसी का करे न—ऐसी वाणी ही है 'सत्य' प्रमान" ॥ १ ॥

"सत्य क्या है ?" इस प्रश्न का यही उत्तर है कि "किसी का भी अहित न करने वाली वाणी ही सचमुच सत्य है"। सत्य बोलना तो सर्वथा

१ निपुण, कुशल   २ ठगों   ३ उनके अपने ही अंग।

स्तुत्य है, किन्तु सत्य की यह भी कसौटी है कि उससे किसी का भी अकल्याण न हो ।] ॥ १ ॥

पॉय्म्मैयुम् वाय्मै इडत्त पुरैतीर्न्द
नन्मै पयक्कुम् ऍनिन् ॥ २ ॥

जिन वचनों से अहित असंभव, जिनसे सदा सुलभ कल्यान,
ऐसे वचन असत्य, किन्तु फिर भी होते हैं सत्य समान ॥ २ ॥

वह असत्य भी सत्य के समान है जिसके बोलने का परिणाम भला हो, किञ्चित् भी बुरा न हो [रोगी की चिकित्सा, निरपराधी के प्राणों की रक्षा आदि अनेक ऐसे अवसर हैं, जब असत्य का परिणाम सत्य जैसा होता है ।] ॥ २ ॥

तन्नॅञ् जरिवदु पॉय्यर्क; पॉय्त्तबिन्
तन्नॅञ्जे तन्नैच् चुडुम् ॥ ३ ॥

झूठ बोलना जान-बूझकर तजो; न इससे कभी निबाह ।
निज अन्तस् को निज असत्य ही पहुँचाता सर्वदा प्रदाह ॥ ३ ॥

जानते हुए असत्य कभी न बोलो । जानते-बूझते झूठ बोलना तुम्हारे अन्तःकरण को स्वयं दग्ध करता रहेगा ॥ ३ ॥

उळ्ळत्तार् पॉय्या दॉळुहिन् उलहत्तार्
उळ्ळत्तुळ् ऍल्लाम् उळन् ॥ ४ ॥

अन्तःकरण मात्र गुरु जिसका, लेता सदा शुद्ध निर्देश,
ऐसे जन का अखिल मानवों का मन मानो नेह-प्रदेश ॥ ४ ॥

अपनी आत्मा के शुद्ध निर्देश पर जो सदैव चलता है वह मानवमात्र के हृदयों का प्रियपात्र होता है ॥ ४ ॥

मनत्तॉडु वाय्मै मॉळियिन् तवत्तॉडु
तानञ्जॅय् वारिर् तलै ॥ ५ ॥

सत्य बोलना, सत्य सोचना, मन-वाणी से सत्य अनन्य,
ऐसा तपसी तपस्वियों में, सकल दानियों में है धन्य ॥ ५ ॥

मन और वचन से जो सत्य ही बोलता है, वह श्रेष्ठ दानियों और तपस्वियों में परम श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

पॉय्यामै अन्न पुहळिल्लै : ऍय्यामै
ऍल्ला अरमुम् तरुम् ॥ ६ ॥

सत्य बोलना सदा, न जिसमें है असत्य का किञ्चित् लेश,
सकल धर्म उपलब्ध उसी जन को मिलती है कीर्त्ति अशेष ॥ ६ ॥

जिसमें असत्य का लेश नहीं है, ऐसी सत्यवादिता अन्य सभी पुण्यों को प्राप्त करने के साथ-साथ, संसार में अक्षय कीर्त्ति की भागी होती है ॥ ६ ॥

पॉय्यामै पॉय्यामै आट्ऱिन् अऱम्पिऱ
सॅय्यामै सॅय्यामै नन्ऱु ॥ ७ ॥

तजो असत्य, असत्य न बोलो, यदि कर सके असत् का त्याग !
सकल धर्म हैं सुलभ तुम्हें, यदि एक सत्य पर है अनुराग ॥ ७ ॥

असत्य न बोलो ! कभी असत्य न बोलो !! फिर तुमको दूसरे सदाचरणों की ज़रूरत नहीं [वे सब तुमको अनायास प्राप्त होंगे; सारे धर्म सत्य में समाहित हैं ।] ॥ ७ ॥

पुऱन्दूय्मै नीरान् अमैयुम् अहन्दूय्मै
वाय्मैयाऱ् काणप् पडुम् ॥ ८ ॥

तन को स्वच्छ सदा करता 'जल', बाह्यशुद्धि का यही प्रकार ।
'सत्यवादिता' उसी भाँति है अन्तःकरण-शुद्धि का द्वार ॥ ८ ॥

शरीर के मल को जल स्वच्छ करता है; उसी प्रकार हृदय की शुद्धि का साधन 'सत्यवादिता' है [बाह्य शुद्धि के लिए जल, उसी प्रकार अन्त:करण की शुद्धि के लिए 'सत्य' ।] ॥ ८ ॥

ऍल्ला विळक्कुम् विळक्कल्ल सान्ऱोर्क्कुप्
पॉय्या विळक्के विळक्कु ॥ ९ ॥

सत्पुरुषों को विविध प्रकाशों की न कभी रहती परवाह ।
दिव्य सत्य की ज्योति सदा दिखलाती रहती उनको राह ॥ ९ ॥

सत्पुरुषों के लिए अन्य सारे प्रकाश क्षीण हैं; विशुद्ध सत्य ही उनके लिए प्रकाशों का प्रकाश [और मार्गदर्शक] है ॥ ९ ॥

यामॅय्याक् कण्डवट्ऱु ळिल्लै ऍन्नैत्तॉन्ऱुम्
वाय्मैयिन् नल्ल पिऱ ॥ १० ॥

सकल सद्गुणों सद्धर्मों में, जिनका हम रखते हैं ज्ञान,
अतुलनीय है 'सत्य', सत्य से अन्य धर्म है कौन महान् ? ॥ १० ॥

संसार में, जो भी पदार्थ हम उत्तम और श्रेष्ठ देखते हैं, सत्यवादिता की तुलना में वे सब फीके हैं; [सत्य सर्वोपरि धर्म है ।] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३१
वॅहुळामै (अक्रोध)

सॅल्लिडत्तुक् काप्पान् सिऩङ्गाप्पान्; अल्लिडत्तुक्
काक्किल्ऍन् कावाक्काल् ऍन् ॥ १ ॥

'निर्बल पर न क्रोध करना' ही, सचमुच में है क्रोध-निरोध।
रहे शान्त तो व्यर्थ ! सबल पर, लाचारी से किया न क्रोध ॥ १ ॥

अपने से निर्बल पर क्रोध न करना ही क्रोध को वश में करना है; सबल पर क्रोध न करना क्रोध-निग्रह नहीं है [वह तो लाचारी है।] ॥ १ ॥

सॅल्ला इडत्तुच् चिऩन्दीदु सॅल्लिडत्तुम्
इल्लदऩिन् तीय पिऱ ॥ २ ॥

दुखदाई है क्रोध सबल पर, क्योंकि क्रोध जाता है व्यर्थ।
क्रोध निबल पर ! आह[1] दीन की पहुँचाती है अधिक अनर्थ ॥ २ ॥

अपने से बलवान पर क्रोध करना व्यर्थ और दुखदाई होता है [यह दु:ख एकपक्षीय अर्थात् अपने को ही होता है], किन्तु अपने से निर्बलों पर क्रोध करना और भी अधिक बुरा है, [क्योंकि इसमें दूसरा पक्ष दुखी होता है और उसकी बुरी प्रतिक्रिया होती है।] ॥ २ ॥

मऱत्तल् वॅहुळियै यार्माट्टुम्; तीय
पिऱत्तल् अदऩान् वरुम् ॥ ३ ॥

उचित क्रोध को क़ाबू रखना, तैश[2] न आये किसी प्रकार,
क्योंकि क्रोध से नाना दुःखों—पापों का होता सञ्चार ॥ ३ ॥

कोई जितनी ही उत्तेजना दिलाये, सदैव क्रोध को वश में रखना चाहिए; क्योंकि क्रोध से बुराइयों के स्रोत पर स्रोत फूटते हैं ॥ ३ ॥

नहैयुम् उवहैयुम् कॉल्लुम् सिऩत्तिऱ्
पहैयुम् उळवो पिऱ ? ॥ ४ ॥

अपना क्रोध हरण कर लेता पहले अपनी ही सुख-शान्ति !
भला क्रोध से अपने बढ़कर जग में कौन शत्रु दुर्दान्त ? ॥ ४ ॥

क्रोध आते ही हँसी और प्रसन्नता गायब हो जाती है। भला ऐसे अनिष्टकारी क्रोध से बढ़कर मानव का शत्रु कौन है [जो आते ही आनन्द का हरण कर लेता है।] ॥ ४ ॥

---

१ कराह, पीढ़ा २ उत्तेजना, आवेश।

तन्नैत्तान् काक्किर् सिऩङ्गाक्क; कावाक्काल्
तन्नैये कॉल्लुम् सिऩम् ॥ ५ ॥

उचित क्रोध पर संयम तुमको अगर भला अपना दरकार।
वश से बाहर क्रोध स्वयं क्रोधी का कर देता संहार ॥ ५ ॥

जिसको अपनी रक्षा करना अभीष्ट है, उसको चाहिए कि क्रोध को वश में रखे। क्रोध का निग्रह न करने पर वह तुम्हारा ही विनाश कर देगा ॥ ५ ॥

सिऩमॅन्ऩुम् सेर्न्दारैक् कॉल्लि इऩमॅन्ऩुम्
एमप् पुणैयैच् चुडुम् ॥ ६ ॥

करता है जो क्रोध उसी का करता है सर्वथा विनास।
यही नहीं, उसकी लपटों से सगे-स्वजन तक पाते त्रास ॥ ६ ॥

क्रोध को जो अपनाता है, क्रोध उसी का विनाश कर देता है। यही नहीं, वह उस [क्रोध को अपनाने वाले] के सगे-सम्बन्धियों तक का बेड़ा डुबो देता है ॥ ६ ॥

सिऩत्तैप् पॉरुळॅन्ऱु कॉण्डवन् केडु
निलत्तरैन्दान् कैपिळैया दट्ऱु ॥ ७ ॥

घायल होता हाथ स्वयं यदि धरती पर करता आघात।
अगर क्रोध को अपनाया तो उसी भाँति है बज्रापात ॥ ७ ॥

क्रोध को लाभकर और मित्र समझ कर जो उसे अंगीकार करता है वह स्वयं ही अनिष्ट और क्लेश को प्राप्त होता है; जिस प्रकार पृथ्वी पर हथेली मारने पर स्वयं हाथ ही को चोट लगती है ॥ ७ ॥

इणर्ऍरि तोय्वन्न इन्ना सॅयितुम्
पुणरिन् वॅहुळामै नन्ऱु ॥ ८ ॥

अग्निलपट के सदृश किसी ने अगर तुम्हें पहुँचाया क्लेश,
उचित यही सर्वदा, न फिर भी व्यापे तुम्हें क्रोध का लेश ॥ ८ ॥

कितना भी अनिष्ट किसी ने पहुँचाया हो, सहस्र अग्नि शिखाओं में दहकने के समान पीड़ा पहुँचने पर भी क्रोध पर क़ाबू रखना ही श्रेयस्कर है ॥ ८ ॥

उळ्ळियदु ऍल्लाम् उडऩॅय्दुम् उळ्ळत्ताल्
उळ्ळान् वॅहुळि ऍनिन् ॥ ९ ॥

अगर रोष पर क़ाबू पाया, किया क्रोध का दर्प विचूर्ण,
संशय नहीं कि मनचाही अभिलाषाएँ होंगी परिपूर्ण ॥ ९ ॥

यदि क्रोध का निवारण किया जा सके तो [हानि तो कोई नहीं, वरन्] मन की अभिलाषाएँ [क्रोध के अभाव में] अधिक शीघ्र पूरी होती हैं ॥ ९ ॥

इऱन्दार् इऱन्दार् अनैयर् ; सिनत्तैत्
तुऱन्दार् तुऱन्दार् तुणै ॥ १० ॥

जिनको आपा[1] नहीं, क्रोध के वश में ! वे हैं मृतक समान ।
किया क्रोध का त्याग सर्वथा, त्यागी-तपसी वही महान् ॥ १० ॥

क्रोध के नितांत वशीभूत मनुष्य मृतक तुल्य हैं [क्योंकि उनमें बुद्धि-विवेक की चेतना नष्ट हो जाती है]; क्रोध का त्याग करने वाले ही सच्चे त्यागी और तपस्वी हैं ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३२

इऩ्ना सॅय्यामै (अनिष्टकारिता)

सिऱप्पीऩुम् सॅल्वम् पॅऱिऩुम् पिऱर्क्किऩ्ना
सॅय्यामै मासट्ऱार् कोळ् ॥ १ ॥

हानि किसी को पहुँचाने पर सुलभ सुयश-सम्पत्ति महान्,
फिर भी ध्येय अहितकर मन में यह न कभी लाते मतिमान ॥ १ ॥

किसी को हानि पहुँचा कर भले ही धन और यश प्राप्त हो जाय, किन्तु पवित्र साधु जनों का यही [लक्षण और] ध्येय रहता है कि किसी को भी क्षति न पहुँचाएँ ॥ १ ॥

करुत्तिऩ्ना सॅय्दवक् कण्णुम् मरुत्तिऩ्ना
सॅय्यामै मासट्ऱार् कोळ् ॥ २ ॥

दुखदाई असीम रिपु से भी सदा साधुजन भूल विरोध,
अहित न करते कभी, शत्रु से कभी न लेते हैं प्रतिशोध[2] ॥ २ ॥

महान् पीड़ा पहुँचाने वाले शत्रुओं से भी बदला न लेना और उन्हें हानि न पहुँचाना यह पवित्रात्माओं का लक्ष्य रहता है ॥ २ ॥

---

१ होशहवास, सुधबुध २ बदला ।

सॅय्यामर् सॅट्ऱार्क्कुम् इन्नाद सॅय्दपिन्
उय्या विऴुमम् तरुम् ।। ३ ।।

सहज-दुष्ट[1] पीड़ा पहुँचाते, सदा अकारण हैं प्रतिकूल।
उनका भी अनिष्ट करना, अपने ही लिए दुःख का मूल ।। ३ ।।

अकारण पीड़ा पहुँचाने वाले दुष्ट शत्रु को भी हानि पहुँचाना तुम्हारे लिए अनन्त दुःखों का कारण होगा ।। ३ ।।

इन्ना सॅय्दारै ऑऱुत्तल् अवर्नाण
नन्नयम् सॅय्दु विडल् ।। ४ ।।

अपराधी को क्षमादान से लज्जित करो, त्याग कर रोष।
क्षमादान का अहं बिसारो, भूलो सकल शत्रु के दोष ।। ४ ।।

पीड़ा पहुँचाने वालों को बदले में बजाय पीड़ा पहुँचाने के, उनको क्षमा करके लज्जित करना अधिक बड़ा दण्ड है। [बुराई के बदले भलाई करना और] उसके अपराध और अपनी क्षमा [के गर्व] को भूल जाना श्रेयस्कर है ।। ४ ।।

अऱिविनान् आहुव दुण्डो पिऱिदिन्नोय्
तन्नोय्पोर् पोट्ऱाक् कडै ।। ५ ।।

अगर न समझे पीर-पराई[2] को कोई निज पीर समान,
बलिहारी उस बुद्धिमान् की, हुआ अकारथ[3] उसका ज्ञान ।। ५ ।।

दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के समान न समझ सके तो बुद्धि किस काम की ? ।। ५ ।।

इन्ना ऍन्तत्तान् उणर्न्दवै तुन्नामै
वेण्डुम् पिऱन्कट् सॅयल् ।। ६ ।।

जो आचरण तुम्हें दुखदाई, जिन बातों से क्लेश अपार,
बचना सदा, किसी के प्रति भी करना कभी न वह आचार[4] ।। ६ ।।

जो बातें अपने लिए अपार दुखदाई हैं वह बातें दूसरों के प्रति करने से सदैव बचो ।। ६ ।।

ऍन्नैत्तानुम् ऍञ्ञान्ऱुम् याक्कुम् मनत्तानाम्
माणासॅय् यामै तलै ।। ७ ।।

किसी जीव को, किसी घड़ी भी, किसी भाँति देना नुकसान—
इससे बचना परम धर्म है, सब धर्मों में धर्म महान् ।। ७ ।।

---

१ स्वभाव से ही दुर्जन २ दूसरे की पीड़ा ३ व्यर्थ ४ व्यवहार।

अपनी जान में किसी भी प्राणी को, किसी अवसर पर, किसी भी प्रकार क्षति न पहुँचाना सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है ।। ७ ।।

तऩ्ऩुयिर्क् किऩ्ऩामै ताऩ् अऱिवाऩ् ऍऩ्ऩ्कॉलो
मऩ्ऩुयिर्क् किऩ्ऩा सॅयल् ? ।। ८ ।।

जिसने दुख की चोट सही है, जिसने कभी सही है पीर,
दुख पहुँचाना अन्य जीव को—यह भावना न उसके तीर ।। ८ ।।

जिस व्यक्ति ने दुःख उठाया है और उसे पीड़ा की अनुभूति हो चुकी है, वह किस प्रकार दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचायेगा ? ।। ८ ।।

पिऱर्क्किऩ्ऩा मुऱ्पहल् सॅय्यिऩ् तमक्किऩ्ऩा
पिऱ्पहल् तामे वरुम् ।। ९ ।।

आज किसी का बुरा करोगे, कल प्रतिफल[1] उसका तैयार ।
पर-अपकार[2] तुम्हारे हित में सिरजेगा अनिष्ट-संसार[3] ।। ९ ।।

दोपहर को किसी को पीड़ा पहुँचाओगे, तो तीसरे ही पहर उससे अधिक पीड़ाएँ तुम्हारे सामने उपस्थित होंगी [कारण और कर्म का प्राकृतिक नियम है । एक बुराई अनेक बुराइयों को जन्म देती है । कुआँ खोदने वाले के लिए खाईं तैयार हो जाती है ।] ।। ९ ।।

नोय्ऍल्लाम् नोय्सॅय्दार् मेलवाम्; नोय्सॅय्यार्
नोयिऩ्मै वेण्डु पवर् ।। १० ।।

अशुभ[4] किसी का किया, कि उपजे निज के लिए अशुभ के फन्द!
जो पर-अशुभ न मन में लाते, वे ही जन दुख से निर्द्वन्द ।। १० ।।

किसी का अनिष्ट करोगे तो वह तुम्हारा दुष्कर्म तुम्हारे लिए अनेक अनिष्टों को जन्म देगा । जो किसी का अनिष्ट नहीं करते वह अनिष्टों से मुक्त रहते हैं [अर्थात् उन्हें क्लेश नहीं पहुँचता ।] ।। १० ।।

अदिकारम् (अध्याय) ३३
कॉल्लामै (अहिंसा)

अऱविऩै यादॅऩिऩ् कॉल्लामै; कोऱल्
पिऱविऩै ऍल्लाम् तरुम् ।। १ ।।

अहा ! अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सदा धर्म-प्रतिकूल,
[किसी भाँति भी] जीवों की हत्या अनन्त दुःखों का मूल ।। १ ।।

---

१ बदला २ दूसरे के साथ बुराई ३ असंख्य बुराइयाँ ४ अहित ।

धर्म क्या है ? अहिंसा ही परम धर्म है; क्योंकि हिंसा सकल बुराइयों का स्रोत है ॥ १ ॥

पहुत्तुण्डु पल्लुयिर् ओम्बुदल् नूलोर्
तॉहुत्तवट्रुळ् ऍल्लाम् तलै ॥ २ ॥

सकल शास्त्र इस पर अभिमत[1] हैं, सब को जीने का अधिकार ।
सब धर्मों का सार, हमारे भोजन में सब भागीदार ॥ २ ॥

संसार की सभी आचार-संहिताओं की नीति का यह सार है कि मिल-बाँट कर खाओ और जीव मात्र की रक्षा करो [जो दूसरों को अंश दिये बिना अपने पेट खाता है वह चोर है। वह खाता नहीं बल्कि पेट में अंगारे भरता है।] ॥ २ ॥

ऑन्ऱाह नल्लदु कॉल्लामै; मट्ऱदन्
पिन्सारप् पॉय्यामै नन्ऱु ॥ ३ ॥

'करें न हिंसा कभी किसी की'—धर्मों में है धर्म महान्;
सत्यवादिता-सदृश धर्म का, बाद अंहिसा के (अ)स्थान ॥ ३ ॥

अहिंसा अच्छाइयों में सर्वोपरि अच्छाई है। उसके बाद झूठ बोलने से परहेज की गणना है ॥ ३ ॥

नल्ला ऍऩप्पडुव दियादॅनिन् यादॉन्ऱुम्
कॉल्लामै सूऴुम् नॅऱि ॥ ४ ॥

कभी किसी को क्षति पहुँचाना, किसी जीव का लेना प्रान ।
इससे बचना सिखलाता जो, वही जगत् में धर्म महान् ॥ ४ ॥

धर्म क्या है ? एक ही उत्तर है कि जो हिंसा से बचना सिखाये ॥ ४ ॥

निलैयञ्जि नीत्तारुळ् ऍल्लाम् कॉलैयञ्जिक्
कॉल्लामै सूऴ्वान् तलै ॥ ५ ॥

पुनर्जन्म के भय से, जग में जिन सन्तों ने लिया विराग,
उनमें सब से सफल श्रेष्ठ वे, जो करते हिंसा का त्याग ॥ ५ ॥

पुनर्जन्म के भय से संसार से संन्यास लेने वाले त्यागी-तपस्वियों में वही सर्वश्रेष्ठ है जो जीवहिंसा का परित्याग करता है ॥ ५ ॥

कॉल्लामै मेऱ्कॉण् डॉऴुहुवान् वाणाळ्मेल्
सॅल्लादु उयिरुण्णुम् कूट्ऱु ॥ ६ ॥

---

१ एकराय, सर्वसम्मत ।

कभी न हिंसा, सदा सुरक्षा सब जीवों की, जिसका अर्थ[1],
उस मृत्युञ्जय[2] के जीवन को लेने में यम[3] भी असमर्थ ॥ ६ ॥

निरंतर जीवों का आहार करने वाला यमराज भी उसके प्राण नहीं लेता जो हिंसा नहीं करता और अहिंसा को प्रोत्साहन देता है ॥ ६ ॥

तऩ्ऩुयिर् नीप्पिऩुम् सॅय्यऱ्क ताऩ्पिऱिदु
इऩ्ऩुयिर् नीक्कुम् विऩै ॥ ७ ॥

निज प्रानों की रक्षा-हित भी लेना नहीं अन्य का प्रान ।
हमको, उसको—सब जीवों को मोह प्रान का एक समान ॥ ७ ॥

अपने प्राणों पर संकट होने पर भी दूसरों की हत्या न करना चाहिए [क्योंकि उनको भी अपना जीव उतना ही प्यारा है जितना तुमको तुम्हारा जीव ।] ॥ ७ ॥

नऩ्ऱाहुम् आक्कम् पॅरिदॅऩिऩुम् साऩ्ऱोर्क्कुक्
कॉऩ्ऱाहुम् आक्कम् कडै ॥ ८ ॥

बलि देने, हत्या करने से यद्यपि निधि अनन्य हों सिद्ध,
विज्ञ-सदाशय[4] सदा समझते जीव-हनन[5] को महा निषिद्ध ॥ ८ ॥

बलिदान (क़ुर्बानी) में जीवों की भेंट चढ़ाना भले ही उत्तम फलदाई हो, परंतु साधुजन इस हिंसा को भी पातक ही मानते हैं ॥ ८ ॥

कॉलैविऩैयर् आहिय माक्कळ् पुलैविऩैयर्
पुऩ्मै तॅरिवा रहत्तु ॥ ९ ॥

हिंसा जिनकी वृत्ति[6]—अधम हैं, निर्मम[7] हैं ऐसे जन दुष्ट—
इनके लिए विवेकी पुरुषों की है यही धारणा पुष्ट ॥ ९ ॥

जीवहिंसा पर बसर करने वाले निर्मम जन, दुष्ट और अधम कोटि के हैं—ऐसा बुद्धिमानों का मत है ॥ ९ ॥

उयिरुडम्बिऩ् नीक्कियार् ऍऩ्ब सॅयिरुडम्बिऩ्
सॅल्लात्ती वाळ्क्कै यवर् ॥ १० ॥

हिंसा से जीविका कमाते, कभी न ऐसों का कल्यान—
रोगी, दुखी, दरिद्री होकर सहते सदा घोर अपमान ॥ १० ॥

हिंसा पर जीने वाले व्यक्ति निर्धन, अपमानित और दुखी-रोगी ही रहते हैं ॥ १० ॥

---

१ अभीष्ट २ मृत्यु को जीतने वाले ३ यमराज ४ ज्ञानी और सज्जन
५ जीव-हिंसा ६ रोज़ी ७ निर्दय ।

अदिकारम् (अध्याय) ३४

निलैयामै (क्षण-भंगुरता)

निल्लाद वट्रै निलैयित्त ऍन्रुणरुम्
पुल्लऱि वाण्मै कडै ॥ १ ॥

इस दुनिया के नाम-रूप को नित्य[1] समझते जो इन्सान,
भ्रमित कर रहा है उनको, यह उनका निपट अधम अज्ञान ॥ १ ॥

इस परिवर्त्तनशील संसार [के नाम रूप] को शाश्वत अर्थात् सदैव क़ायम रहने वाला समझने वाले लोग अधम कोटि के अज्ञानी हैं ॥ १ ॥

कूत्ताट्टु अवैक्कुळात् तट्रे पॅरुञ्जॅल्वम्;
पोक्कुम् अदुविळिन् दट्रु ॥ २ ॥

किसी खेल के मजमे के अनुरूप सम्पदा का व्यवहार;
जुटने में लगता बिलम्ब, पर नहीं बिखरते लगती बार[2] ॥ २ ॥

तमाशा [अथवा किसी खेल] को देखने के लिए इकट्ठा मजमा (भीड़) के समान धन धीरे-धीरे जुटता है; और तमाशा समाप्त होते ही तुरंत भीड़ के छँट जाने के समान वह [धीरे-धीरे जुटाया हुआ] धन ग़ायब हो जाता है ॥ २ ॥

अऱ्का इयल्विट्रुच् चॅल्वम्; अदुपॅट्राल्
अऱ्कुब आङ्गे सॅयल् ॥ ३ ॥

धन चंचल के अधिपति बनने का यदि कभी मिले संयोग,
अमर सुफल देने वाले कर्मों में करो तुरंत प्रयोग ॥ ३ ॥

धन [सदैव चलायमान और] नाशवान् है, इसलिए उस धन के साधन से ऐसे सत्कार्य कर चलो जिनका सुपरिणाम तुम्हारे लिए स्थायी रहे ॥ ३ ॥

नाळॅन्न ऑन्रुपोऱ् काट्टि उयिरीरुम्
वाळ दुणर्वार्प् पॅऱिन् ॥ ४ ॥

'दिन' मोहक है, प्रति दिन का दर्शन हमको देता उल्लास ।
किन्तु दिवस की आरी करती नित्य हमारी आयु विनाश ॥ ४ ॥

देखने में 'दिन' समय की एक नाप है [और नित्य उसके प्राप्त होने पर हम प्रसन्न होते हैं,] परंतु बुद्धिमान् लोगों की दृष्टि में 'दिन' सचमुच एक वह आरी है जो नित्य आयु का एक अंश काटती रहती है ॥ ४ ॥

---

१ सदा रहने वाला, शाश्वत २ समय, देर ।

नाच्चॅट्रु विक्कुण्मेल् वारामुन् नल्विनै
मेऱ्चॅन्ऱु सॅय्यप् पडुम् ॥ ५ ॥

बोल बन्द हो, मृत्यु-समय जब छूट रही हो अंतिम श्वास,
जीवन रहते पुण्य कर चलो, मिले न तुमको यम का त्रास[1] ॥ ५ ॥

बोल बन्द होने और मरते समय अन्तिम हिचकी आने से पहले समय रहते ही [सचेत रहो और] सत्कर्म कर चलो जो मरणोपरांत भी तुम्हारे काम आयें ॥ ५ ॥

नॅरुनल् उळन्आॅरुवन् इन्ऱिल्लै ऍन्नुम्
पॅरुमै युडैत्तिव् वुलहु ॥ ६ ॥

कल तक था प्रत्यक्ष, न उसका आज जगत् में नाम-निशान ।
इस दुनिया की यही असलियत! भरम रहा है क्यों, इन्सान! ॥ ६ ॥

अभी कल तक जो था, आज ही उसका नाम निशान नहीं ! इस [नश्वर, अस्थायी] संसार की यही अद्भुत महिमा है ! ॥ ६ ॥

ऑरुपॉऴुदुम् वाऴ्वदु अऱियार् ; करुदुब
कोडियुम् अल्ल पल ॥ ७ ॥

कल की ख़बर न किन्तु बाँधता जीवन के अगणित बन्धान[2]—
मृगमरीचिका[3] में कैसा है भरम रहा मानव नादान ! ॥ ७ ॥

हमको अगले क्षण की ख़बर नहीं [कि एक मिनट बाद हम रहेंगे भी या नहीं,] किन्तु करोड़ों योजनाओं [और सुनहले स्वप्नों] में हमारा मन उमंगें लेता रहता है ॥ ७ ॥

कुडम्बै तनित्तुआॅऴियप् पुट्परन् दट्रे
उडम्बॉडु उयिरिडै नट्पु ॥ ८ ॥

नव-पखेरुओं[4] को अण्डे को तजने में जिस भाँति न मोह,
उसी भाँति तन और जीव का एक दिवस है अमिट बिछोह[5] ॥ ८ ॥

आत्मा का शरीर से बस वैसा ही सम्बन्ध है जैसा पंख उगते ही पखेरू का अण्डे से [कि उसको खोखला छिलका मात्र करके उसका परित्याग कर देता है ।] ॥ ८ ॥

उऱङ्गुवदु पोलुम् साक्का डुऱङ्गि
विऴिप्पदु पोलुम् पिऱप्पु ॥ ९ ॥

---

१ मृत्यु-यातना २ मन्सूबे ३ सुनहले सपने ४ चिड़िया के पंख-उगते बच्चे
५ निश्चय ही वियोग होना है ।

मृत्यु नहीं कुछ और—सत्य में वह प्रगाढ़ निद्रा का रूप।
उस प्रगाढ़ निद्रा से जगना—पुनर्जन्म का यही स्वरूप ॥ ९ ॥

मृत्यु प्रगाढ़तर [हमारी नित्य की नींद से गहरी और अधिक स्थायी] निद्रा के समान है; और जन्म उस [प्रगाढ़ निद्रा] से जागने के समान है ॥ ९ ॥

पुक्किल् अमैन्दिन्रु कॉल्लो उडम्बिनुळ्
तुच्चिल् इरुन्द उयिर्क्कु ! ॥ १० ॥

कुछ दिन का मेहमान[1] आतमा का शरीर है क्षणिक निवास।
तन में तब तक, अन्य न जब तक उसको मिल जाता आवास[2] ॥ १० ॥

आत्मा इस शरीर में अतिथि के समान है; क्योंकि उसका कोई स्थायी निवास नहीं है [और वह एक शरीर में उसी घड़ी तक है जिस तक उसे अन्य शरीर के आश्रय का अवसर नहीं आता।] ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३५

तुरवु (त्याग, संन्यास)

यादनिन् यादनिन् नीङ्गियान् नोदल्
अदनिन् अदनिन् इलन् ॥ १ ॥

त्याग 'वस्तु' का नहीं, वस्तु का मोह-त्याग ही सच्चा त्याग।
सचमुच वही स्वतंत्र दुःख से, जिसने तजा विषय-अनुराग[3] ॥ १ ॥

संसार की वस्तुओं के प्रति मोह के बन्धन से अपने को यदि तुमने अलग कर लिया है, तो मानो तुमने सचमुच अपने को सारे दुःखों से स्वतंत्र कर लिया [संसार में आसक्ति न रहना ही सच्चा त्याग अर्थात् संन्यास है। आसक्ति ही दुःख और बन्धन का मूल है; जितना ही उससे छुटकारा पाओगे उतना ही आनन्द प्राप्त करोगे।] ॥ १ ॥

वेण्डिन्नुण् डाहत् तुरक्क; तुरन्दपिन्
ईण्डियर् पाल पल ॥ २ ॥

वे अनन्त सुख के अधिकारी, जिन्हें न विषयों में आसक्ति।
रहते समय, इस लिए जग के मोहजाल से पाओ मुक्ति ॥ २ ॥

यदि अनन्त सुख चाहते हो तो इन सांसारिक नाशवान् सुखों का मोह तुरंत त्याग दो ॥ २ ॥

---

१ अतिथि २ रहने-ठहरने का स्थान ३ सांसारिक सुखों में आसक्ति।

अडल्वेण्डुम् ऐन्दन् पुलत्तै विडल्वेण्डुम्
वेण्डिय वॅल्लाम् ऑरुङ्गु ।। ३ ।।

ज्ञान-इन्द्रियों पर संयम पुनि विषय-वासनाओं का त्याग,
पहला है कर्त्तव्य कि दुख के इन मूलों से रहे विराग ।। ३ ।।

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों पर क़ाबू करके [शब्द रूप, रस, गंध, स्पर्श के विकारों से मुक्ति पाओ और समस्त] वासनाओं का त्याग करो ।। ३ ।।

इयल्बाहुम् नोऩ्पिर्काॅऩ् ऱिऩ्मै; उडैमै
मयलाहुम् मट्ऱुम् पॅयर्त्तु ।। ४ ।।

सब से मोह हटा कर उनके संग्रह पर न कभी हो दृष्टि,
किञ्चित् संग्रह मोहजाल बन, उपजाता दुःखों की सृष्टि ।। ४ ।।

सभी वस्तुओं की ओर से आसक्ति हटा कर, उसके संग्रह अथवा उन पर अधिकार की भावना का त्याग ही वस्तुतः संन्यास है। थोड़ा संग्रह अथवा थोड़ा स्वामित्व भी विक्रय और मोह को उत्पन्न कर बन्धन में फँसाता है ।। ४ ।।

मट्ऱुम् ताॅडर्प्पाडु ऍवन्कॉल् ? पिऱप्पऱुक्कल्
उट्ऱार्क्कु उडम्बुम् मिहै ।। ५ ।।

नाना जन्मों से बचने में क्या कम बाधक अधम शरीर।
अन्य बन्धनों में फिर अपने को क्यों जकड़ बढ़ावें पीर ।। ५ ।।

बार-बार जन्म लेने से मुक्ति पाने के हेतु आत्मा के लिए यह शरीर [ही क्या कम] बाधक है; फिर अन्य बन्धनों में अपने को जकड़ने से क्या लाभ ? ।। ५ ।।

याऩ्ऍऩ दॅऩ्ऩुम् सॅरुक्करुप्पान् वाऩोर्क्कु
उयर्न्द उलहम् पुहुम् ।। ६ ।।

अहंभाव—'यह मैं हूँ, मेरा'—जिसने काट दिया यह फन्द,
उसको सुलभ देव-दुर्लभ है शाश्वत[1] ब्रह्मधाम-आनन्द ।। ६ ।।

मैं और मेरा—इस अहम् भाव के पाश को जो काट डालता है, वही देवदुर्लभ आनन्दलोक को प्राप्त करता है ।। ६ ।।

पट्ऱि विडाअ इडुम्बैहळ् पट्ऱिऩैप्
पट्ऱि विडाअ तवर्क्कु ।। ७ ।।

---

१ सदैव रहनेवाला।

माया के बन्धन से कस कर चिपका जो रहता इन्सान,
उसे जकड़ता नाना क्लेशों में उसका विमूढ़ अज्ञान ॥ ७ ॥

संसार से मोह रूपी भ्रमजाल में जिसने अपने को जकड़ रखा है, उसको नाना दुःख अपने में जकड़ कर कभी उसको दुःखों से मुक्त न होने देंगे ॥ ७ ॥

तलैप्पट्टार् तीरत् तुऱन्दार्; मयङ्गि
वलैप्पट्टार् मट्ऱै यवर् ॥ ८ ॥

विषयों से संलग्न न बिलकुल, उसको खुला मुक्ति का द्वार,
अन्य सभी जन दुख-जंजालों से न कभी पाते उद्धार ॥ ८ ॥

पूर्ण संन्यासी [अर्थात् वासनाओं में तनिक भी संलग्न न होने वाला व्यक्ति] ही मुक्ति को प्राप्त करता है; अन्य जन सदैव भ्रमजाल में फँसे रहते हैं ॥ ८ ॥

पट्ऱट्ऱ कण्णे पिऱप्पऱुक्कुम्; मट्ऱु
निलैयामै काणप् पडुम् ॥ ९ ॥

पुनर्जन्म से मुक्त, जिन्होंने मायापाश कर दिया छिन्न,
शेष जन्मते-मरते, रहते सदा भोगते योनि विभिन्न ॥ ९ ॥

संसार के मोह रूपी बन्धन से रहित आत्मा ही पुनर्जन्म से मुक्त होता है, अन्यथा नाशवान् जगत् में बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भरमता रहता है ॥ ९ ॥

पट्ऱुह पट्ऱट्ऱान् पट्ऱिनै अप्पट्ऱैप्
पट्ऱुह पट्ऱु विडऱ्कु ॥ १० ॥

यदि तुझको है शौक कि बन्धन ही में रहे सदा परतन्त्र,
सकल बन्धनों से बचने को, बँध उससे जो परमस्वतंत्र[1] ॥ १० ॥

उसी अनन्त शक्ति से अपने को संलग्न करो जो समस्त बन्धनों से असंलग्न है। उससे मन को बाँधने पर सारे बन्धनों से छुटकारा मिल जायगा ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३६

मॅय्युणर्दल् (सत्यदर्शन)

पॉरुळल्ल वट्ऱैप् पॉरुळॅन्ऱु उणरुम्
मरुळाऩाम् माणाप् पिऱप्पु ॥ १ ॥

---

१ सर्वबन्धनरहित परम-स्वतंत्र परमात्मा।

नित्य बदलने-मिटनेवाला, लुभावना यह सुख-संसार—
दुखी मोह में भ्रमित जीव जन्मता जगत् में बारम्बार ।। १ ।।

मिथ्या और असार वस्तुओं को सत्य और सारयुक्त समझना [अपने जीवन को मिथ्या सुखों के पीछे लगा देना]—यह अज्ञान और भ्रम ही पुनर्जन्म [तथा संसार के अनेक दुःखों] का कारण है ।। १ ।।

इरुळ्नीङ्गि इऩ्बम् पयक्कुम् मरुळ्नीङ्गि
मासऱु काट्चि यवर्क्कु ।। २ ।।

निर्मल-बुद्धि-प्रबुद्ध[1] जिन्होंने मोह-तिमिर[2] का किया विनाश,
रहते देह, विदेह[3]; उन्हींको मिलता परमानन्द-प्रकाश ।। २ ।।

भ्रमों से रहित निर्मल दृष्टि वाले व्यक्ति ही अज्ञानरूपी अन्धकार से निकल कर परमानन्द के प्रकाश को प्राप्त होते हैं ।। २ ।।

ऐयत्तिऩ् नीङ्गित् तॅळिन्दार्क्कु वैयत्तिऩ्
वाऩम् नणिय तुडैत्तु ।। ३ ।।

शुद्धाशुद्धविवेक[4] जिन्हें है, मेट दिया संशय का नाम,
धरा-धाम से अधिक निकट है उनके लिए स्वर्ग का धाम ।। ३ ।।

सत्य और असत्य को पहचानने की बुद्धि रखने वाले संशयरहित आत्माओं के लिए, पृथ्वी पर रहते हुए भी, दिव्यलोक अधिक समीप है ।। ३ ।।

ऐयुणर् वॅय्दियक् कण्णुम् बयमिऩ्ऱे
मॅय्युणर् विल्ला दवर्क्कु ।। ४ ।।

पञ्चेन्द्रिय का बोध भले है, उन पर संयम तुम्हें महान् !
किन्तु व्यर्थ वह यम-संयम है, उपजा यदि न 'सत्य' का ज्ञान ।। ४ ।।

अपनी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान पर अधिकार होने पर भी यदि 'सत्य' के दर्शन नहीं हुए हैं तो ऐसे जनों को उनका इन्द्रिय-ज्ञान लाभ नहीं पहुँचता ।। ४ ।।

ऍप्पॉरुळ् ऍत्तऩ्मैत् तायिऩुम् अप्पॉरुळ्
मॅय्प्पॉरुळ् काण्बदु अऱिवु ।। ५ ।।

नाम, रूप, गुण पर न मुग्ध हो, देखें उसका सत्य-स्वरूप ।
सब के पीछे परमसत्य है एक—यही है ज्ञान अनूप ।। ५ ।।

---

१ विवेक-बुद्धि वाले शुद्धात्मा २ मोह रूपी अन्धकार ३ शरीर रहते हुए भी शरीर में आसक्ति नहीं ४ वास्तव में क्या सत्य है और क्या भ्रम है, इसका ज्ञान ।

वस्तु का कोई भी रूप, कोई भी प्रकार हो, उसके पीछे-पीछे सत्य को देख लेना ही सच्चा ज्ञान है ।। ५ ।।

कट्रिण्डु मॅय्प्पॉरुळ् कण्डार् तलैप्पडुवर्
मट्रिण्डु वारा नॅरि ।। ६ ।।

परमसत्य का दर्शन पाकर, जग-माया से जो स्वच्छन्द,
उस ज्ञानी के लिए जगत् में पुनर्जन्म का मारग बन्द ।। ६ ।।

पृथ्वी पर जिन्होंने सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे आवागमन से रहित हो जाते हैं ।। ६ ।।

ओर्त्तुळ्ळम् उळ्ळ दुणरिन् ऑरुतलैयाप्
पेर्त्तुळ्ळ वेण्डा पिर्प्पु ।। ७ ।।

मनन और चिन्तन के द्वारा जिसने सत्य लिया पहचान,
पुनर्जन्म के भ्रमरजाल से वह उन्मुक्त[1] हुआ मतिमान ।। ७ ।।

जिसने [जन्म के हेतु और रहस्य को जान लिया है और] वास्तविक सत्य को चिन्तन-मनन द्वारा भली प्रकार समझ लिया है, वह पुनर्जन्म की स्थिति में नहीं आता ।। ७ ।।

पिर्प्पॅन्नुम् पेदैमै नीङ्गच् चिर्प्पॅन्नुम्
सॅम्बॉरुळ् काण्बदु अरिवु ।। ८ ।।

परम-आत्मा अविनाशी के गौरव का होते ही भान[2],
जन्म-मरण का, भवबन्धन का होता छिन्न-भिन्न अज्ञान ।। ८ ।।

आत्मा के दिव्य स्वरूप को पहचानो; इससे अविद्या का नाश होगा और जन्म के बन्धन और तज्जन्य दुःखों से छुटकारा होगा ।। ८ ।।

सार्पुणर्न्दु सार्बु कॅडऑळुहिन् मट्रळित्तुच्
चार्दरा सार्दरुम् नोय् ।। ९ ।।

सकल सहारे झूठे हैं, बस एक सहारा है भगवान् ।
उसी सहारे से घातक दुःखों से बच सकता इन्सान ।। ९ ।।

यदि सब आश्रयों को त्याग कर एक मात्र सत्यस्वरूप का परमाश्रय ग्रहण कर लिया जाय, तो सारे दुःखों से मुक्ति निश्चित है ।। ९ ।।

कामम् वॅहुळि मयक्कम् इवैमून्रन्
नामम् कॅडक्कॅडुम् नोय् ।

---

१ बन्धन से छूट गया   २ आभास, ज्ञान ।

काम, क्रोध, यह मोह—शत्रु हैं, यदि इनका कर सके विनाश,
सब दुखों से मुक्ति सुलभ है निश्चित् परमानन्द-प्रकाश ॥ १० ॥

काम, क्रोध, मोह—इन तीन शत्रुओं का यदि नाश कर सको, तो तुम सारे क्लेशों से मुक्त हो जाओगे ॥ १० ॥

अदिकारम् (अध्याय) ३७
अवा अरुत्तल् (वासना-मूलोच्छेद)

अवाएॅऩ्ब ऍल्ला उयिक्कुम् ऍञ्ञान्ऱुम्
तवाअप् पिऱप्पीऩुम् वित्तु ॥ १ ॥

नाना जन्मों, विविध योनियों में सर्वदा भरमता जीव—
एक 'वासना' का अंकुर बस उपजाता यह दुःख अतीव ॥ १ ॥

वासना ही बीज है जिससे प्राणी बार-बार जन्म लेता [और संसार के नाना दुःखों को भोगता] है ॥ १ ॥

वेण्डुङ्गाल् वेण्डुम् पिऱवामै; मट्ऱदु
वेण्डामै वेण्ड वरुम् ॥ २ ॥

अगर 'चाहना' ही प्रिय है, तो चाहो 'पुनः न होवे जन्म'—
आवागमन-मुक्ति[1] संभव जब करो कामना तज कर कर्म ॥ २ ॥

यदि कामना ही करना है तो वह कामना करो जिससे पुनर्जन्म से छुटकारा मिले। निष्काम भावना की कामना [और साधना] से ही आवागमन से मुक्ति सम्भव है ॥ २ ॥

वेण्डामै यऩ्ऩ विऴुच्चॅल्वम् ईण्डिल्लै;
याण्डुम् अक्दोप्प दिल् ॥ ३ ॥

जिसे बासना से छुटकारा, जिसकी वृत्ति[2] सदा निष्काम,
धराधाम ! सुरधाम ! कहाँ है इससे बढ़ कर द्रव्य ललाम? ॥ ३ ॥

वासनाओं से मुक्ति—इससे बड़ा धन न कोई इस लोक में सुलभ है और न परलोक में ॥ ३ ॥

तूउय्मै ऍऩ्ब दवाविऩ्मै; मट्ऱदु
वाअय्मै वेण्ड वरुम् ॥ ४ ॥

मुक्त वही, वह निर्विकार है, जिसकी सकल वासना दग्ध
'परमसत्य' की विमल साधना से वह 'मुक्ति तत्व' उपलब्ध ॥ ४ ॥

---

१ बार-बार जन्म-मरण से छुटकारा २ मन की स्थिति।

निष्काम होना ही बन्धन-रहित अर्थात् मुक्त होना है। परम सत्य की निष्ठापूर्वक साधना होने पर ही वह निष्काम भाव उपलब्ध होता है [अर्थात् अन्य सांसारिक वासनाओं का त्याग सरल हो जाता है।] ॥ ४ ॥

अट्रवर् ऍन्बार् अवावट्रार्; मट्रैयार्
अट्राह अट्र दिलर् ॥ ५ ॥

त्यागी वही स्वतंत्र, जिन्होंने किया वासनाओं का त्याग;
वृथा त्याग, यदि रहा लेश भी इच्छाओं के प्रति अनुराग ॥ ५ ॥

अपनी इच्छाओं को वश में कर लेने वाले ही लोग वस्तुतः संन्यासी हैं। कामनाओं के त्याग के बिना, अन्य सारे त्याग अधूरे [और जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए काफी नहीं] हैं; वस्तुओं के त्याग की अपेक्षा वस्तुओं की आसक्ति का त्याग सच्चा त्याग है।] ॥ ५ ॥

ऍञ्जव दोरुम् अऱ्ऱे; ऑरुवऩै
वञ्जिप्प दोरुम् अवा ॥ ६ ॥

मानव को ठगता-भरमाता मोह-लालसा का यह रूप।
रहो सचेत, बचो इस रिपु से, यही धर्म का श्रेष्ठ स्वरूप ॥ ६ ॥

लालसा-लोलुपता सबसे अधिक भरमाने और ठगने वाली प्रवृत्ति है। सदैव उससे भय खाओ और उससे बचते रहो—यही सर्वोपरि धर्म है ॥ ६ ॥

अवाविऩै आट्र अरुप्पिट् ऱवाविऩै
ताऩ्वेण्डुम् आट्राऩ् वरुम् ॥ ७ ॥

सकल वासनाओं से जिसने अपने को कर लिया स्वतंत्र
हुआ अमर वह, ऋद्धि-सिद्धि-निधि—सब कुछ हैं उसके परतंत्र ॥ ७ ॥

इच्छाओं का दमन करो, बस मुक्ति के कपाट तुम्हारे लिए सब ओर से खुले हैं ॥ ७ ॥

अवाविल्लार्क् किल्लाहुम् दुऩ्बम्; अक्दुण्डेल्
तवाअदु मेऩ्मेल् वरुम् ॥ ८ ॥

दमन वासनाओं का करते—उनको नहीं दुःख का लेश।
दास वासनाओं के मानव सहते सदा क्लेश पर क्लेश ॥ ८ ॥

वासनाओं से रहित व्यक्तियों को दुःख और क्लेश का लेश नहीं रहता; वासनाओं में ग्रस्त व्यक्तिओं पर दुःखों की बाढ़ आती रहती है ॥ ८ ॥

इऩ्बम् इडैयऱा दीण्डुम्; अवावॅन्नुम्
तुऩ्बत्तुट् टुऩ्बम् कॅडिऩ् ॥ ९ ॥

सब दुःखों की मूल 'वासना' का जब होता बीज-विनाश,
जीवन में ही सुलभ शाश्वत[१] सुख का परमानन्द-प्रकाश ॥ ९ ॥

सन्तापों में सन्ताप, सारे क्लेशों की जड़ इस वासना [रूपी शत्रु] का यदि दमन कर सको, तो इसी जीवन में यहीं अनन्त परमानन्द की प्राति कर सकते हो ॥ ९ ॥

आरा इयऱ्‌के अवानीप्पिऩ्‌ अन्निलैये
पेरा इयऱ्‌के तरुम्‌ ॥ १० ॥

सदा अतृप्त-लालसा[२] की यदि एक बार मिट गई पिपास,
सदा तृप्ति[३] के अमर-सरोवर-सुख का मानो हुआ विकास ॥ १० ॥

कभी न तृप्त होने वाली इच्छा [रूपी शत्रु] से छुटकारा पाते ही। कभी न विलग होने वाले परमानन्द की स्थिति प्राप्त हो जाती है ॥ १० ।,

अदिकारम्‌ (अध्याय) ३८
ऊऴ्‌ (प्रारब्ध)

आहूऴाल्‌ तोऩ्‌ऱुम्‌ असैविऩ्‌मै कैप्पॉरुऴ्‌
पोहूऴाल्‌ तोऩ्‌ऱुम्‌ मडि ॥ १ ॥

जब सौभाग्य उदय होता है, यत्न और श्रम सफल सदैव।
अकर्मण्य[४]-आलसी सुनिश्चित होना, जब समीप दुर्दैव[५] ॥ १ ॥

[व्यक्ति के जीवन में] सौभाग्य के उदय होने से यत्न और श्रम का उदय होता है; दुर्भाग्य के उदय होने से ही अकर्मण्यता और आलस्य का आविर्भाव होता है ॥ १ ॥

पेदैप्‌ पडुक्कुम्‌ इऴवूऴ्‌ अऱिवहट्‌ऱुम्‌
आहलूऴ्‌ उट्‌ऱक्‌ कडै ॥ २ ॥

सौम्य[६] और सद्‌बुद्ध मूर्ख बन जाते जब अदृष्ट[७] प्रतिकूल।
होते मूर्ख, प्रबुद्ध-ज्ञानमय, जब उनका अदृष्ट अनुकूल ॥ २ ॥

प्रारब्ध प्रतिकूल होने पर बुद्धिमान् भी मूर्ख और जड़ हो जाते हैं; प्रारब्ध के अनुकूल होने पर मन्दबुद्धि जनों की भी बुद्धि प्रखर और उन्नतिशील हो जाती है ॥ २ ॥

नुण्णिय नूल्पल कऱ्‌पिऩुम्‌ मट्‌ऱुन्दऩ्‌
उण्मै अऱिवे मिहुम्‌ ॥ ३ ॥

---

१ सदैव रहने वाला २ कभी न बुझने वाली ३ सदैव रहने वाला स्थायी शान्ति-सन्तोष ४ निकम्मा ५ बुरी तकदीर ६ शान्त बुद्धि वाला ७ भाग्य।

'सहज-बुद्धि'—कर्मों के फल जो पाई पूर्वजन्म-अनुसार,
मनन-अध्ययन कितना भी हो, उसके आगे सब बेकार ॥ ३ ॥

विद्याओं और शास्त्रों का कितना ही सूक्ष्म अध्ययन क्यों न किया हो, किन्तु व्यक्ति की अपनी सहज स्वाभाविक बुद्धि ही प्रबल रहेगी। [अर्थात् पिछले कर्मों के संस्कारों से प्राप्त बुद्धि के आगे सारे यत्न शिथिल साबित होंगे] ॥ ३ ॥

इरुवे रुलहत् तियऱ्कै; तिरुवेरु
तॅळ्ळियर् आदलुम् वेरु ॥ ४ ॥

दो स्वभाव जग में होते हैं, पिछले कर्मों के अनुरूप—
एक पुजारी धन-वैभव के, एक ज्ञान-विद्या के रूप ॥ ४ ॥

पिछले कर्मों के प्रतिफल-स्वरूप संसार में दो प्रकार के स्वभाव होते हैं—कोई धन-वैभव का अर्जन करते हैं, कोई विद्या और ज्ञान का। [यत्न करने पर भी ज़रूरी नहीं कि बुद्धिमान् धनी भी हो अथवा धनवान् बुद्धिमान् भी हो जाय—कर्मानुसार भाग्य बन चुका है] ॥ ४ ॥

नल्लवै ऍल्लाम् तीयवाम्; तीयवुम्
नल्लवाम् सॅल्वम् सॅयऱ्कु ॥ ५ ॥

धन-अर्जन[1] में यत्न और श्रम यद्यपि करते एक समान,
भाग्यवान हैं सफल, अभागे विफल सदा होते इन्सान ॥ ५ ॥

अच्छे और बुरे पिछले कर्मों ही के प्रभाव से समृद्धि और सफलता का रूप बनता है। अच्छे से अच्छे प्रयत्न भी दैव प्रतिकूल होने पर व्यर्थ जाते हैं, और दैव अनुकूल होने पर सामान्य प्रयास से सहज ही सफलता हाथ लगती है ॥ ५ ॥

परियिनुम् आहावाम् पालल्ल; उय्त्तुच्
चॉरियिनुम् पोहा तम ॥ ६ ॥

अगर भाग्य अनुकूल, बिखेरा-बिछुड़ा भी धन आता हाथ।
अगर भाग्य प्रतिकूल, हाथ का आया धन होता बेहाथ ॥ ६ ॥

विधि का विधान न होने पर सारे यत्नों के बावजूद अपना सब कुछ बेहाथ हो जाता है; और विधान होने पर सारा विहित अपने लिए अनायास ही उपस्थित हो जायगा ॥ ६ ॥

वहुत्तान् वहुत्त वहैयल्लार् कोडि
तॉहुत्तार्क्कुम् तुय्त्तल् अरिदु ॥ ७ ॥

---

[1] धन कमाने में।

भले अपरिमित[१] धन के स्वामी किन्तु न कर सकते उपभोग!
विना विधाता के विधान के सुख का है दुर्लभ संयोग ॥ ७ ॥

अपरमित धन का संग्रह होने पर भी, यदि भाग्य में नहीं है तो, उसका उपभोग दुर्लभ है; [और यदि भाग्य में विहित है तो यत्न न करने पर भी सारा सौभाग्य सुरक्षित रहेगा] ॥ ७ ॥

तुऱ्प्पार्मऩ् तुप्पुर विल्लार् उऱऱ्पाल
ऊट्टा कऴि युमॅनिऩ ॥ ८ ॥

विना 'त्याग' के सहज भाव में त्यागी बन जाते धनहीन !
अगर भाग्य में लिखा न होता उन्हें बिताना जीवन दीन ॥ ८ ॥

धन और वैभव से हीन लोग तो तुरंत त्यागी और संन्यासी होकर परमानन्द प्राप्त कर लेते, यदि उनके भाग्य में दुखी-दरिद्र रहकर संसार के मोहजाल में ही फँसे रहना न लिखा होता । [अन्यथा जिसके पास त्यागने के लिए सुख-सम्पत्ति है ही नहीं, उसको इस दुःख भरे संसार से मोह क्यों होता ।] ॥ ८ ॥

नऩ्ऱाङ्गाल् नल्लवाक् काण्बवर् अऩ्ऱाङ्गाल्
अल्लऱ् पडुव दॅवऩ् ? ॥ ९ ॥

हम अपने सौभाग्य-सुफल[२] का हँस-हँस कर करते उपभोग;
उदय हुआ दुर्भाग्य, कुफल[३] से क्यों विराग है? क्यों अनुयोग?[४] ॥ ९ ॥

सौभाग्य (सत्कर्म) के उदय होने पर सुन्दर प्रतिफलों का मनुष्य स्वागत करता है और उनका आनन्द भोगता है; किन्तु दुर्भाग्य (अपकर्म) के बुरे फलों की प्राप्ति होने पर उसको क्यों शिकायत है और उनसे वह क्यों भागना चाहता है। [क्या यह मनुष्य का अन्याय नहीं है ?] ॥ ९ ॥

ऊऴिऱ् पॅरुवलि यावुळ ? मट्ऱॉऩ्ऱु
सूऴिऩुम् दाऩ्मुन् दुऱुम् ॥ १० ॥

अहा! भाग्य से प्रबल कौन है ? मानव सदा भाग्य-आधीन!
सञ्चित[५] से संचालित[६] मानव! कितना ही हो कुशल-प्रवीन ॥ १० ॥

मानव के सञ्चितों (कृत शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफलों) से अधिक प्रबल कौन है ? मनुष्य की सारी योजनाओं और कुशलताओं पर उसके भाग्य का अंकुस रहता है ॥ १० ॥

---

१ अपार २ अच्छे भाग्य का अच्छा फल ३ बुरे भाग्य का बुरा फल
४ शिकायत ५ पिछले जन्म में किये हुए कर्म ६ चलाया जाता है ।

तिरुक्कुरळ्

खण्ड द्वितीय

शासन-नीति

अदिहारम् (अध्याय) ३९

इरैमाट्चि (शासक के गुण)

पडैकुडि कूळ्अमैच्चु नट्पुअरण् आरुम्
उडैयात् अरशरुळ् एरु ॥ १ ॥

सच्चे सखा, सुयोग्य सचिव, दृढ़ दुर्ग, प्रजा की भक्ति अनन्य,
सबल सैन, धन प्रचुर—यही छह पाकर नृप होता है धन्य ॥ १ ॥

[सर्वाङ्गपूर्ण] सेना, [भक्त] प्रजा, प्रचुर धन, कुशल नीतिज्ञ मंत्रिगण, विश्वसनीय मित्र (अथवा मित्रराष्ट्र) और दृढ़ दुर्ग—इन छः निधिओं पर जिसका अधिकार है वही सफल शासक और भूपालों का भूपाल है ॥ १ ॥

अञ्जामै ईहै अरिवूक्कम् इन्नात्गुम्
ॲञ्जामै वेन्दर् कियल्बु ॥ २ ॥

अभय, अथक उत्साह, बुद्धि, औ' उदारता—गुण चार प्रधान,
इनसे समलंकृत[1] शासक ही है सुयोग्य सब भाँति महान् ॥ २ ॥

निर्भयता, उदारता, बुद्धि-विवेक और अनन्त स्फूर्ति एवं उत्साह—इन चार गुणों से जो समलंकृत है वही शासक होने के योग्य है ॥ २ ॥

तूङ्गामै कल्वि तुणिवुडैमै इम्मून्रुम्
नीङ्गा निलन्नाळ् पवर्कु ॥ ३ ॥

सदा सजग-तत्पर; अदम्य साहस; औ' विद्या से परिपूर्ण—
हैं अनिवार्य तीन गुण—इनके बिना भूप है विफल-अपूर्ण ॥ ३ ॥

जागरूकता (सदैव सावधानी व सतर्कता), विद्या, और साहस (पराक्रम)—ये तीन लक्षण शासक में होना ज़रूरी हैं ॥ ३ ॥

---

१ युक्त, विभूषित ।

अऱनिऴुक्का तल्लवै नीक्कि मऱनिऴुक्का
मानम् उडैय तरशु ।। ४ ।।

साहस से कर सका निवारण अधरम और पाप-आचार,
मर्यादा को किया सुरक्षित, वही नृपति गुण का आगार ।। ४ ।।

सुयोग्य शासक सदैव धर्म पर आरूढ़ रहकर अधर्म को रोकता हुआ, मर्यादा की रक्षा करता है ।। ४ ।।

इयट्ऱलुम् ईट्टलुम् कात्तलुम् कात्त
वहुत्तलुम् वल्ल तरशु ।। ५ ।।

राजकोष की नित समृद्धि, संचय, रक्षा में निरत[1] नृपाल,
खर्च प्रजा-प्रतिपाल हेतु करता है, वही सफल भूपाल ।। ५ ।।

योग्य शासक [राज्य के लिए] लक्ष्मी का उपार्जन करता, उसकी सुरक्षा करता [अर्थात् अन्दर-बाहर के शत्रुओं से उसकी क्षति होने से बचाता], तथा उस लक्ष्मी [और उससे प्राप्त सभी साधनों] को [राज्य तथा प्रजा के कल्याण के लिए] खर्च करता है ।। ५ ।।

काट्चिक् कॆळियन् कडुञ्जॊल्लन् अल्लनेल्
मीक्कूऱुम् मन्नन् निलम् ।। ६ ।।

सहज पैठ[2], मधु-वयनों से स्वागत है, कभी न कटु व्यवहार ।
करता है गुणगान कुशल ऐसे नृप का सारा संसार ।। ६ ।।

यदि [प्रजा की] शासक के पास सरलता से पैठ है और वहाँ [मधुर के अलावा] कठोर वचनों का सामना नहीं पड़ता, तो ऐसे शासक और उसके शासन की लोक प्रशंसा करता है ।। ६ ।।

इन्शॊलाल् ईत्तळिक्क वल्लाऱ्कुत् तन्शॊलाल्
तान्कण् डनैत्तिव् वुलहु ।। ७ ।।

दृढ़ता से रक्षा करता है, नेह—दयामय और उदार,
ऐसे कुशल नृपति की मुट्ठी में रहता सारा संसार ।। ७ ।।

जो शासक मधुरभाषी और उदार होकर भी न्याय पर दृढ़ रहकर सुरक्षा करता है, सारा लोक सहर्ष उसके वश में रहता है ।। ७ ।।

मुऱैशॆय्दु काप्पाट्ऱुम् मन्नवन् मक्कट्कु
इऱैऎन्ऱु वैक्कप् पडुम् ।। ८ ।।

---

१ लगा हुआ २ सरलता से प्रवेश है ।

न्याय-तराजू में जिसके है सदा सुरक्षित जन-कल्यान,
वही नृपति पुजता है जग में ईश्वर [के प्रतिनिधी] समान ॥ ८ ॥

जो शासक न्याय का पूरा पालन करते हुए प्रजा की रक्षा करता है, उसकी प्रजा ईश्वर के समान उसका सम्मान करती है [न्याय की तराजू पर राजा-रंक जब समान दण्ड पाते हैं, तब प्रजा को दण्ड पाकर भी उस राजा से शिकायत नहीं रहती। न्यायी शासक कहकर सब उसकी भक्ति करते हैं।] ॥ ८ ॥

शॆविहैप्पच् चॊऱ्पॊरुक्कुम् पण्बुडै वेन्दऩ्
कविहैक्कीऴ्त् तङ्गुम् उलहु ॥ ९ ॥

सहन जिसे कटुसत्य, न कड़ुई लगती जिसको सही सलाह,
नीतिमान ऐसे नृप की छाया में जग को सदा पनाह[1] ॥ ९ ॥

सत्य कितना भी कटु हो, सलाह कितनी भी कड़ुई हो, उसको जो शासक ध्यान और प्रसन्नता से सुनता है [वह कभी धोखा खाकर विनष्ट नहीं होता और] उसकी छाया के नीचे संसार सुरक्षित और निरापद रहता है ॥ ९ ॥

कॊडैअळि शॆङ्गोल् कुडिओम्बल् नाऩ्गुम्
उडैयाऩाम् वेन्दर्क् कॊळि ॥ १० ॥

राजदण्ड का दृढ़ धारण[2] है, लेकिन दया, दान का रूप,
सदा प्रजा का हित-चिन्तन है,—भूपालों में भूप अनूप ॥ १० ॥

दान- करुणा, दृढ़ राजदण्ड द्वारा न्याय, और प्रजा के कल्याण पर सदैव दृष्टि—इन चार गुणों से युक्त शासक, शासकों में [मणि के समान] प्रकाशवान् है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४०

कल्वि (शिक्षा)

कऱ्क कशडऱक् कऱ्पवै; कट्रबिन्
निऱ्क अदऱ्कुत् तह ॥ १ ॥

मिले जहाँ से, जैसे, करिए प्राप्त सर्वदा ज्ञान पुनीत;
आजीवन ढालिए उसे जीवन में, यही शुद्ध है रीति ॥ १ ॥

---

१ सुरक्षा, शरण २ न्याय से शासन करने में मज़बूत, शील-सिफ़ारिश नहीं।

जो भी पवित्र ज्ञान जहाँ से भी अर्जित हो सके, उसको अवश्य ग्रहण करो। और ग्रहण करने के बाद [आजीवन उसको व्यवहार में लाओ और] उस पर क़ायम रहो ॥ १ ॥

ऍण्णॆऩ्ब एऩै ऍऴुत्तॆऩ्ब इव्विरण्डुम्
कण्णॆऩ्ब वाऴुम् उयिर्क्कु ॥ २ ॥

जागृत जन के नयन युगल हैं—अक्षर-अंक, ज्ञान-विज्ञान।
कला और साहित्य, गणित [से उन्नत होता है इन्सान] ॥ २ ॥

अक्षर (अर्थात् साहित्य एवं कला) और अंक (अर्थात् गणित, विज्ञान आदि), जागरूक आत्माओं के ये दो नेत्र हैं। [यदि कोई इन दो नेत्रों से रहित है, तो आँखें रहते वह नेत्रहीनों की भाँति संसार के हर क्षेत्र में भटकता रहेगा।] ॥ २ ॥

कण्णुडैयर् ऍऩ्बवर् कट्ऱोर्; मुहत्तिरण्डु
पुण्णुडैयर् कल्ला दवर् ॥ ३ ॥

नेत्रवान् हैं वही [ज्ञान-विज्ञान-युक्त] जो हैं विद्वान्।
अशिक्षितों के नयन नहीं, दो जख्म[1] लिए फिरते नादान ॥ ३ ॥

[ज्ञान-विज्ञान से युक्त] शिक्षित व्यक्ति ही सचमुच नेत्रवान् है। विद्या-विहीन के चेहरे पर दोनों नेत्र व्यर्थ दो वृणों (घावों) के सदृश होते हैं। [विद्याविहीन होने से वह अच्छा-बुरा नहीं देख-समझ पाते। उलटे कष्ट पाल लेते हैं, इसलिए वे दिखावटी नेत्र जख्म ही हुए!] ॥ ३ ॥

उवप्पत् तलैक्कूडि उळ्ळप् पिरिदल्
अऩैत्ते पुलवर् तॊऴिल् ॥ ४ ॥

मिलते हैं विद्वान् परस्पर पाते हैं अनन्त आह्लाद[2],
होते विलग, परस्पर चिन्तन की करते हैं पुनि-पुनि याद ॥ ४ ॥

विद्वान् जब परस्पर मिलते हैं तब प्रसन्न होते हैं, और जब एक-दूसरे से विलग होते हैं तब [आदान-प्रदान से प्राप्त] विचारों का गंभीर चिन्तन ले कर [विलग होते हैं।] ॥ ४ ॥

उडैयार्मुऩ् इल्लार्पोल् एक्कट्ऱुम् कट्ऱार्;
कडैयरे कल्ला दवर् ॥ ५ ॥

---

१ आँखें नहीं बल्कि दो वृण (घाव) हैं २ आनन्द।

है मुहताज धनी का निर्धन, आये दिन फैलाता हाथ,
उसी भाँति विद्वज्जन के सम्मुख अज्ञानी सदा अनाथ ॥ ५ ॥

विद्वान् के सामने विद्याविहीन और अज्ञानी वैसा ही मुहताज और फ़कीर है जैसा किसी धनी के सामने गरीब भिखारी । [अथवा, जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए उतने ही विनम्र रहते हैं जितना एक गरीब भिखारी धनी के सामने, तो वही पण्डित हैं; बाकी तो इतर श्रेणी के लोग हैं ।] ॥ ५ ॥

तॊट्टनैत् तूरुम् मणऱ्केणि; मान्दर्क्कुक्
कट्रनैत् तूरुम् अऱिवु ॥ ६ ॥

ज्यों-ज्यों खोदो धरती गहरी, त्यों-त्यों प्रबल मिले जलधार ।
बुद्धि प्रखर होती जाती है, सदा अध्ययन के अनुसार ॥ ६ ॥

भूमि को जितना गहरा खोदते जाओगे, उतना ही अधिक जल प्राप्त होगा । उसी प्रकार जितना अधिक सीखने का यत्न करोगे उतनी ही विद्या और विवेक की वृद्धि होगी ॥ ६ ॥

यादानुम् नाडामाल् ऊरामाल् ऎन्नॊरुवन्
शान्तुणैयुम् कल्लाद वाऱु ॥ ७ ॥

सारी धरती, सकल नगर हैं विद्वानों का अपना धाम ।
विद्याविमुख भटकता मूरख इधर-उधर है क्यों नाकाम ? ॥ ७ ॥

निद्वान् के लिए सारे नगर, सारी धरती उसकी अपनी है [वह सर्वत्र की भाषा, ज्ञान, विज्ञान को सीखने के लिए तत्पर और आतुर है, इसलिए वह किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं है । सारी पृथ्वी उसका कुटुम्ब है ।] फिर ऐसे विद्या-रूपी साधन को छोड़कर इधर-उधर भटकने की क्या ज़रूरत ? ॥ ७ ॥

ऒरुमैक्कण् तान्कट्र कल्वि ऒरुवर्कु
ऎऴुमैयुम् एमाप् पुडैत्तु ॥ ८ ॥

एक जन्म में अर्जित विद्या का फल सात जन्म पर्यन्त ।
ज्ञान-कल्पतरु[1] जन्म-जन्म तक देता है फल सदा अनन्त ॥ ८ ॥

एक जन्म में प्राप्त की हुई विद्या [उस जीवन ही में नहीं अपितु] सात जन्मों तक काम देती है [और पूर्व-अर्जित विद्या के संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक विद्या की ओर उत्तरोत्तर उन्मुख करते रहते हैं ।] ॥ ८ ॥

---

१ ज्ञानरूपी सदैव फल देनेवाला वृक्ष ।

तामिऩ् पुरुव दुलहिऩ् पुऱक्कण्डु
कामुरुवर् कट्ऱऱिन् दार् ।। ९ ।।

नित्य बढ़ाते रहते विद्वज्जन विद्या का निज भण्डार।
क्योंकि अकेले नहीं, वरन् जग उससे पाता सुक्ख अपार ।। ९ ।।

विद्वान् की विद्या से न केवल वह स्वयं, वरन् संसार [लाभान्वित और] सुखी होता है—यह देखकर विज्ञजनों के विद्यानुराग में और वृद्धि होती है ।। ९ ।।

केडिल् विऴुच्चेल्वम् कल्वि ऑरुवर्कु;
माडल्ल मट्ऱै यवै ।। १० ।।

विद्या ही सम्पदा, न जिसका सम्भव जग में कभी विनास।
निरानन्द[1] हैं अन्य सकल धन, एक दिवस है सबका ह्रास[2] ।। १० ।।

विद्या-धन वह धन है जिसको कोई [अपहरण अथवा] नष्ट नहीं कर सकता। बाकी सारी धन-सम्पत्तियाँ [नाशवान और] वास्तविक सुख से परे हैं ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ४१

कल्लामै (अशिक्षा)

अरङ्गिऩ्ऱि वट्टाडि यट्ऱे निरम्बिय
नूलिऩ्ऱिक् कोट्टि कॉळल् ।। १ ।।

दुःसाहस शतरंज खेलने का करता है बिना बिसात[3]।
उसी भाँति विद्याविहीन की बुधजन[4] में निष्फल है बात ।। १ ।।

विद्वानों के बीच विद्याविहीन व्यक्ति का बोलने का प्रयत्न करना वैसा ही [हास्यास्पद है जैसा विना बिसात (शतरंजी) के शतरंज खेलना ।। १ ।।

कल्लादाऩ् शॊंर्का मुरुदल् मुलैयिरण्डुम्
इल्लादाळ् पॆण्हामुट् ऱट्ऱु ।। २ ।।

वृथा यत्न है, मुग्ध न कर सकता है कभी मूर्ख-संलाप।
दुर्लभ जैसे कुचहीना[5] को किसी पुरुष का प्रेम-कलाप ।। २ ।।

---

१ नीरस २ कमी, घटाव ३ जिस कपड़े पर शतरंज खेलते हैं ४ विद्वानों ५ स्तनहीन नारी।

विद्याविहीन का वाक्चातुर्य दिखाकर [श्रोताओं को] मुग्ध करने का प्रयास वैसा ही [व्यर्थ और निष्फल] है जैसा बिना स्तनवाली नारी का किसी को अपने प्रति प्रेम के लिए आकर्षित करना ॥ २ ॥

कल्ला दवरुम् नन्निनल्लार् कट्रार्मुन्
शॉल्ला दिरुक्कप् पॆरिन् ॥ ३ ॥

विद्वानों के बीच सदा समुचित है अज्ञानी को मौन[1]।
मौन रहे मर्याद ढकी, कह सकता है, 'वह मूरख', कौन ?॥ ३ ॥

विद्वानों के सम्मुख [बोलने का साहस न करके] मौन रहने पर विद्याविहीन [और मूर्ख] की भी विद्वानों में गणना हो जाती है ॥ ३ ॥

कल्लादान् ऑट्पम् कळियनन् ड्रायिनुम्
कॉळ्ळार् अरिवुडै यार् ॥ ४ ॥

कभी अशिक्षित के मुख से निकले भी अगर बुद्धि की बात।
विद्वानों के बीच न उसके बचनों की है कभी बिसात[2] ॥ ४ ॥

विद्यारहित व्यक्ति द्वारा बुद्धि-सम्मत बात कही जाने पर भी, विद्वान् उसको मान्यता नहीं देते ॥ ४ ॥

कल्ला ऑरुवन् तहैमै तलैप्पॆय्दु
शॉल्लाडच् चोर्वु पडुम् ॥ ५ ॥

[मौन त्याग कर] अज्ञानी ने कभी किया यदि वाग्विलास[3]।
बुधजन में कलई खुल जाती, क्षण में हो जाता उपहास ॥ ५ ॥

विद्वानों से [साक्षात् होते और उनसे] बातचीत करते ही, अशिक्षित की विद्या और चातुरी की कलई खुल जाती है ॥ ५ ॥

उळरॆन्नुम् मात्तिरैय रल्लार् पयवाक्
कळरनैयर् कल्ला दवर् ॥ ६ ॥

शिक्षा-ज्ञान-विहीन व्यक्ति की तुलना है मरुभूमि समान।
वर्षा विफल, यत्न सब निष्फल—सुलभ न जड़[4] से कुछ कल्यान ॥ ६ ॥

अशिक्षितों के सम्बन्ध में यही कहा ज़ा सकता है कि ऊसर भूमि के समान उनका अस्तित्व है जिसमें कुछ भी पैदा नहीं होता ॥ ६ ॥

---

१ ख़ामोश २ मूल्य ३ बोलने में चतुराई ४ मूर्ख।

नुण्माण् नळैपुल मिल्लात् ऍळिल्नलम्
मण्माण् पुत्तैवावै यट्रु ॥ ७ ॥

लेश न विद्या का, विमूढ़[1] है, किन्तु लिये है भव्य स्वरूप ।
चीनी की गुड़िया समान बस सजा-सजाया उसका रूप ॥ ७ ॥

विद्या का जिसमें अभाव है, किन्तु देखने में अतिरूपवान है, वह व्यक्ति सजी-सजाई चीनी की गुड़िया के समान है [जिसका रूप देखने भर को है; वह एक शब्द भी बोल नहीं सकती।] ॥ ७ ॥

नल्लार्कट् पट्ट वरुमैयित् इन्नादे
कल्लार्कट् पट्ट दिरु ॥ ८ ॥

व्यर्थ मूर्ख के लिए सकल धन, यद्यपि है वह वैभववान् ।
निर्धन यदि विद्वान् तदपि वह मतिमन्दों से सदा महान् ॥ ८ ॥

सम्पन्न विद्याविहीन की सम्पत्ति, अभावग्रस्त विद्वान् की गरीबी की अपेक्षा, अधिक दुखदाई है ॥ ८ ॥

मेर्पिरन्दा रायित्तुम् कल्लादार् कीळ्प्पिरन्दुम्
कट्रार् अन्नैत्तिलर् पाडु ॥ ९ ॥

विद्या से विहीन कुलवन्तों के कुल की कीमत है व्यर्थ ।
तुलना में विद्वान्-मन्दकुल[2] कहीं[3] श्रेष्ठ है, कहीं समर्थ ॥ ९ ॥

विद्यारहित श्रेष्ठ कुलवाले व्यक्ति विद्वान् अकुलीनों की अपेक्षा सदैव निकृष्ट साबित होंगे ॥ ९ ॥

विलङ्गोडु मक्कळ् अन्नैयर्; इलङ्गुनूल्
कट्रारोडु एनै यवर् ॥ १० ॥

विद्वानों की प्रखर ज्योति के सम्मुख, मूर्ख सदा है दीन ।
जिस प्रकार मानव के सम्मुख पशु की दशा सर्वथा हीन ॥ १० ॥

पाण्डित्य से प्रकाशमान विद्वानों की तुलना में अशिक्षितों का वही स्थान है जो मानवों की तुलना में पशुओं का [स्थान है। विद्याविहीन मनुष्य साक्षात् विना सींग-पूँछ के पशु हैं।] ॥ १० ॥

---

१ अज्ञानी, नादान २ कुल तो हीन है किन्तु विद्या से युक्त है ३ अत्यधिक ।

अदिहारम् (अध्याय) ४२

केळ्वि (श्रवणशीलता)

शॆल्वत्तुट् चॆल्वम् शॆविच्चॆल्वम्; अच्चॆल्वम्
शॆल्वत्तुळॆल्लाम् तलै ॥ १ ॥

श्रवण-पान करते, विद्वानों के कथनों पर देते कान।
सकल सम्पदाओं में उनका 'सुनना' है सम्पत्ति महान् ॥ १ ॥

[गुणज्ञों और विद्वानों के कथन के श्रवण में अनुराग रखना और] सुनना महान् सम्पदा है। वह सब धनों में श्रेष्ठ धन है ॥ १ ॥

शॆविक्कुण विल्लाद पोऴ्दु शिऱिदु
वयिट्ऱुक्कुम् ईयप् पडुम् ॥ २ ॥

जब कानों की तृप्ति हेतु हमको दुर्लभ हो जाय अहार[1]।
तभी उदर को पूरित करने[2] के प्रति मन में करें विचार ॥ २ ॥

जब कानों की तृप्ति के लिए आहार [अर्थात् गुणी-विद्वानों के अमृत-वचन] शेष न रह जायँ, तब उदर के लिए आहार की ओर ध्यान दिया जाय ॥ २ ॥

शॆवियुणविऱ् केळ्वि उडैयार् अविवुणविन्
आन्ऱारो डॊप्पर् निलत्तु ॥ ३ ॥

सुनते सीख, सदा श्रवणों में भरते रहें ज्ञान-विज्ञान।
हैं मानो नैवेद्य-तृप्त वे धरती पर देवता समान ॥ ३ ॥

जिनके कान [दुर्लभ] ज्ञान और सद्वार्ता को सुन कर तृप्त हो चुके हैं, वह पृथ्वी पर उन देवताओं के सदृश हैं जिनको नैवेद्य समर्पित होता है ॥ ३ ॥

कट्ऱिल नायिनुम् केट्क; अहदॊरुवऱ्कु
ऒऱ्कत्तिन् ऊट्ऱाम् तुणै ॥ ४ ॥

विद्याहीन, किन्तु सद्वचनों के सुनने में प्रीति अपार।
यह 'सुनना' भी समय पड़े पर करता है संकट के पार ॥ ४ ॥

---

१ भोजन (सुनने योग्य सामग्री) २ पेट भरने।

जिन्होंने विद्या नहीं प्राप्त की है, वे भी यदि विद्वानों के कथनों को सुनते और ग्रहण करते हैं, तो समय पड़ने पर वह श्रवण उनके लिए बड़ा सहारा साबित होता है ॥ ४ ॥

इऴुक्कल् उडैयुऴि ऊट्रुक्कोल् अट्रे
ऑऴुक्कम् उडैयार्वाय्च् चौल् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार फिसलन वाली धरती पर लकुटी[1] है आधार[2]।
देना कान सदा सत्पुरुषों के वचनों पर उसी प्रकार ॥ ५ ॥

सत्पुरुषों के वचनों को सुनना और ग्रहण करना, फिसलन वाली ज़मीन पर छड़ी के समान [जीवन में] सहारा है ॥ ५ ॥

ऍऩैत्ताऩुम् नल्लवै केट्क; अऩैत्ताऩुम्
आन्ऱ पॅरुमै तरुम् ॥ ६ ॥

अच्छी और बुद्धि की बातों को सुनना सीखना महान्।
अल्प ज्ञान भी हमको देता रहता है क्रमशः सम्मान ॥ ६ ॥

भली बातों का थोड़ा भी सुन लेना और उन पर ध्यान देना व्यक्ति को एक सीमा तक महान् बनाता है ॥ ६ ॥

पिऴैत्तुणर्न्दुम् पेदैमै शॊल्लार् इऴैत्तुणर्न्दु
ईण्डिय केळ्वि यवर् ॥ ७ ॥

सद्वचनों के श्रवण-मनन-धारण में जिनको प्रीति अपार।
उनके मुख से कभी भूल कर नहीं निकलते वचन असार[3] ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति अच्छी बातों को सुनते और उन्हें भली प्रकार धारण करते रहते हैं, वे कभी भूल कर भी मूर्खों और अशिक्षितों जैसी बात मुँह से नहीं निकालते ॥ ७ ॥

केट्पिऩुम् केळात् तहैयवे केळ्वियाल्
तोट्कप् पडाद शॆवि ॥ ८ ॥

शिक्षा और ज्ञानमय वाणी से वञ्चित[4] हैं जिनके कान।
सुनते हैं प्रत्यक्ष, किन्तु फिर भी वे मानव वधिर[5] समान ॥ ८ ॥

जिन कानों में शिक्षा और उपदेश प्रवेश नहीं कर सके, वे कान सुनते हुए भी बहरों के समान हैं ॥ ८ ॥

---

१ छड़ी, लाठी २ सहारा ३ व्यर्थ ४ रहित, खाली ५ बहरे।

नुणङ्गिय केळ्वियर् अल्लार् वणङ्गिय
वायिऩर् आदल् अरिदु ॥ ९ ॥

दिये न कान, ज्ञान की बातों के सुनने में सदा उदास।
उनके मुख से शिष्ट-भद्र वचनों का सम्भव कहाँ निकास ? ॥ ९ ॥

जिनके कानों ने ज्ञान की बातें नहीं ग्रहण की हैं, उनके मुख से शिष्ट और भद्र वाणी का निकलना कठिन है ॥ ९ ॥

शॆवियिऱ् शुवैयुणरा वायुणर्विऩ् माक्कळ्
अवियिऩुम् वाऴिऩुम् ऎऩ् ? ॥ १० ॥

विविध स्वाद मुख से चखते हैं, किन्तु न श्रवणामृत का स्वाद।
ऐसे पुरुषों के जीने-मरने में कैसा हर्ष-विषाद[1] ? ॥ १० ॥

जिनके कानों ने श्रवणामृत का स्वाद नहीं चखा, और जिनका मुख [भाँति-भाँति के] स्वादों को ग्रहण करता रहता है, उन व्यक्तियों का जीवन व्यर्थ है। उनके जीने-मरने में कोई अन्तर नहीं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४३

अऱिवुडैमै (प्रज्ञा-बुद्धि)

अऱिवट्रम् काक्कुम् करुवि; शॆरुवार्क्कुम्
उळ्ळऴिक्क लाहा अरण् ॥ १ ॥

अहा ! बुद्धि दृढ़-दुर्ग[2] ! प्रयत्नों को रिपुओं के करती व्यर्थ।
दुख-विनाश से पूर्ण सुरक्षा करने में है बुद्धि समर्थ ॥ १ ॥

दुःखों और विनाश से रक्षा करने के लिए बुद्धि अमोघ अस्त्र है। शत्रुओं को विफल करने के लिए बुद्धि दृढ़ दुर्ग के समान है ॥ १ ॥

शॆऩ्ऱ इडत्ताऱ् शॆलविडा तीदॊरीइ
नऩ्ऱिऩ्बाल् उय्प्प दऱिवु ॥ २ ॥

चञ्चल मन पर संयम रखती, भली बात पर सदा झुकाव।
बुरी बात से सदा बचाती—यही बुद्धि का सहज स्वभाव ॥ २ ॥

---

१ सुख-दुःख २ मज़बूत किला।

मन और इन्द्रियों को भटकने से नियंत्रित करने वाली और बुराइयों से बचा कर भलाइयों की ओर प्रवृत्त करने वाली बुद्धि ही श्रेष्ठ बुद्धि है ॥ २ ॥

ऍप्पॊरुळ् यार्यार्वाय्क् केट्पिनुम् अप्पॊरुळ्
मॆय्प्पॊरुळ् काण्ब दऱिवु ॥ ३ ॥

कहीं, किसी से, किसी भाँति के सुनकर वचन दीजिए ध्यान ।
सार तथ्य लेवें निकाल, बस श्रेष्ठ बुद्धि की यह पहचान ॥ ३ ॥

कहीं से, किसी से, और जो कुछ भी सुना जाय, [उसमें प्रवाहित न होकर] उस कथन में निहित तथ्य (वास्तविकता) को जान लेना ही बुद्धि का लक्षण है ॥ ३ ॥

ऍण्बॊरुळ वाहच् चॆलच्चॊल्लित् तान्पिऱर्वाय्
नुण्बॊरुळ् काण्ब दऱिवु ॥ ४ ॥

सरल सुबोध रीति से अपने कर सकते यदि व्यक्त[1] विचार ।
सफल बुद्धि, यदि कथन दूसरों के सुन, सही निकालें सार[2] ॥ ४ ॥

अपने विचारों को सुबोध सरल भाषा में प्रकट कर सकना, और दूसरे के विचारों के मर्म को ठीक समझ लेना—यही बुद्धिमत्ता है ॥ ४ ॥

उलहम् तऴीइय तोट्पम्; मलर्तलुम्
कूम्बलुम् इल्ल तऱिवु ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् की बुद्धि-ज्योति से जगमग है 'प्रबुद्ध संसार' ।
सुमनकली वह नहीं कि खिलकर मुरझाती है नित्य असार ॥ ५ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति का सारा बौद्धिक जगत् आदर और उससे स्नेह करता है। [वह सारे बौद्धिक जगत् में ख्याति पाता है।] बुद्धि की तुलना उस कुसुम-कली से नहीं है जो खिल कर [विना प्रयोजन में आये] मुरझा जाया करती है ॥ ५ ॥

ऍव्व तुऱैव दुलहम् उलहत्तोडु
अव्व तुऱैव दऱिवु ॥ ६ ॥

जग के सदा बदलते रस में अपने रस का करो मिलान ।
बैपरना[3] युगधर्म बुद्धि है, इसी चलन में है कल्यान ॥ ६ ॥

---

१ प्रकट कर सकते, दूसरे को समझा सकते २ मतलब निकाल लें ३ संसार में आचरण करना, व्यवहार करना ।

संसार की बदलती रहती परिस्थिति के अनुसार संसार से सम-रस होकर चलना और बैपरना—यही बुद्धिमानी है ।। ६ ।।

अऱिवुडैयार् आव दऱिवार्; अऱिविलार्
अह्दऱि कल्ला दवर् ।। ७ ।।

वही दूरदर्शी प्रबुद्ध जिनको भविष्य का है आभास[1] ।
'कल की खबर न' ऐसे मतिमन्दों में कहाँ बुद्धि का वास ? ।। ७ ।।

भविष्य में हवा का क्या रुख होने वाला है—यह पहचान लेने वाले दूरदर्शी ही बुद्धिमान् हैं । जो आने वाले समय की गति की गंध नहीं पाते वे बुद्धि से नितांत परे हैं ।। ७ ।।

अञ्जुव तञ्जामै पेदैमै; अञ्जुवदु
अञ्जल् अऱिवार् तॊऴिल् ।। ८ ।।

भय की बातों से बचते हैं, सावधान रहते मतिमान् ।
दुःसाहस से, या प्रमादवश, भय में फँसते हैं नादान ।। ८ ।।

भयावह वस्तुओं से भय खाना और उनसे सचेत रह कर बचाव का उपाय करना बुद्धिमानी है । जो भयानक हैं, उनसे भय न मान कर [असावधान रह कर] दुस्साहस करना बुद्धि से विपरीत है ।। ८ ।।

ऎदिरदाक् काक्कुम् अऱिविऩार्क् किल्लै
अदिर वरुवदोर् नोय् ।। ९ ।।

हैं भविष्य से जो सचेत, पहले से[2] करते सदा बचाव ।
आकस्मिक विपदाओं में इन मतिमानों का नहीं फँसाव ।। ९ ।।

भविष्य की आशंकाओं से सचेत और सावधान रहने वाले बुद्धिमानों को आकस्मिक विपत्तियों के धक्के नहीं सहने पड़ते ।। ९ ।।

अऱिवुडैयार् ऎल्लाम् उडैयार्; अऱिविलार्
ऎन्ऩुडैय रेऩुम् इलर् ।। १० ।।

सब कुछ उनको सुलभ जगत् में जिन्हें बुद्धि पर है अधिकार ।
बुद्धिहीन के पास किन्तु 'जो कुछ' है, सब होता बेकार ।। १० ।।

बुद्धि से युक्त जनों को धरती की सब निधियाँ सुलभ हो जाती हैं; बुद्धि से हीन जन सब कुछ अपने पास रहते हुए भी गवाँ बैठते हैं । [उनको उसका सुख और उपयोग नहीं मिल पाता ।] ।। १० ।।

---

१ झलंक २ संकट आ पहुँचने से पहले ही ।

अदिहारम् (अध्याय) ४४

कुट्रङ्गडिदल् (अवगुण-निवारण)

शॆरुक्कुम् शिऩमुम् शिरुमैयुम् इल्लार्
पॆरुक्कम् पॆरुमिद नीर्त्तु ॥ १ ॥

क्रोध, लोभ, मद[मोहादिक]से जन, जनपतिं जो रहे विहीन ।
वही संयमी व्यक्ति शिखर पर उन्नति के होते आसीन ॥ १ ॥

अहंकार, क्रोध और लोभ[काम आदि] के दोषों से जो मुक्त हैं वे ही उन्नति के शिखर पर पहुँचते हैं ॥ १ ॥

इवऱुलुम् माण्बिऱन्द माऩमुम् माणा
उवहैयुम् एदम् इऱैक्कु ॥ २ ॥

यदि जीवन विलास-मय उनको, लोभ-उग्रमद के वे रूप ।
श्रेष्ठ जनों, नरपतियों में ये अवगुण सदा कलंक-स्वरूप ॥ २ ॥

लोभ, प्रबल मद और अधम विलास—ये तीन अवगुण राजाओं-राजपुरुषों को कलंकित कर देते हैं ॥ २ ॥

तिऩैत्तुणैयाम् कुट्रम् वरिऩुम् पऩैत्तुणैयाक्
कॊळ्वर् पळिनाणु वार् ॥ ३ ॥

अपयश की शंका जिनको है, जिनको नहीं सहन अपमान ।
तिल समान निज न्यून दोष[1] को भी गिनते हैं ताड़ समान ॥ ३ ॥

कलंक और अपयश से डरने वाले व्यक्ति तिल (अन्नकण) के बराबर दोष को भी ताड़ के समान बड़ा मानते [और उससे दूर भागते] हैं ॥ ३ ॥

कुट्रमे काक्क पॊरुळाहक् कुट्रमे
अट्रम् तरूउम् पहै ॥ ४ ॥

बचो सर्वदा, निज दोषों को समझो अपना शत्रु महान ।
रहना अवगुणहीन—यही गुण अनुपम ऋद्धि-सिद्धि की खान ॥ ४ ॥

निर्दोषता (अवगुण-हीनता) की खजाने के समान रक्षा करो [और कणमात्र दोष को भी कलंक-राशि समझ कर उससे बचो,] क्योंकि [सामान्य से सामान्य भी] दोष तुम्हारे परम शत्रु हैं ॥ ४ ॥

---

१ छोटे से दोष को भी ।

वरुमुन्नर्क् कावादान् वाळ्क्कै ऍरिमुन्नर्
वैत्तूरु पोलक् कॆडुम् ।। ५ ।।

रहते समय, न निज दोषों को जिस मानव ने लिया सँवार।
होता भस्म, अग्नि में पड़ कर जैसे सूखा खर-पतवार ।। ५ ।।

अपने दोषों को जो व्यक्ति समय रहते दूर नहीं करता वह [एक दिन निश्चय ही] अपने को अग्नि-समर्पित भूसा के समान नष्ट कर देगा ।। ५ ।।

तन्कुट्रम् नीक्किप् पिऱर्कुट्रम् काण्किऱ्पिन्
ऍन्कुट्रम् आहुम् इऱैक्कु ? ।। ६ ।।

पहले दोष निवारण[1] अपने, फिर देखना पराये दोष।
अवगुण का संसर्ग न उसको, ऐसा नृपति सदा निर्दोष ।। ६ ।।

जो पहले अपने दोषों को जान कर उन्हें दूर करता और फिर दूसरों के छिद्रों को देखता [और उन्हें सचेत करता] है, उस शासक में फिर भला दोष कैसे टिक सकते हैं। [ऐसा शासक सदैव निष्कलंक और निरापद रहेगा।] ।। ६ ।।

शॆयर्पाल शॆय्या तिवऱियान् शॆल्वम्
उयर्पाल तन्ऱिक् कॆडुम् ।। ७ ।।

लोभी-सूम खर्च से बच कर, कर्तव्यों से रहा उदास[2]।
उसकी संचित जमा-जथा[3] का समझो निश्चय ह्रास[4] विनाश ।। ७ ।।

लोभ और कृपणता में ग्रस्त जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों पर खर्च नहीं करता, उसकी सम्पदा निश्चय ही एक दिन क्षीण और समाप्त हो जायगी ।। ७ ।।

पट्रुळ्ळम् ऍन्नुम् इवऱन्मै ऍट्रुळ्ळुम्
ऍण्णप् पडुवदॊन् ऱन्ऱु ।। ८ ।।

है अपराध कृपणता भारी, इससे बढ़ कर दोष न और।
सकल अवगुणों की तुलना में 'अतिशय लोभ' पाप-शिरमौर[5] ।। ८ ।।

कृपण की धन-लोलुपता अत्यन्त निकृष्ट दोष है। दूसरे तमाम दोषों और अवगुणों से इसकी तुलना नहीं ।। ८ ।।

---

१ दूर करना २ विमुख ३ धन-सम्पत्ति ४ घटती ५ पापों का सिरताज।

वियवऱ्क ऎन्ञान्ऱुम् तन्नै; नयवऱ्क
नन्ऱि पयवा विनै ॥ ९ ॥

बढ़-चढ़ कर बातों का करना, आत्म-प्रशंसा महा अनर्थ।
भला[1] न संभव जिन बातों से, ऐसी अभिलाषाएँ व्यर्थ ॥ ९ ॥

आत्मप्रशंसा और शेख़ी से सदैव बचो। न कभी ऐसी व्यर्थ अभिलाषाएँ करो जिनसे कुछ भला नहीं होना ॥ ९ ॥

कादल कादल् अऱियामै उय्क्किऱ्पिन्
एदिल एदिलार् नूल् ॥ १० ॥

मनवाञ्छित सुख अपने विलसो, किन्तु न उनका करो प्रकाश।
गोपनीय[2] रहने पर, रिपु से[3] उनका संभव नहीं विनाश ॥ १० ॥

यदि अपनी अभिलाषाओं का एकान्त में गोपनीयता के साथ उपभोग करो तो उन [उपभोगों] को ध्वस्त करने में तुम्हारे शत्रुओं से भय नहीं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४५

पॆरियारैत् तुणैक्कोडल् (महान् व्यक्तियों से सीख)

अऱन् अऱिन्दु मूत्त अऱिवुडैयार् केण्मै
तिऱन्अऱिन्दु तेर्न्दु कॊळल् ॥ १ ॥

धर्मवान् मतिमान् अनुभवी विज्ञजनों की नेक सलाह—
लेना सदा समादर करना—यही निरापद सुख की राह ॥ १ ॥

सद्गुणों से युक्त परिपक्व बुद्धि वाले महान् व्यक्तियों की मंत्रणा का आदर करो और उनके सामीप्य का लाभ उठाओ ॥ १ ॥

उट्ऱनोय् नीक्कि उऱाअमै मुऱ्काक्कुम्
पॆट्ऱियार्प् पेणिक् कॊळल् ॥ २ ॥

दूर आज के दुख करते हैं, कल के दुख से करें सचेत।
ऐसे कुशलों की सहायता समुचित[4] सदा नृपति के हेत ॥ २ ॥

---

१ अच्छाई   २ लोगों की निगाहों से बचा होने पर   ३ शत्रु से   ४ उचित, कल्याणकारी।

शासक को सदैव ऐसे कुशल बुद्धिमानों की सलाह और सहायता को सुलभ करना चाहिए जिनके कौशल से वर्त्तमान विपत्तियों से रक्षा और आनेवाली विपत्तियों को जानकर उनका निवारण होगा ।। २ ।।

अरियवट्रु ळॅल्लाम् अरिदे पॅरियारैप्
पेणित् तमराक् कॉळल् ।। ३ ।।

श्रेष्ठ जनों का आदर करके उन्हें बनाओ अपना अंग ।
निधियों में सर्वोपरि निधि[1] है ऐसे सुहृदों का सत्संग ।। ३ ।।

महान् पुरुषों का सदैव सम्मान करो और उनकी दुर्लभ मित्रता को सुलभ बनाये रखो । यह शासक के लिए दुर्लभ निधि [अथवा सर्वोपरि ख़ज़ाना] है ।। ३ ।।

तम्मिर् पॅरियार् तमरा ऑळुहुदल्
वन्मैयुळ् ॲल्लाम् तलै ।। ४ ।।

सकल शक्तियों में सर्वोपरि शक्ति नृपति की यही महान्—
रक्खे सचिव समीप सदा अपने से अधिक कुशल गुणवान् ।। ४ ।।

अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों को अपने समीप सुहृद बना कर रखना—यह शासकों के लिए प्रमुख और सब से बड़ा बल है ।। ४ ।।

शूळ्वार्कण् णाह ऑळुहलान् मन्नवन्
शूळ्वारैच् चूळ्न्दु कॉळल् ।। ५ ।।

मंत्री नहीं ! नयन हैं नृप के ! चुनो परख कर सचिव प्रबुद्ध[2]।
स्वच्छ सूझ से शासन का लख पावें 'क्या है शुद्ध-अशुद्ध ?' ।। ५ ।।

मंत्री और सचिव शासक से नेत्र होते हैं । इसलिए [अपने नेत्रों को स्वच्छ रखने के समान] शासक को परखे हुए सुपात्र और बुद्धिमान् सचिवों का चुनाव करना चाहिए ।। ५ ।।

तक्कार् इनत्तनाय्त् तानॊळुह वल्लानैच्
चॅट्रार् शॅयक्किडन्द तिल् ।। ६ ।।

सच्चे हितू सुयोग्य सचिव से समलंकृत[3] है जो नरनाथ,
शत्रु-समूह न कर सकते कुछ भी अनिष्ट[4] उस नृप के साथ ।। ६ ।।

यदि शासक के समीप [राज्य के प्रति] निष्ठावान् और सुपात्र सचिव-सलाहकार हैं, तो उसके शत्रु बिसी प्रकार की क्षति उसको नहीं पहुँचा सकते ।। ६ ।।

---

१ ख़ज़ाना २ परम बुद्धिमान् ३ सुशोभित ४ हानि, बुराई ।

इडिक्कुम् तुणैयारै आळ्वारै यारे
कॆडुक्कुम् तहैमै यवर् ? ।। ७ ।।

निर्भय सचिव ! दोष दरसाते, नृप को देते मार्ग-प्रकाश,
शत्रु न उपजा[1] जिससे सम्भव ऐसे नृप का कभी विनाश ।। ७ ।।

सशक्त से सशक्त शत्रु भी शासक का कुछ नहीं बिगाड़ सकते, यदि उसके सुयोग्य मंत्रिगण उसको समय पर [सत्परामर्श देते और उसकी कमियों की ओर ध्यान दिलाते हुए] सचेत करते रहें ।। ७ ।।

इडिप्पारै इल्लाद एमरा मन्नन्
कॆडुप्पारि लानुम् कॆडुम् ।। ८ ।।

सच्चे और खुले आलोचक[2] सचिव न जिस नरपति के पास,
विना शत्रु, वह स्वयं शत्रु है अपना स्वयं बुलाता ह्रास[3] ।। ८ ।।

जिस शासक के साथ स्पष्ट आलोचक [और शासक के आचार पर] अंकुश रखने वाले मित्र अथवा सचिव नहीं हैं, वह राजा स्वयं अपना विनाश करता है; उसके विनाश के लिए किसी घातक शत्रु की ज़रूरत नहीं ।। ८ ।।

मुदलिलार्क्कु ऊदियम् इल्लै; मदलैयाम्
शार्बिलार्क्कु इल्लै निलै ।। ९ ।।

पूंजी जिनके पास नहीं, जिस भाँति व्यर्थ उनका व्यापार,
सुहृद सखाओं विना अरक्षित-डगमग उसी भाँति संसार ।। ९ ।।

[व्यापार में] पूंजी के विना लाभ संभव नहीं है। उसी प्रकार सच्चे मित्रों और सलाहकारों के विना सुरक्षा और स्थायित्व कभी संभव नहीं ।। ९ ।।

पल्लार् पहैकॊळलिर् पत्तडुत्त तीमैत्ते
नल्लार् तॊडर्है विडल् ।। १० ।।

सुहृद प्रवीणों[4] की, मित्रों की यदि सलाह पर दिया न कान,
इस क्षति को अगणित रिपु की क्षति से समझो दसगुना प्रमान ।। १० ।।

असंख्य शत्रुओं के विरोध और विद्वेष की अपेक्षा सुयोग्य मित्रों और उनकी सलाह की अवहेलना दसगुनी बुरी और हानिकर है ।। १० ।।

---

१ पैदा हुआ २ गुणदोष मुँह पर कह देने वाले ३ पराभव, विनाश ४ बुद्धिमान् मित्रों ।

अदिहारम् (अध्याय) ४६

शिट्रिन्नम् शेरामै (कुसंग से बचना)

शिट्रिन्नम् अञ्जुम् पॆरुमै; शिरुमैदान्
शुट्रमाच् चूळ्न्दु विडुम् ॥ १ ॥

सदा कुसंगति से भय खाता, यही सत्पुरुष की पहचान।
उसी भाँति अधमों की संगति में दुर्जन को प्रीति महान् ॥ १ ॥

सत्पुरुष सदैव कुसंगति से बचते, अधमों की संगति से भय खाते [और दूर रहते] हैं। किन्तु अधम जन दुर्जनों का ही संग करने में प्रसन्न रहते हैं ॥ १ ॥

निलत्तियल्बाल् नीर्तिरिन्दु अट्राहुम् मान्दर्क्कु
इन्नत्तियल्ब ताहुम् अरिवु ॥ २ ॥

'जैसी मिट्टी वैसा जल है', जैसे हम करते अनुमान।
साथी-संगी देख व्यक्ति के भले-बुरे की है पहचान ॥ २ ॥

ज़मीन के अनुसार वहाँ का जल स्वाद और रंग बदलता है। उसी प्रकार मनुष्य की पृकृति भी अपने संगियों के अनुसार [अच्छी और बुरी] बन जाती है; अथवा जिस प्रकार मिट्टी से जल की परख होती है उसी प्रकार मनुष्य की परख उसके संगी-साथियों को देखकर होती है ॥२॥

मनत्तानाम् मान्दर्क् कुणर्च्चि; इनत्तानाम्
इन्नान् ऍनप्पडुम् शॊल् ॥ ३ ॥

मन है प्रबल, बुद्धि लोगों की चलती है मन के अनुसार।
है चरित्र पर छाप[1] साथ-संगति की निश्चय उसी प्रकार ॥ ३ ॥

लोगों की बुद्धि उनकी मनोवृत्ति के अनुसार होती है। लेकिन उनका चरित्र उनके साथी-संगियों से प्रभावित होता है ॥ ३ ॥

मनत्तु ळदुपोलक् काट्टि ऒरुवर्कु
इनत्तुळ ताहुम् अरिवु ॥ ४ ॥

मन से बुद्धि उपजती है, यद्यपि ऐसा होता आभास,
सत्य किन्तु है—'मित्रों के अनुरूप बुद्धि का सदा विकास' ॥ ४ ॥

ऐसा मालूम होता है कि बुद्धि का मन से उदय होता है। किन्तु सही बात यह है कि वह संग के प्रभाव से [अच्छी या बुरी] उत्पन्न होती है ॥ ४ ॥

---

१ प्रभाव।

मऩ्तूय्मै शॅय्विऩै तूय्मै इरण्डुम्
इऩत्तूय्मै तूवा वरुम् ॥ ५ ॥

'संगति' का प्रभाव सर्वोपरि, यदि संगति मिल गई पवित्र,
निश्चय मन को पावन[1] करती, पुष्कल[1] करती सदा चरित्र ॥ ५ ॥

मन की पवित्रता और आचरण की पवित्रता—दोनों ही निस्सन्देह अच्छी पवित्र संगति पाकर अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ५ ॥

मऩ्तूयार्क् कॆच्चम् नऩ्ऱाहुम्; इऩत्तूयार्क्कु
इल्लै नऩ्ऱाहा विऩै ॥ ६ ॥

मन पवित्र होने पर निश्चय सुलभ विविध सुन्दर परिणाम,
किन्तु सदाशय[2] की संगति से होते सफल कठिन सब काम ॥ ६ ॥

पवित्र मन वालों की कीर्ति सदैव स्थायी रहती है। किन्तु पवित्र मन वालों के सत्संग से तो संसार की प्रत्येक सफलता सुलभ है! ॥ ६ ॥

मऩनलम् मऩ्ऩुयिर्क्कु आक्कम्; इऩनलम्
ऎल्लाप् पुहऴुम् तरुम् ॥ ७ ॥

साधु वृत्ति, निर्मल मन जिनका, उनको जग में लाभ अनन्त,
किन्तु साथ में यश अनन्त यदि संगति में हैं सज्जन-सन्त ॥ ७ ॥

मन की साधुता और उत्तमता से बड़े से बड़े लाभ प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु साधु और श्रेष्ठ जनों के सत्संग से [लाभ के साथ-साथ] सब प्रकार के गौरव और कीर्ति भी सुलभ होती है ॥ ७ ॥

मऩनलम् नऩ्गुडैयार् आयिऩुम् शाऩ्ऱोर्क्कु
इऩनलम् एमाप् पुडैत्तु ॥ ८ ॥

शुद्धिबुद्ध[3] जन के होते हैं मन विशाल सर्वथा पवित्र।
अमित शक्ति भी मिल जाती यदि संगति में हैं सज्जन मित्र ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यों के मन सहज ही विशाल और पवित्र होते हैं, किन्तु सत्पुरुषों के सत्संग से और भी अधिक शक्ति प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

मऩनलत्तिऩ् आहुम् मऱुमै; मट्ऱह्दुम्
इऩनलत्तिऩ् एमाप् पुडैत्तु ॥ ९ ॥

---

१ पवित्र, निर्मल २ अच्छे मन वाले ३ श्रेष्ठ बुद्धि वाले।

मन पावन[1] उनका भविष्य है निश्चय विविध सुखों की खान।
इन सुक्खों को श्रेष्ठ जनों की संगति करती शक्ति प्रदान ॥ ९ ॥

मन की पवित्रता और विशालता निस्सन्देह भविष्य को आनन्दमय बनाती है। किन्तु श्रेष्ठ जनों का सत्संग उसको अधिक सुरक्षित और सुखमय बनाता है ॥ ९ ॥

नल्लिनत्ति नूङ्गुम् तुणैयिल्लै; तीयिनत्तिन्
अल्लर् पडुप्पदूउम् इल् ॥ १० ॥

अतुल सहायक सत्संगति है इससे बढ़कर सखा न अन्य।
सब पापों का मूल कुसंगति, सब दुःखों का स्रोत अनन्य ॥ १० ॥

सत्संग से—साधु पुरुष की मित्रता से बढ़ कर दूसरी सहायता नहीं; कुसंग से—खल पुरुषों के साथ से बढ़ कर दूसरी महामारी नहीं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४७

तेरिन्दु शेयल्वहै (सोच-समझ कर कार्य करना)

अळिवदूउम् आवदूउम् आहि वळिपयक्कुम्
ऊदियमुम् शूळ्न्दु शेयल् ॥ १ ॥

हानि-लाभ का लेखा-जोखा, फिर उनका अन्तिम परिणाम—
पूरा इन पर कर विचार, तब शुरू करो तुम कोई काम ॥ १ ॥

किसी काम में हाथ देने से पूर्व भली प्रकार सोच लो और तौल लो कि क्या हानि होगी, क्या उपलब्धि होगी; और अन्ततः [लाभ अथवा हानि में] क्या परिणाम होगा [बिना इस पर विचार किये काम का आरंभ करना जोखिम है] ॥ १ ॥

तेरिन्द इनत्तोडु तेर्न्देणिणच् चेय्वार्क्कु
अरुम्बोरुळ् यादोन्रुम् इल् ॥ २ ॥

निपुण सचिवगण की सलाह, फिर उस पर करना स्वयं विचार।
समझ-सोच कर किसी काम में नहीं हानि के फिर आसार[2] ॥ २ ॥

सुयोग्य सलाहकारों से सलाह लेने के बाद अपने विवेक से निर्णय लेकर काम करने वाले के लिए [संसार का] कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥ २ ॥

---

१ पवित्र २ लक्षण, गुंजाइश।

आक्कम् करुदि मुदलिऴक्कुम् शॆय्विऩै
ऊक्कार् अऱिवुडै यार् ।। ३ ।।

महज[1] लाभ की मृगतृष्णा[2] में पूंजी से भी धोना हाथ—
बुद्धिमान् से कभी न संभव, खेले इस जोखिम के साथ ।। ३ ।।

लाभ की आशा मात्र पर अपनी मौजूदा पूंजी को भी गवाँ देना—जोखिम के ऐसे काम में हाथ डालना बुद्धिमानों का काम नहीं ।। ३ ।।

तॆळिवु इलदऩैत् तॊडङ्गार् इळिवॆऩ्ऩुम्
एदप्पा डञ्जु पवर् ।। ४ ।।

नहीं, विफल होने पर जिनको, सहन लोकनिन्दा अपमान,
सोचे-समझे बिना न सहसा किसी काम पर उनका ध्यान ।। ४ ।।

जिन शासकों को अपनी विफलताओं पर लोकनिन्दा और उपहास का भय है, वे विना आगा-पीछा विचारे किसी काम को सहसा शुरू नहीं करते ।। ४ ।।

वहैयऱच् चूऴा तॆऴुदल् पहैवरैप्
पात्तिप् पडुप्पदु ओराऱु ।। ५ ।।

असमय-समय, बलाबल जाने बिना शत्रु पर यदि अभियान[3],
स्वयं समर्पित कर निज लक्ष्मी[4] रिपु को करना है श्रीमान्[5] ।। ५ ।।

[असंतुलित] बल-अबल अथवा मौका-बेमौका का विना विचार किये, व्यवस्था-हीन ढंग पर शत्रु के ऊपर पिल पड़ना, मानो शत्रु को स्वयं अपने ही राज्य में [बुला कर राज्य सौंप देना और] पुष्ट करना है ।। ५ ।।

शॆय्दक्क अल्ल शॆयक्कॆडुम्; शॆय्दक्क
शॆय्यामै यानुम् कॆडुम् ।। ६ ।।

अकरणीय[6] अनुचित कर्मों के करने पर है सदा विनाश ।
किन्तु उचित करणीय[7] कर्म के तजने पर भी निश्चय नाश ।। ६ ।।

अपुपयुक्त कार्यों को कर उठाना घातक है । उसी प्रकार उपयुक्त कार्यों का न करना और विमुख होना भी घातक है ।। ६ ।।

---

१ केवल २ झूठी आशा ३ चढ़ाई ४ अपना सुख, वैभव, राज्य आदि ५ सम्पन्न ६ त्याज्य, कभी न करने योग्य ७ लाज़िमी, धर्मयुक्त ।

ऎण्णित् तुणिह करुमम्; तुणिन्दपिन्
ऎण्णुवम् ऎन्ब तिऴुक्कु ॥ ७ ॥

आगा-पीछा सोच-समझ कर लेना उचित हाथ में काम।
अधबिच[1] में विवेक की आशा, है दुस्साहस, है बे-काम ॥ ७ ॥

किसी काम में हाथ डालने से पहले खूब सोच-विचार लो, सारा आगा-पीछा तौल लो, और तब काम का साहस करो। काम में फस कर दुस्साहस कर लेने के बाद, सोच-विचार व्यर्थ है, नाशकारी है ॥ ७ ॥

आट्ऱिन् वरुन्दा वरुत्तम् पलर्निन्ऱु
पोट्ऱिनुम् पॊत्तुप् पडुम् ॥ ८ ॥

बिन योजना, विचार, तरीके विना शुरू यदि कोई काम,
निश्चय विफल, सहायक यद्यपि नाना सुभट-वीर-बलधाम ॥ ८ ॥

कितनी ही शक्ति का सहारा क्यों न हो, किन्तु विना योजना और विना निश्चित रूपरेखा बनाये, मन्सूबा मात्र पर जो कार्य शुरू कर दिये जाते हैं वे निश्चय विफल होते हैं ॥ ८ ॥

नन्ऱाट्रल् उळ्ळुम् तवऱुण्डु अवरवर्
पण्बऱिन् दाट्राक् कडै ॥ ९ ॥

है सन्देह सफलता में उसकी, वह भले हुआ सत्कर्म।
क्योंकि कर्म के गुण-स्वभाव का करते-समय न जाना मर्म ॥ ९ ॥

स्वभाव के विरुद्ध किये गये अच्छे काम का भी परिणाम बुरा हो सकता है। [हर काम का एक अपना ढंग होता है। उसके अनुसार न करने पर भी विफलता होगी, भले ही वह काम कितना ही अच्छा क्यों न हो।] ॥ ९ ॥

ऎळ्ळाद ऎण्णिच् चॆयल्वेण्डुम्; तम्मॊडु
कॊळ्ळाद कॊळ्ळादु उलहु ॥ १० ॥

काम अशोभन[2] करने पर होता है सदा लोक-उपहास।
'लोक सराहे'[3]—यह विचार रख कर समुचित है सकल प्रयास[4] ॥ १० ॥

शासक [अथवा व्यक्ति] के लिए जो कार्य अशोभन हैं, लोक [अर्थात् विद्वानों का समुदाय] उनकी निन्दा करता है। इसलिए कार्य

---

१ काम शुरू होजाने के बाद संकट के समय २ जो काम जिसके लिए अयोग्य हो ३ लोक प्रशंसा करे ४ कार्य।

करने से पहले ख़ूब सोच-समझ लो कि वह अशोभन और उपहासास्पद तो नहीं हैं ॥ ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४८
वलि अऱिदल् (बल का ज्ञान)

विऩैवलियुम् तऩ्वलियुम् माट्ऱाऩ् वलियुम्
तुणैवलियुम् तूक्किच् चॆयल् ॥ १ ॥

शत्रु, मित्र, संघर्ष, और निज बल का प्रथम विचार-विमर्श—
भली भाँति कर लेने पर ही उचित छेड़ना है संघर्ष ॥ १ ॥

युद्ध अथवा संघर्ष में फसने से पहले उस संघर्ष की शक्ति (कठिनाइयाँ), और अपना, अपने सहयोगियों-मित्रों तथा अपने विपक्षी शत्रु के बल को पूरी तरह तौल लेना ज़रूरी है ॥ १ ॥

ऒल्व दऱिव दऱिन्ददऩ् कण्तङ्गिच्
चॆल्वार्क्कुच् चॆल्लाददु इल् ॥ २ ॥

निज पौरुष का, और साधनों का जिनको है पूरा ज्ञान,
नहीं असाध्य कर्म कोई भी जिस पर दृढ़ ऐसे मतिमान् ॥ २ ॥

जो स्थिति का पूरा पता रखते हैं, [जो जानते हैं कि उनकी सामर्थ्य से क्या-कहाँ तक हो सकता है], और उपायों तथा साधनों का ज्ञान रखते हैं, और तब दृढ़ता से कार्य पर जमते हैं, ऐसे व्यक्तियों के लिए कोई [कठिन से कठिन] काम असाध्य नहीं ॥ २ ॥

उडैत्तम् वलियऱियार् ऊक्कत्तिऩ् ऊक्कि
इडैक्कण् मुरिन्दार् पलर् ॥ ३ ॥

निज बल का न विचार, शत्रु पर कर देते सहसा अभियान[१]!
युद्ध दूर! पहले ही ऐसों का मिट जाता नाम-निशान ॥ ३ ॥

अनेक जन [अथवा शासक] अपने बल की सीमा को न जान कर उतावलेपन और शेख़ी में विरोधी पर धावा बोल देते हैं। ऐसे लोग दूर न जाकर मंझधार ही में डूब जाते हैं ॥ ३ ॥

---

१ चढ़ाई।

अमैन्दाङ्‌ गॉळुहान्‌ अळवरियान्‌ तन्नै
वियन्दान्‌ विरैन्दु कॅडुम्‌ ।। ४ ।।

मदहोशी में पड़ोसियों से बैर, न बल का सही शुमार !
ऐसे आत्मवंचकों[1] शेख़ीखोरों का समीप संहार ।। ४ ।।

जिसने [अपने बल के मद में] पड़ोसियों को प्रतिकूल कर रखा है, अपने बल को नहीं आँका है, और जो अपनी शेख़ी और बड़ाई में चूर है, वह निश्चय शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है ।। ४ ।।

पीलिपॅय्‌ शागाडुम्‌† अच्चिरुम्‌; † अप्पण्डम्‌†
शाल मिहुत्तुप्‌ पॅयिन्‌ ।। ५ ।।

अपने बल का और अबल का रखना समुचित सदा विचार ।
मोरपंख का भार तलक भी अधिक न सकती लढ़ी[2] सम्हार ।। ५ ।।

[मनुष्य को सदैव अपने बल-अबल का सही अन्दाज़ा रखना चाहिए। थोड़ा भी भ्रम होने पर वह विरोधी से विनाश को प्राप्त हो सकता है। जितना भार चाहिए उससे] एक कोमल मयूरपंख का भार भी अधिक होने पर गाड़ी के पहिए की धुरी टूट कर ही रहेगी ।। ५ ।।

नुनिक्कॉम्बर्‌ एरिनार्‌ अह्दिरन्‌ दूक्किन्‌
उयिर्‌क्किरुदि याहि विडुम्‌ ।। ६ ।।

तरु-फुनगी से बढ़े[3] कि मानो निश्चय तरु से हुआ प्रपात[4] ।
बल-बूते को भूल किया दुःसाहस तो विनाश की बात ।। ६ ।।

[अपनी शक्ति की सीमा से बाहर जाने वाले व्यक्ति को, उत्साह, साहस, बल—कोई भी विनाश से नहीं बचा सकता ।] वृक्ष की शाखाओं की एक सीमा होती है। वहीं तक चढ़ा जा सकता है। शाखाओं की फुनगी को भी पार करने वाले दुःसाहसी का अंत तो विनाश ही है; [उसका साहस उसको बचा नहीं सकता ।] ।। ६ ।।

आट्रिन्‌ अळवरिन्दु ईह; अदुपॉरुळ्‌
पोट्रि वळङ्गुम्‌ नॅरि ।। ७ ।।

करता दान सदा निज पूंजी की सीमा का रख कर ध्यान,
उसकी सम्पति सदा सुरक्षित, यद्यपि नित करता है दान ।। ७ ।।

---

† शकट, अक्ष, माण्ड—इन शब्दों के रूप संस्कृत में इस प्रकार हैं, अर्थात्‌ समान हैं।

---

१ अपनी झूठी बड़ाई में चूर रहने वाले, अपने ही को ठगने वाले २ बैलगाड़ी ३ पेड़ की चोटी तक पहुँच कर उसके भी आगे ४ गिराव, पतन ।

अपनी पूँजी की सीमा के अनुसार ही जो दान करता है, वह अपनी पूंजी (धन) को स्थायी रखते हुए भी सदैव दान करते रहने की स्थिति में रहेगा ॥ ७ ॥

आहा ऱ्ळविट्टि तायिऩुम् केडिल्लै;
पोहा ऱ्हलाक् कडै ॥ ८ ॥

कितनी ही कम आय[1], किन्तु यदि व्यय[2] पर तुमको है अधिकार[3],
आमद से यदि ख़र्च न ज़्यादा, तो न तबाही[4] के आसार ॥ ८ ॥

आमदनी कितनी ही थोड़ी हो, यदि ख़र्च उससे अधिक नहीं [और मर्यादित] है, तो वह कभी तबाही में नहीं पड़ सकता ॥ ८ ॥

अळवऱिन्दु वाऴादाऩ् वाऴ्क्कै उळपोल
इल्लाहित् तोऩ्ऱाक् कॆडुम् ॥ ९ ॥

ख़र्च हैसियत से बाहर देता कुछ दिन की झूठी शान।
धीरे-धीरे किन्तु बिगड़ता जाता है ऐसा इन्सान ॥ ९ ॥

अपनी हैसियत में न रह कर ठाट-बाट से रहनेवाला व्यक्ति देखने में भले ही शानदार मालूम हो, धीरे-धीरे बिगड़ता हुआ वह निश्चय एक दिन दुर्दशा को प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

उळवरै तूक्काद ऑप्पुर वाण्मै
वळवरै वल्लैक् कॆडुम् ॥ १० ॥

पूंजी की सीमा से बाहर दान-धर्म का भी आचार,
पूंजी का विनाश कर देता जो है इन सब का आधार ॥ १० ॥

अपनी पूंजी की सीमा के बाहर जो व्यक्ति उदार और दानशील हो कर असंतुलित ढंग पर धन ख़र्च करता है वह एक दिन अपनी समस्त पूंजी ही से हाथ धो लेगा [जिसके बल पर वह हैसियत बाहर दान करता था।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ४९
कालम् अऱिदल् (सामयिकता का ज्ञान)

पहल्वॆल्लुम् कूहैयैक् काक्कै; इहल्वॆल्लुम्
वेन्दर्कु वेण्डुम् पॊऴुदु ॥ १ ॥

---

१ आमदनी २ ख़र्च ३ क़ाबू ४ विनाश ।

दिवस-ज्योति में दीन काक[1] से संभव है उलूक[2] का नाश।
उसी भाँति समुचित अवसर पाकर नृप करता शत्रु-विनाश ॥ १ ॥

[दिन में अन्धे रहने वाले] उल्लू को दिन के प्रकाश में एक कौवा [जैसा सामान्य जीव] भी मार सकता है। इसी प्रकार शासक को भी अपने शत्रु को परास्त करने के लिए उपयुक्त अवसर की ताक में रहना चाहिए [कि कब उसके शत्रु के लिए प्रतिकूल परिस्थिति होगी।] ॥ १ ॥

परुवत्तो डॊट्ट वॊ‌ऴुहल् तिरुविन्नैत्
तीरामै आर्क्कुम् कयिरु ॥ २ ॥

सदा सुअवसर पर पग देना, है जिस जन का सहज स्वभाव।
सदा सफल सौभाग्य-रज्जु[3] से बँधा, न उसको कभी अभाव ॥ २ ॥

सुअवसर पर ही काम में पैर बढ़ाने का जो अभ्यासी है, उसने मानो सौभाग्य से बाँधने वाली रस्सी प्राप्त कर ली ॥ २ ॥

अरुवित्तै ऎन्ब उळवो करुवियार्
कालम् अऱिन्दु शॆयिन् ॥ ३ ॥

सदा सुअवसर पर समुचित साधन का करते कुशल प्रयोग।
दुष्कर[4] से दुष्कर कामों को सुकर[5] बनाते ऐसे लोग ॥ ३ ॥

उपयुक्त साधनों से और उपयुक्त सुअवसर पर कुशलता से कार्य करने का जो व्यक्ति अभ्यासी है, उसके लिए संसार में कोई कार्य कठिन और असंभव नहीं ॥ ३ ॥

ञालम् करुदिनुम् कैकूडुम् कालम्
करुदि इडत्ताऱ् शॆयिन् ॥ ४ ॥

देश-काल को परख सर्वदा करता कर्म कुशल मतिमान।
समय-पारखी[6] ऐसे जन को विश्वविजय भी है आसान[7] ॥ ४ ॥

[देश-काल-पात्र का विचार रखने वाला] जो व्यक्ति (अथवा शासक) उपयुक्त स्थान-अवसर पर और उपयुक्त [साधनों से] कार्य करता है, उसके लिए विश्व-विजय भी असंभव नहीं ॥ ४ ॥

कालम् करुदि इरुप्पर् कलङ्गादु
ञालम् करुदु पवर् ॥ ५ ॥

---

१ कौआ २ उल्लू ३ सौभाग्य की रस्सी ४ अति कठिन ५ सरल
६ मौक़ा पहचाननेवाला ७ सरल।

शान्त, अचञ्चल रह कर मौक़े की हैं सदा ताकते राह।
करते चोट सदा मौक़े पर विश्वविजय की जिनको चाह ॥ ५ ॥

जिनको विश्व-विजय की अभिलाषा है, वे शान्त और उद्वेगरहित रह कर उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और मौका आते ही विरोधी पर चोट करते हैं ॥ ५ ॥

ऊक्कम् उडैयान् ऒडुक्कम् पॊरुदहर्
ताक्कर्कुप् पेरुम् तहैत्तु ॥ ६ ॥

जैसे पीछे हटकर मेढ़ा, रिपु पर करता पुनः प्रहार।
मौक़ा आने तक दुबके रहना[1] न भीरुता[2] उसी प्रकार ॥ ६ ॥

बलवान [यदि सुअवसर की प्रतीक्षा तक अपने को शांत रखता है तो यह दुर्बलता नहीं है, वरन् यह उस] का आत्म-संयम [और कौशल] वैसा ही है जैसे लड़ता हुआ मेढ़ा विपक्षी पर तीव्र चोट करने के लिए पीछे हटता है [और तब बढ़ कर अधिक सशक्त प्रहार करता है] ॥ ६ ॥

पॊळ्ळॆऩ्ऩ आङ्गे पुऱम्वेरार्; कालम्पार्त्तु
उळ्वेर्प्पर् ऒळ्ळि यवर् ॥ ७ ॥

उर में ज्वाला छिपी, प्रकट में शान्त, तकें मौक़े की राह।
अवसर पर प्रहार करते हैं, यही संयमी हैं नरनाह ॥ ७ ॥

बुद्धिमान क्रोध को उत्तेजना में प्रकट नहीं होने देते। वरन् [शत्रु को परास्त करने का] उपयुक्तअवसर आने तक वह क्रोध की ज्वाला उनके हृदय में छिपी किन्तु धधकती रहती है ॥ ७ ॥

शॆऱुनरैक् काणिर् चुमक्क; इऱुवरै
काणिर् किऴक्काम् तलै ॥ ८ ॥

करो शत्रु-सम्मान—नीति यह दुर्बलता का नहीं निशान।
अवसर का आघात[3] स्वयं उस रिपु का कर देगा अवसान[4] ॥ ८ ॥

शत्रुओं से साक्षात् होने पर सम्मान और विनय के साथ उनसे पेश आओ। [यह नीति है, दुर्बलता का द्योतक नहीं।] उपयुक्त अवसर आने पर वे शत्रु [पराजित होकर सहज ही] तुम्हारे सामने शीस झुकाये होंगे ॥ ८ ॥

ऎय्दऱ् करियदु इयैन्दक्काल् अन्निलैये
शॆय्दऱ् करिय शॆयल् ॥ ९॥

---

१ दबे-सिमटे रहना २ कायरता ३ मौक़े पर चोट ४ अन्त।

बार बार अवसर दुर्लभ है, ज्योंही मिले समय अनुकूल।
विना विलम्ब प्रहार न करने पर संभव है सब प्रतिकूल ॥ ९ ॥

[मौक़ा सदैव नहीं आता, इसलिए उस] दुर्लभ और उपयुक्त अवसर के आते ही विना चूके भरपूर चोट करो [अथवा उस घड़ी से अपने अभीष्ट महान् कार्य के लिए पूरा लाभ उठाओ] अवसर निकल जाने पर फिर कुछ न होगा।] ॥ ९ ॥

कॊक्कॊक्क कूम्बुम् परुवत्तु; मट्ऱदन्
कुत्तॊक्क शीर्त्त इडत्तु ॥ १० ॥

ध्यान-लीन बक[1] मीन[2] देखते ही करता है झपट शिकार।
बगुले के समान, मौक़े तक रुको, करो फिर उग्र प्रहार ॥ १० ॥

अवसर आने तक वक (बगुले) के समान अपने पंख समेटे ध्यानावस्थित प्रतीक्षा करो; और ज्यों ही ठीक अवसर सामने आवे, तुरंत पूरे वेग से [झपट कर मछली रूपी शिकार पर] बगुले के समान ही चोट करो ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५०

इडन् अऱिदल् (उपयुक्त स्थान का चुनना)

तॊडङ्गऱ्क ऒव्वित्तैयुम् ऎळ्ळऱ्क मुट्ऱुम्
इडङ्गण्ड पिन्नल् लदु ॥ १ ॥

है मौक़ा अनुकूल न जब तक, मिले न सुविधा का अस्थान[3]।
उचित न, रिपु पर करो आक्रमण, छेड़ो और करो अपमान ॥ १ ॥

जब तक [सुरक्षा और आक्रमण के] अनुकूल स्थान पर स्थित न हो जाओ, तब तक कभी शत्रु पर आक्रमण न करो, न शत्रु को तिरस्कृत करो [और उत्तेजना दिलाओ] ॥ १ ॥

मुरण्शेरन्द मॊय्म्बि नवर्क्कुम् अरण्शेरन्दाम्
आक्कम् पलवुम् तरुम् ॥ २ ॥

रिपु निर्बल, अनन्त रण-सज्जा[4]! फिर भी कहते चतुर सुजान।
अपने मन की रणस्थली[5] के भी अपने हैं लाभ महान् ॥ २ ॥

शक्तिशाली सम्राटों के लिए भी, [अपने से निर्बलों पर भी]

---

१ चुपचाप ताकनेवाला बगुला   २ मछली   ३ स्थल   ४ युद्ध-सामग्री
५ रणभूमि।

आक्रमण और [उनसे] युद्ध में लगे होने पर, आरक्षित दुर्ग अनेक प्रकार से लाभकारी सिद्ध होते हैं ।। २ ।।

आट्ऱारुम् आट्ऱि अडुव इडऩ्ऱिन्दु
पोट्ऱार्कट् पोट्ऱिच् चॆयिऩ् ।। ३ ।।

आरक्षित अनुकूल भूमि पर रण करते यदि युद्ध-प्रवीन[1] ।
सबलों के समान जय पाते ऐसे कुशल किन्तु बलहीन ।। ३ ।।

सामरिक दृष्टि से श्रेष्ठ भूमि अथवा दुर्ग की सहायता से मोर्चा जमा कर युद्ध करने पर निर्बल भी [सबल हो जाते और] सबलों के समान जय प्राप्त करने में सफल होते हैं ।। ३ ।।

ऍण्णियार् ऍण्णम् इऴप्पर् इडऩ्ऱिन्दु
तुऩ्ऩियार् तुऩ्ऩिच् चॆयिऩ् ।। ४ ।।

सुविधाजनक सुरक्षित थल पर चुनते समरभूमि अनुकल ।
उनके रिपुओं के मन्सूबे[2] निष्फल सदा चाटते धूल ।। ४ ।।

[व्यूह, दुर्ग, भूमि की श्रेष्ठता आदि से] आरक्षित, सुरक्षित और सुविधाजनक स्थिति से जो युद्ध करते हैं उनके शत्रुओं के सारे मंसूबे मिट्टी में मिल जाते हैं ।। ४ ।।

नॆडुम्बुऩलुळ् वॆल्लुम् मुदलै; अडुम्बुऩलिऩ्
नीङ्गिऩ् अदऩैप् पिऱ ।। ५ ।।

गहरे जल में भला मगर से किस सशक्त का है निस्तार ?
जल से बाहर उसी मगर का कर सकता हर व्यक्ति शिकार ।। ५ ।।

गहन जल में रहते मगर सब का विनाश कर सकता है । किन्तु उसी जल से हट जाने पर उस विकराल मगर को कोई भी मार सकता है । [यह अपने अनुकूल स्थान की महिमा है ।] ।। ५ ।।

कडल्ओडा काल्वल् नॆडुन्देर्; कडल्ओडुम्
नावायुम् ओडा निलत्तु ।। ६ ।।

अति विशाल गाड़ी भी जल में, थल में उसी भाँति जलयान[3] ।
हैं दोनों लाचार ! मुनासिब अस्थल[4] का है मूल्य महान् ।। ६ ।।

[अनुकूल स्थान का बड़ा महत्त्व है ।] मज़बूत से मज़बूत पहियों वाली बड़ी-बड़ी गड़ियाँ भी समुद्र में नहीं चल सकतीं [और व्यर्थ होकर जल में डूब जायँगी ।] उसी प्रकार बड़े से बड़े समुद्र को तैर जाने वाले

---

१ युद्धकला-विशारद २ इरादे, योजनाएँ ३ जहाज़ ४ स्थान ।

जलयान (जहाज़) भी [जल से हट कर] पृथ्वी पर एक पग भी नहीं चल सकते ।। ६ ।।

अञ्जामै अल्लाल् तुणैवेण्डा ऍञ्जामै
ऍण्णि इडत्ताऱ् चॆयिऩ् ।। ७ ।।

निज सुविधा की श्रेष्ठ भूमि पर जम कर यदि निर्भीक[1] प्रहार ।
फिर न अन्य साधन की उसको रिपु-जय करने में दरकार[2] ।। ७ ।।

युद्ध के लिए सामरिक दृष्टि से उपयुक्त और श्रेष्ठ स्थान यदि किसी ने चुन लिया है, तो निर्भय साहसिक प्रहार के अतिरिक्त फिर उसको युद्ध-जय के लिए किसी अन्य साधन या सहायता की ज़रूरत नहीं ।। ७ ।।

शिऱुपडैयाऩ् शॆल्लिडम् शेरिऩ् उऱुपडैयाऩ्
ऊक्कम् अऴिन्दु विडुम् ।। ८ ।।

छोटी सेना, क्षेत्र संकुचित[3] चुन कर यदि करती है युद्ध ।
विशद सशक्त सैन का हमला कर सकता कुछ नहीं विरुद्ध ।। ८ ।।

अत्यंत विशाल सेना को लेकर भी, संकुचित छोटे किन्तु अनुकूल दुर्ग में जमे हुए सामान्य सेना वाले शत्रु से युद्ध करने पर भी विनाश निश्चय है ।। ८ ।।

शिऱैनलऩुम् शीरुम् इलरॆऩिऩुम् मान्दर्
उऱैनिलत्तो डॊट्टल् अरिदु ।। ९ ।।

साधारण है सैन, और रण-सज्जा का न अधिक सामान ।
किन्तु उसी के गढ़ में लड़ कर है सशक्त पाता अपमान ।। ९ ।।

विशाल सैन-व्यूह, और रणसज्जा से विहीन शत्रु से भी उसके गढ़ में युद्ध करके जय पाना दुष्कर है ।। ९ ।।

कालाऴ् कळरिऩ् नरिअडुम् कण्णञ्जा
वेलाळ् मुहत्त कळिऱु ।। १० ।।

दलदल में फँस कर प्रमत्त गज भी होता निरीह लाचार ।
तुच्छ लोमड़ी भी हाथी को बेमौक़ा देती है मार ।। १० ।।

निरंकुश और घातक [उन्मत्त] हाथी भी जब दलदल में फँसा होता है, तब एक तुच्छ गीदड़ तक [हाथी को प्रतिकूल स्थान में ग्रस्त पाकर] उसको मार गिराता है ।। १० ।।

---

१ निर्भय, साहसिक २ ज़रूरत ३ सीमित, छोटा ।

अदिहारम् (अध्याय) ५१

तेरिन्दु तेळिदल् (विश्वास की परख)

अऱम्पॊरुळ् इन्बम् उयिरच्चम् नान्गिन्
तिऱन्तेरिन्दु तेऱप् पडुम् ॥ १ ॥

धर्म, अर्थ, औ' काम, मृत्यु के लाभालाभ दिखाकर जाँच—
वही भरोसे-योग्य, सह सके जो इन उपधाओं[1] की आँच ॥ १ ॥

[विश्वसनीय कामों को सौंपने से पहले] सुपात्र को चुनने के लिए परखना चाहिए कि धर्म, अर्थ (सम्पदा), काम (सुखोपभोग) और जीवन-मरण के प्रति उसकी क्या पृवृत्ति है ! [वह संकट की घड़ी उपस्थित होने पर कितना धर्म पर दृढ़, धन और सुखोपभोग से विरक्त और मृत्यु से निर्भय रह कर कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान् रह सकता है ?] ॥ १ ॥

कुडिप्पिऱन्दु कुट्ऱत्तिन् नीङ्गि वडुप्परियुम्
नाणुडैयान् कट्टे तेळिवु ॥ २ ॥

उत्तम कुल-मर्यादा वाले, पापभीरु[2], अकलंक स्वभाव—
ऐसे कुशल-सुयोग्य व्यक्ति का समुचित है सर्वथा चुनाव ॥ २ ॥

श्रेष्ठ संस्कारों वाले कुलों में उत्पन्न, निर्दोष, पाप से डरने वाले [संतुलित]व्यक्तियों को ही [कार्य-सञ्चालन के लिए] चुनना चाहिए ॥ २ ॥

अरियकट्ऱु आशट्ऱार् कण्णुम् तेरियुङ्गाल्
इन्मै अरिदे वेळिऱु ॥ ३ ॥

है ऐसा विद्वान् कौन जिसमें न दोष का है लवलेस ।
[इसी लिए उपधा[1] के द्वारा समुचित उसकी जाँच विशेष] ॥ ३ ॥

परम विद्वानों और बुद्धिमानों में भी विरले ही ऐसे होते हैं जो अज्ञान और दोष से बिलकुल विहीन हों । [इस लिए प्रत्यक्ष सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी उनकी परीक्षा, उनको परखना ज़रूरी है] ॥ ३ ॥

---

१ उपधा—प्रलोभन, रिश्वत; उपधा—धर्म, धन, सुन्दर नारी और मृत्यु का लोभ या भय प्रस्तुत करते हुए छिपकर परीक्षा करना कि जिस व्यक्ति पर भरोसा करना है, वह इन चार परिस्थियों में पड़ कर कहाँ तक निर्लेप रहेगा २ पाप से डरने, दूर रहने वाला ।

कुणनाडिक् कुट्रमुम् नाडि अवट्रुळ्
मिहैनाडि मिक्क कॉळल् ॥ ४ ॥

गुण-अवगुण से रहित न कोई, परखो सब गुण-कर्म-स्वभाव।
भले-बुरे में पलड़ा भारी देख-समझ कर करो चुनाव ॥ ४ ॥

[किन्तु बिलकुल निर्दोष व्यक्तियों का संसार में अभाव-सा है, इसलिए विकल्प है कि] चुनते समय व्यक्तियों के गुण और अवगुण दोनों की समीक्षा करो। दोनों पर विचार करने पर पलड़ा जिधर और जितना भारी हो उसी को दृष्टि में रख कर [अपने भरोसे और कार्य-संचालन के लिए] सुपात्रों का चुनाव करना चाहिए ॥ ४ ॥

पॅरुमैक्कुम् एऩैच् चिरुमैक्कुम् तत्तम्
करुममे कट्टळैक् कल् ॥ ५ ॥

कैसे समझें लघुता-गुरुता, कौन क्षुद्र है, कौन महान् ?
किसी व्यक्ति के आचरणों को निरखें-परखें—यह पहचान ॥ ५ ॥

कौन कितना महान् है और कौन कितना क्षुद्र है, इसकी एक मात्र कसौटी उस व्यक्ति का अपना आचरण है ॥ ५ ॥

अट्रारैत् तेरुदल् ओम्बुह; मट्रवर्
पट्रिलर्; नाणार् पळि ॥ ६ ॥

आगे पीछे नहीं, न जिसने चखा कभी ममता का स्वाद।
बन्धनहीन ! न पातक-भय है, नहीं शर्म का उसे विषाद ॥ ६ ॥

स्वजन और परिवार-विहीन व्यक्तियों में सामाजिक बन्धन की कोमल भावना का प्रायः अभाव होता है। उनको लज्जा, और पाप का भय न होना आश्चर्य नहीं। [अस्तु उनका चुनाव भरोसे के योग्य नहीं] ॥ ६ ॥

कादऩ्मै कन्दा अऱिवऱियार्त् तेरुदल्
पेदैमै ऍल्लाम् तरुम् ॥ ७ ॥

सगे-सनेही के विमोह में, यदि अयोग्य का किया चुनाव।
अमिट[1] भुगतना जीवन भर उस एक भूल का बुरा प्रभाव ॥ ७ ॥

बिना योग्यता और सुलक्षणों को परखे, आतमीयता और स्नेह के आधार पर सुपात्र मान कर सचिवों का चुनना प्रत्येक प्रकार के विनाश को आमंत्रित करना है ॥ ७ ॥

---

१ कभी न मिटने वाला।

तेरान् पिऱऩैत् तॆळिन्दान् वऴिमुऱै
तीरा इडुम्बै तरुम् ॥ ८ ॥

किया भरोसा नव-आगत[1] पर, जाने बिना कर्म-गुण-शील।
स्वयं नहीं, सन्तानों को भी दुख देना यह विटप करील[2] ॥ ८ ॥

योग्यता और आचरण को परखे बिना, किसी अपरिचित नवागन्तुक को चुनना [और उस पर भरोसा करके कार्य सौंप देना] अपने तथा अपनी भावी पीढ़ियों तक के लिए अनन्त दुःखों का कारण होगा ॥ ८ ॥

तेऱऱ्क यारैयुम् तेरादु; तेर्न्दपिन्
तेऱुह तेऱुम् पॊरुळ् ॥ ९ ॥

विना कसौटी पर परखे करना न किसी के प्रति विश्वास।
यदि विश्वास किया, तो अनुचित अविश्वास का लाना पास ॥ ९ ॥

विना परीक्षा किये किसी को विश्वस्थ मत बनाओ; और परख लेने [और विश्वस्थ मान कर उसको कार्य सौंपने] के बाद उसके कार्य पर भरोसा रखना [और बाधा न देना] कर्त्तव्य है ॥ ९ ॥

तेरान् तेळिवुम् तॆळिन्दान्कण् ऐयुऱवुम्
तीरा इडुम्बै तरुम् ॥ १० ॥

जाँचे बिना भरोसा करना, किया भरोसा तब सन्देह।
दोनो ही दारुन दुखदायी, हैं अनन्त क्लेशों का गेह[3] ॥ १० ॥

विना परखे किसी को चुन कर भरोसे का काम सौंप देना, और किसी को परखने और चुन लेने के बाद उस पर [संदेह करना तथा] भरोसा न करना—ये दोनों ही बातें अनन्त दुःखों को जन्म देने वाली हैं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५२
तॆरिन्दु विनैयाडल् (कार्य-क्षमता की परख)

नन्मैयुम् तीमैयुम् नाडि नलम्पुरिन्द
तन्मैयान् आळप् पडुम् ॥ १ ॥

जाँच तराजू पर लेता है भले-बुरे का जो परिणाम,
ऐसी सूझ-बूझ वाले को समुचित सदा सौंपना काम ॥ १ ॥

---

१ अपरिचित व्यक्ति, नवागन्तुक २ कटीली झाड़ी ३ घर।

आरंभ से पहले हर काम के अच्छे और बुरे परिणामों को जान लेने और अन्ततः उनमें से कल्याणप्रद मार्ग को ग्रहण करने की क्षमता रखनेवाले विवेकी पुरुषों को [कार्य-भार सौंपने के लिए] ज़रूर चुनना चाहिए ॥ १ ॥

वारि पॆरुक्कि वळम्पडुत् तुट्ऱवै
आराय्वान् शॆय्ह विऩै ॥ २ ॥

स्रोत आय[1] के खोज उन्हें अर्जित-उन्नत[2] करने के योग्य,
बाधक तत्वों के विनाश में सक्षम, चुनिए व्यक्ति सुयोग्य ॥ २ ॥

[सब को सन्तुष्ट रख कर] धन को एकत्र करने, राजकोष को उत्तरोत्तर समृद्ध करते रहने, और इसमें बाधक तत्वों का निवारण करने में दक्ष, कुशल व्यक्तियों को ही कार्यसञ्चालन का भार देना चाहिए ॥ २ ॥

अऩ्बऱिवु तेट्ऱम् अवाविऩ्मै इन्नान्गुम्
नऩ्गुडैयान् कट्टे तॆळिवु ॥ ३ ॥

विमल बुद्धि, निर्मल सनेह, पैनी निगाह, नहिं लोभ-विकार,
करो भरोसा उस अमूल्य जन का जिसमें लक्षण ये चार ॥ ३ ॥

(शुद्ध-) स्नेह, (निर्मल-) बुद्धि, स्वच्छ (सूक्ष्म-) दृष्टि और निर्लोभ—इन चार गुणों से समलंकृत व्यक्ति का विश्वास करना चाहिए ॥ ३ ॥

ऎऩैवहैयाट् ऱेऱियक् कण्णुम् विऩैवहैयान्
वेऱाहुम् मान्दर् पलर् ॥ ४ ॥

खरे कसौटी पर, अनन्त गुणवन्त, हाथ में लेकर काम,
नहीं जरूरी सदा सफल हों, कभी-कभी होते ना-काम[3] ॥ ४ ॥

सब प्रकार से कसौटी पर खरे उतरे सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति भी कभी-कभी सिपुर्द किये गये कामों में अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। [अर्थात् कार्य-भार-वितरण में केवल योग्यता और गुणों का अंकन ही काफ़ी नहीं है। किस काम के लिए कौन व्यक्ति किन्हीं कारणों से कम या अधिक उपयुक्त है, यह भी परखना चाहिए। प्रत्येक गुणी सुयोग्य प्रत्येक काम के लिए उपयुक्त हो, यह ज़रूरी नहीं।] ॥ ४ ॥

अऱिन्दाट्ऱिच् चॆय्हिऱ्पार्क् कल्लाल् विऩैदान्
शिऱन्दाऩॆन् ऱेवऱ्पाट् ऱऩ्ऱु ॥ ५ ॥

---

१ आमदनी २ पैदा करने व बढ़ाने ३ विफल ।

गुणी-कुशल हो व्यक्ति—चयन का एक मात्र बस यह आधार,
सही-सिपारिश, शील-सगापन करता सदा कार बेकार ॥ ५ ॥

सुपात्र-चयन में योग्यता और कार्य-दक्षता ही मापदण्ड होना चाहिए। स्नेहभाजन होना [अथवा सिफ़ारिश]—यह चुनाव का आधार नहीं है ॥५॥

शॆय्वाऩै नाडि विऩैनाडिक् कालत्तोडु
ऎय्द उणर्न्दु शॆयल् ॥ ६ ॥

कैसा काम? सौंपना किसको? निरख-परख कर करो विचार,
और समय से भी समरस[1] हों, सौंपो तभी कार्य का भार ॥ ६ ॥

कार्य का स्वरूप; जिसको कार्य सौंपा जाना है उसकी योग्यता और उस कार्य-विशेष में उसकी दक्षता; तथा समय की मांग—इन पर दृष्टि रख कर सुपात्र का चयन करना चाहिए ॥ ६ ॥

इदऩै इदऩाल् इवऩ्मुडिक्कुम् ऎऩ्ऱाय्न्दु
अदऩै अवऩ्कण् विडल् ॥ ७ ॥

किस कारज में, किस प्रकार, किस साधन से, समर्थ है कौन ?
समझ लिया, फिर उस सुपात्र को सौंप काम, हो रहिए मौन[2] ॥ ७ ॥

अमुक व्यक्ति, अमुक साधनों से [अथवा अमुख ढंग से] अमुक कार्य का सुचारु सम्पादन करेगा—इस प्रकार [तीनों बातों का तालमेल जिस व्यक्ति में बैठ जाय उस] सुपात्र को वह काम सौंप कर उसे स्वतंत्रता से करने दीजिए और निश्चित होइए ॥ ७ ॥

विऩैक्कुरिमै नाडिय पिऩ्ऱै अवऩै
अदऱ्कुरिय ऩाहच् चॆयल् ॥ ८ ॥

अमुक[3] काज के लिए अमुक-जन है सुयोग्य यदि सर्व प्रकार,
बेखटके नियुक्त कर, उस पर छोड़ो उस कारज का भार ॥ ८ ॥

निरीक्षण और परीक्षण के बाद एक कार्य-विशिष्ट के लिए उपयुक्त पात्र को चुनिए, और तब उसको वही काम सुपुर्द कीजिए, [और फिर दखल न दीजिए ताकि वह उसे अपना काम समझ कर करे] ॥ ८ ॥

विऩैक्कण् विऩैयुडैयाऩ् केण्मै वेऱाह
निऩैप्पाऩै नीङ्गुम् तिरु ॥ ९ ॥

निष्ठा-भक्ति सहित, श्रम से अपने कर्त्तव्यों पर आसीन[4],
'शक ऐसे सेवक पर' स्वामी को करता है भाग्य-विहीन ॥ ९ ॥

---

१ समय से मेल खाते हों २ खामोश, दखल न दें ३ फ़लाँ ४ डटा हुआ।

कुशलता, श्रम और कर्त्तव्य-परायणता से कार्य को जो करते और चलाते हैं, उनकी निष्ठा पर सन्देह रखनेवाले स्वामी का सारा सौभाग्य नष्ट हो जायगा ॥ ९ ॥

नाडोऱुम् नाडुह मन्ऩऩ्; विनैशॅय्वाऩ्
कोडामै कोडा दुलहु ॥ १० ॥

नृप-कर्तव्य चौकसी रखना कारिन्दों[1] पर सदा निगाह।
कार्य-पालिका यदि सुपन्थ पर, तो सीधी रय्यत[2] की राह ॥ १० ॥

यदि शासक अपनी कार्य-चालिका (के प्रशासकों) की सदैव गुप्त रूप में जाँच करता रहता है [और देखता रहता है कि वे कर्त्तव्यपरायण हैं] तो शासन और प्रजा [सब कर्त्तव्यनिष्ठ रहेंगे,]—कोई राह से बेराह न होगा। [यदि कार्य-पालिका भ्रष्ट है तो सारा शासन और प्रजा भ्रष्ट हो जायगी] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५३

शुट्ऱम् तळाल् (इष्ट-बन्धुओं के साथ भलाई)

पट्ऱट्ऱ कण्णुम् पळैमै पाराट्टुदल्
शुट्ऱत्तार् कण्णे उळ ॥ १ ॥

धन से हीन-दीन निज जन पर, स्वजन-सगों का करुणा-भाव!
यही धर्म है, समझो इसको परम्परा का सहज स्वभाव ॥ १ ॥

धन-वैभव से रहित व्यक्ति पर ही स्वजन-परिजन-परम्परा की संस्कार-वश सहृदयता का भाव प्रकट होता है ॥ १ ॥

[आज-कल के सुधारवादी यह मत रखते हैं कि अपने कमज़ोर समीपियों की सहायता करना अपनी उन्नति में बाधा और अपने ऊपर व्यर्थ का भार है। किन्तु भारतीय परम्परा यह है कि अपने सगे-सम्बन्धी आत्मीय जनों को अपनी सम्पत्ति से सदैव सहायता देता रहे। एक परिवार में बिना इसका विचार किये कि किसमें अर्जन करने की न्यूनाधिक कितनी क्षमता है, सभी इकाइयों को समान उपभोग का अधिकार है। यह केवल नैतिक कर्त्तव्य मात्र नहीं है, वरन् परिवार अथवा जाति और इसी प्रकार राष्ट्र को सुखी-सम्पन्न रखने का उपाय है। सब अपनी शक्ति भर ही अर्जन कर सकते हैं। किन्तु समान उपभोग से ईर्ष्या-मत्सर का अभाव, परस्पर प्रेम और संगठन-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह अध्याय इसी पर है।]

---

१ कर्मचारियों २ प्रजा।

विरुप्पराच् चुट्रम् इयैयिन् अरुप्परा
आक्कम् पलवुम् तरुम् ।। २ ।।

यदि आत्मीय, सगों का हमको सुलभ सदा है सहज सनेह;
मानो हमने प्राप्त कर लिया शाश्वत[1] सुख-वैभव का गेह ।। २ ।।

सगे-सम्बन्धियों से प्राप्त अटूट स्नेह अक्षुण्ण सुख-सम्पत्ति का विकास करता रहता है ।। २ ।।

अळवळा विल्लादान् वाळ्क्कै कुळवळाक्
कोडिन्ड्रि नीर् निरैन् दट्रु ।। ३ ।।

बाँध नहीं—ऐसे तडाग का जल जैसे बह जाता व्यर्थ;
स्वजनों से विरक्त के धन-वैभव का उससे अधिक न अर्थ ।। ३ ।।

अपने आत्मीय जनों से विरक्त जन की स्थिति विना बाँध के तालाब जैसी है जिसका जल व्यर्थ चारों ओर वह जाता है [जल होते हुए भी सरोवर में न रह कर बाहर व्यर्थ बह जाता है, उसी भाँति स्वजनों के स्नेह-बम्धन के विना वैभव नष्टप्राय होता है।] ।। ३ ।।

शुट्रत्तार् शुट्रप् पडवॊळुहल् शॆल्वम्तान्
पॆट्रत्तार् पॆट्र पयन् ।। ४ ।।

सुफल हमारा धन-वैभव—यदि उससे सुखी स्वजन-परिवार,
घेरे हमको रहे सदा उनका संतुष्ट मृदुल व्यवहार ।। ४ ।।

धन-सम्पदा की प्राप्ति व्यक्ति के लिए तभी सुफल है जब सम्बन्धी-आत्मीय जन सुखी होकर उसको घेरे रहें ।। ४ ।।

कॊट्टुत्तलुम् इन्शॊलुम् आट्रिन् अडुक्किय
शुट्रत्तार् शुट्रप् पडुम् ।। ५ ।।

बन्धु-स्वजन के प्रति मृदु-वचनों, धन आदिक से रहे उदार;
ऐसे जन को सुलभ अमित उनका सत्संग, नेह-उद्गार ।। ५ ।।

उदार हस्त और मधुर वाणी—इन लक्षणों से युक्त जन को उसके सगे-सम्बन्धी [अपने-पराये] सभी घेरे रहते हैं ।। ५ ।।

पॆरुङ्गॊडैयान् पेणान् वॆहुळि अवनिन्
मरुङ्गुडैयार् मानिलत् तिल् ।। ६ ।।

कटु वाणी का नाम नहीं है, मुक्त हस्त से करता दान;
सगे-स्वजन के बीच घिरा वह पाता सदा नेह-सम्मान ।। ६ ।।

---

१ कभी न मिटनेवाला।

मुक्त हस्त होकर देने और क्रोध पर क़ाबू रखनेवाले व्यक्ति धरती पर आत्मीयों से घिरे रहते हैं ॥ ६ ॥

काक्कै करवा करैन्दुण्णुम्; आक्कमुम्
अन्नानी रार्क्के उळ ॥ ७ ॥

बिना बुलाये काग-बन्धुओं को, वायस[1] न करे आहार[2]।
अपनों सहित विलसते[3], उनका दिन-दिन बढ़ता सुख व्यापार ॥ ७ ॥

वायस [कौवों से शिक्षा लें कि वे] कभी प्राप्त खाद्य पदार्थ को नहीं छिपाते हैं और पूरी बिरादरी को काँव-काँव करके बुलाते तथा साथ-साथ सहभोज करते हैं। [कभी अकेले खाना पसन्द नहीं करते।] धन अर्जन करके अपने आत्मीय एवं आश्रितों सहित उसका उपभोग करने वालों का ही उत्कर्ष और कल्याण होता है ॥ ७ ॥

पोंदुनोक्कान् वेन्दन् वरिशैया नोक्किन्
अदुनोक्कि वाऴ्वार् पलर् ॥ ८ ॥

यद्यपि सब न समान, यथोचित[4] फिर भी करो सभी को तुष्ट;
ऐसे नृप के चौतरफ़ा रहते हैं सगे सप्रिय सन्तुष्ट ॥ ८ ॥

सब को समान न मान कर भी, प्रत्येक को उसकी योग्यता और अधिकार के अनुसार देकर तृप्त रखनेवाला राजा सदैव हितैषियों से घिरा रहता है ॥ ८ ॥

तमराहित् तट्रुरन्दार् शुट्रम् अमरामैक्
कारण मिन्ऱि वरुम् ॥ ९ ॥

यदि अप्रीति का हेतु निवारण कर दें उनका, तो न विलम्ब,
बिछुड़े-रुष्ट सनेही निश्चय फिर वापस होंगे अविलम्ब ॥ ९ ॥

कोई स्वजन यदि असन्तुष्ट होकर चला गया है तो [उसपर रुष्ट होने के बजाय अपने मन मे उसके असन्तोष का कारण खोज कर उसको दूर करो,] असन्तोष का कारण दूर होते ही वह आत्मीय शीघ्र ही फिर तुमसे आ मिलेगा ॥ ९ ॥

उऴैप्पिरिन्दु कारणत्तिन् वन्दानै वेन्दन्
इऴैत्तिरुन्दु ऍण्णिक् कोळल् ॥ १० ॥

हुआ अकारण विलग, पुनः वह आता है यदि अपने पास,
सोच-विचार, जाँच कर ही आगन्तुक को दीजिए निवास ॥ १० ॥

---

१ कौआ   २ भोजन   ३ सुख भोगते हैं   ४ जो जितने उपकार का पात्र है।

यदि कोई व्यक्ति अकारण त्याग कर चला गया और किसी प्रयोजन से भी फिर वापस आया है तो राजा उसकी नियत की परीक्षा करे और [नियत निर्दोष होने पर] उसका स्वागत करे। [अकारण त्याग कर चले जाने मात्र से रुष्ट होकर उसकी उपेक्षा करना अथवा विना जाँच किये उसका स्वागत करना—दोनों ही नीति-सम्मत नहीं।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५४

पॉच्चावामै (विस्मृति, प्रमादवश उपेक्षा)

इऱन्द वॆहुळियिट् ऱीदे शिऱन्द
उवहै महिऴ्च्चियिऱ् शोर्वु ॥ १ ॥

क्रोध सदा घातक[1] है; सुख में किन्तु अगर छाया उन्माद,
परिचित को पहचान न पावें, तो यह घातक अधिक प्रमाद[2] ॥ १ ॥

अपने सुख के उन्माद में विस्मृति अथवा उपेक्षा का भाव क्रोध से कहीं अधिक घातक है ॥ १ ॥

पॉच्चाप्पुक् कॉल्लुम् पुहऴै; अऱिविऩै
निच्चम् निरप्पुक्कॊऩ् ऱाङ्गु ॥ २ ॥

दरिद्रता नित की, सुबुद्धि को कुण्ठित[3] कर देती जिस भाँति,
उसी भाँति 'विस्मृति[4] प्रमाद-वश' से मिट जाती सारी ख्याति ॥ २ ॥

निरन्तर की ग़रीबी जिस प्रकार बुद्धि का विनाश कर देती है, उसी प्रकार विस्मृति [उपेक्षा अथवा असावधानी] भी कीर्ति का नाश करती है ॥ २ ॥

पॉच्चाप्पार्क्कु इल्लै पुहऴ्मै अदुवुलहत्तु
ऑप्पाऩूलोर्क्कुम् तुणिवु ॥ ३ ॥

विस्मृति और उपेक्षा से है कभी न सम्भव यश-उत्कर्ष[5] ।
सकल मतों का, सब धर्मों का अचल एकमत यह निष्कर्ष ॥ ३ ॥

विस्मृति के रोगी [जो जागरूक नहीं रहते] कभी उत्कर्ष को नहीं पहुँचते। सभी धर्मों और मतों का यह स्वीकृत मत है ॥ ३ ॥

---

१ नाशकारी २ सुख-वैभव पाकर मदहोशी ३ गुठ्ठल ४ भूल जाना ५ निचोड़ ।

अच्चम् उडैयार्क्कु अरणिल्लै आङ्गिल्लै
पॊच्चप् पुडैयार्क्कु नन्गु ।। ४ ।।

कापुरुषों[1] की रक्षा करने में दृढ़ दुर्गों[2] का क्या अर्थ?
सुधिहीनों के सद्गुण भी उसके हित में होते हैं व्यर्थ ।। ४ ।।

भीरु और कापुरुषों के लिए जैसे दुर्ग व्यर्थ हैं [उनकी क़िलों में रह कर भी रक्षा नहीं हो पाती], वैसे ही भुलक्कड़ और असावधान मनुष्यों का कोई कल्याण नहीं कर सकता ।। ४ ।।

मुन्नुरक् कावादु इऴुक्कियान् तन्बिऴै
पिन्नू ऱिरङ्गि विडुम् ।। ५ ।।

भावी[3] विपदा जान-समझ कर भी उपाय का जिसे न होश;
विपदा आने पर, कर मलते[4] पछताते ऐसे मदहोश[5] ।। ५ ।।

आने वाली विपत्तियों को समय रहते देख कर भी, समय आने के पहले उनका उपाय करना जो भूल जाता है, वह अपनी ही भूल से नाना दुःखों में ग्रस्त होता और पछताता है ।। ५ ।।

इऴुक्कामै यार्माट्टुम् ऎन्रुम् वऴुक्कामै
वायिन् अदुवॊप्पदु इल् ।। ६ ।।

सावधान, तत्पर सदैव, विस्मृति का जिसमें कभी न लेश,
सदा सफल है, जग में इससे बढ़कर सद्गुण अन्य न शेष ।। ६ ।।

कभी भूलना नहीं, सदैव जागरूक रहना, ऐसे [सदा सावधान व्यक्ति] के लिए सदैव अतुलनीय लाभ ही लाभ है ।। ६ ।।

अरियवॆन् ऱाहाद विल्लैपॊच् चावाक्
करुवियाऱ् पोट्ऱिच् चॆयिन् ।। ७ ।।

सदा सतर्क, सदा चौकन्ने, कर्मठ[6] जो मेधावी[7] लोग,
कुछ दुःसाध्य न, उनके जीवन में दुर्लभ है निष्फल-योग ।। ७ ।।

जो व्यक्ति जागरूक और सदैव सतर्क (सावधान) हैं, जो सारे साधनों पर विना भूले ध्यान रखते हैं, उनके लिए कठिन से कठिन काम भी सहज है ।। ७ ।।

---

१ कायरों २ मज़बूत से मज़बूत क़िले ३ आनेवाली ४ हाथ मलते ५ नशे में चूर ६ काम पर सदा सवार रहनेवाले ७ स्मृतिशक्ति का धनी ।

पुहऴ्न्दवै पोट्रिच् चॆयल्वेण्डुम् शॆय्यादु
इहऴ्न्दार्क्कु ऎऴुमैयुम् इल् ॥ ८ ॥

कभी न भूलो, श्रेष्ठ जनों के सन्मारग पर चलो सदैव;
यदि उनकी परवाह न की, तो सात जन्म सिर पर दुर्दैव[1] ॥ ८ ॥

गुणी और बुद्धिमान् जनों ने जो मार्ग दरसाये हैं उनको कभी न भूलकर उन्हीं पर सदैव चलना चाहिए। उनका तिरस्कार करनेवाले व्यक्तियों को सात जन्म भी सुख नसीब न होगा ॥ ८ ॥

इहऴ्च्चियिऱ् कॆट्टारै युळ्ळुह तान्दम्
महिऴ्च्चियिऩ् मैन्दुरुम् पोऴ्दु ॥ ९ ॥

सुख-वैभव में कभी न फूलो; कभी न भूलो उनकी याद,
तुमसे पहले नष्ट कर चुका जिन्हें इसी विधि हर्ष-प्रमाद ॥ ९ ॥

तुम जब कभी अपनी उन्नति में विभोर होते हो, तब अवश्य उनका ध्यान कर लो जो तुमसे पूर्व असावधानी और प्रमाद में पड़कर नष्ट हो चुके हैं ॥ ९ ॥

उळ्ळियदु ऎय्दल् ऎळिदुमऩ् मट्रुम्दाऩ्
उळ्ळियदु उळ्ळप् पॆरिऩ् ॥ १० ॥

मन्सूबे[2] बाँधना, सदा फिर मन्सूबों पर रखना ध्यान,
नहीं अलभ्य धरा[3] पर कुछ भी, यही सफलता का सोपान[4] ॥ १० ॥

प्रत्येक योजना और उद्देश्य की सफलता तभी निश्चित है, जब अपने लक्ष्य और योजना पर सदैव दृष्टि रहे [कभी उसके प्रति असावधान न हो] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५५
शॆङ्गोऩ्मै (शासन-धर्म)

ओर्न्दुकण् णोटादु इऱैबुरिन्दु यार्माट्टुम्
तेर्न्दुशॆय् वह्दे मुऱै ॥ १ ॥

सदा न्याय पर नज़र, समझता नहीं किसी को पक्ष-विपक्ष।
शासक वही, जुर्म-मुजरिम[5] को जाँचे, करे न्याय निष्पक्ष ॥ १ ॥

---

१ दुर्भाग्य, विनाश २ मनोरथ, योजना ३ पृथ्वी ४ सीढ़ी ५ अपराध-अपराधी।

विना पक्षपात, न्याय की तराज़ू को संतुलित रखते हुए, पात्रों के प्रति विवेकपूर्ण जाँच करके शासन करना—यही राजदण्ड का धर्म है ॥ १ ॥

वान्नोक्कि वाळुम् उलहॆल्लाम् मन्नवन्
कोन्नोक्कि वाळुम् कुडि ॥ २ ॥

जल वर्षा के लिए, जिस तरह, लोक ताकता है आकास ।
प्रजा धर्ममय शासन की अपने राजा से रखती आस ॥ २ ॥

सारा लोक, वर्षा की लालसा से आकाश की ओर ताकता है । उसी प्रकार सारी प्रजा शासक से सदैव धर्ममय शासन की अपेक्षा रखती है ॥ २ ॥

अन्दणर् तूऱ्कुम् अऱत्तिऱ्कुम् आदियाय्
निन्ऱदु मन्नवन् कोल् ॥ ३ ॥

धर्म, ज्ञान, ऋषियों की वाणी—इनका तभी स्वार्थ है मूल्य ।
जब शासक इनको अपनाये, करे आचरण इनके तुल्य ॥ ३ ॥

सकल धर्म, और ऋषियों की सारी स्मृतियाँ, और ज्ञान, शासक के धर्ममय शासन पर ही तो निर्भर हैं ! (यदि शासक निरंकुश और स्वेच्छाचारी है तो धर्मशास्त्र के नियम किस काम आयेंगे ।) ॥ ३ ॥

कुडिदऴीइक् कोलोच्चुम् मानिल मन्नन्
अडिदऴीइ निऱ्हुम् उलहु ॥ ४ ॥

जिस राजा के राजदण्ड की धर्म-नेह पर है बुनियाद ।
प्रजा भक्ति से सदा चमती, लेती उसका चरण-प्रसाद ॥ ४ ॥

जिसका राजदण्ड अपनी समस्त प्रजा के लिए समान रूप से धर्ममय और वात्सल्यपूर्ण है, उस शासक के चरणों को सारा लोक पूजता है ॥ ४ ॥

इयल्बुळिक् कोलोच्चुम् मन्नवन् नाट्ट
पॆयलुम् विळैयुळुम् तॊक्कु ॥ ५ ॥

जिसके राजदण्ड से बहती नियम-न्याय की पावन धार ।
वर्षा उचित[1], धान्य-धन की, उसकी धरती पर सदा बहार ॥ ५ ॥

धर्मशास्त्र और न्याय के आधार पर जिसका राजदण्ड दृढ़ है, उस शासक के राज्य में समुचित वर्षा और धन-धान्य से परिपूर्ण फ़सल का सौभाग्य छाया रहेगा ॥ ५ ॥

---

१ न कम, न ज़्यादा ।

वेलन्ऱु वॆन्ऱि तरुवदु मन्नवन्
कोलदूउम् कोडा दॆनिन् ॥ ६ ॥

शस्त्र मात्र से भला नरेशों को, कब सम्भव है जयमाल।
न्याय-धर्म-युत राजदण्ड से पाता विजय सदा नरपाल ॥ ६ ॥

अस्त्र-शस्त्रों से विजयश्री नहीं प्राप्त होती। शासक का धर्म और न्याय पर दृढ़ राजदण्ड ही उसकी सफलता और विजय का प्रमुख आधार है ॥ ६ ॥

इऱैकाक्कुम् वैयहम् ऎल्लाम् अवनै
मुऱैकाक्कुम् मुट्टाच् चॆयिन् ॥ ७ ॥

सकल प्रजा का रक्षक नृप है, उनके हित का रखता ध्यान।
न्यायपरायण[1] नृप का रक्षक, धर्म-न्याय है स्वयं महान् ॥ ७ ॥

राजा, लोक की सुरक्षा करता है। और धर्म एवं न्याय से युक्त उसका शासन, उस नृपति की सुरक्षा करता है ॥ ७ ॥

ऎण्बदत्ताल् ओरा मुऱैशॆय्या मन्नवन्
तण्बदत्ताल् तानॆ कॆडुम् ॥ ८ ॥

दर्शन दुर्लभ, दरस हुआ भी, तो नृप से यदि मिला न न्याय।
उस नृप का विनाश कर देता, उस नृशंस[2] का ही अन्याय ॥ ८ ॥

न्याय की गुहार की जहाँ सरलता से सुनवाई नहीं है, अथवा प्रार्थी की फ़रियाद पर पूरी तरह विचार नहीं करता; अथवा धर्म के स्थापित धुरों के अनुसार उचित न्याय नहीं करता, वह शासक अपने हाथों अपना पराभव और विनाश बुलाता है ॥ ८ ॥

कुडिबुऱङ् गात्तोम्बिक् कुट्ऱम् कडिदल्
वडुवन्ऱु वेन्दन् तॊऴिल् ॥ ९ ॥

दमन शत्रु का, अपराधी को दण्ड, भला इसमें क्या दोष?
राजधर्म है, न्यायी नृप इसके पालन में है निर्दोष ॥ ९ ॥

अपनी प्रजा की रक्षा करने में शत्रु का कठोरता से दमन करना, और अपराधी पर दया न करके उसको समुचित दण्ड देना—यह शासक का कर्तव्यधर्म है; यह उसके प्रति लाञ्छन और दोष की बात नहीं ॥ ९ ॥

कॊलैयिर् कॊडियारै वेन्दॊऱुत्तल् पैङ्गूऴ्
कळैकट् टदनॊडु नेर् ॥ १० ॥

---

१ न्याय ही पर आचरण करनेवाला २ क्रूर, अत्याचारी।

हत्यारे को प्राणदण्ड या अधमों से कठोर व्यवहार।
खेत निराने[1] सदृश, प्रजा के हित में नृप का यह आचार ॥ १० ॥

हत्या और जघन्य अपराधों के लिए प्राणदण्ड देना [और इस प्रकार समाज को निष्कण्टक बनाना] वैसे ही ज़रूरी है, जैसे खेती की पैदावार की समृद्धि के लिए [कुस-काँस आदि व्यर्थ घासों को उखाड़ फेंकना अथवा] निराई करना ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५६
कॊडुङ्गोन्मै (निरंकुश-शासन)

कॊलैमेर् कॊण्डारिऱ् कॊडिदे अलैमेर्कॊण्डु
अल्लवै शॆय्दॊऴुहुम् वेन्दु ॥ १ ॥

अधम लुटेरों हत्यारों का पातक है जरूर घनघोर।
अन्यायी अत्याचारी नृप लेकिन उनसे अधिक कठोर ॥ १ ॥

हत्यारों के गरोह की अपेक्षा, अन्यायी अत्याचारी शासक कहीं अधिक निर्दयी और क्रूर है ॥ १ ॥

वेलॊडु निन्ऱान् इडुवॆन् ऱदुबोलुम्
कोलॊडु निन्ऱान् इरवु ॥ २ ॥

'माँग'[2] लुटेरे की न 'माँग' है, है वह भाले का आतंक।
क्रूर नृपति को भेंट प्रजा करती जब होती विवश[3] सशंक[4] ॥ २ ॥

ज़ालिम शासक का अपनी प्रजा से धन और सुवर्ण की याचना करना वैसा ही है, जैसे पिस्तौल की नोक पर लुटेरे डाकू धन सौंप देने की मांग करते हैं। [वह दोनों 'याचना' नहीं हैं। दोनों स्थितियों में धन भय के कारण सौंप दिया जाता है। बल्कि राजा को भय से अर्पित किया हुआ धन 'भेंट' कहलाता है, यह और अन्याय है ॥ २ ॥

नाडॊऱुम् नाडि मुऱैशॆय्या मन्नवन्
नाडॊऱुम् नाडु कॆडुम् ॥ ३ ॥

नित अधर्म में लीन, न नृप ने यदि सुधार की, की परवाह।
दिन-दिन उसके शासन को [उसको] बस समझो हुआ तबाह[5] ॥ ३ ॥

---

१ चुन कर उखाड़ फेंकना २ लुटेरा कहता है 'सब कुछ हमें दे दो' ३ लाचार ४ भयभीत ५ बरबाद।

जो शासक नित्य अधर्मों और अपराधों को करता और उस अनीति में सुधार नहीं करता, वह दिन व दिन स्वयं [को और] अपने शासन को विनाश के गर्त में धकेलता है ।। ३ ।।

कूळुम् कुडियुम् ऑरुङ्गिळक्कुम् कोल्कोडिच्
चूळादु शॅय्युम् अरशु ।। ४ ।।

राजदण्ड के दुरुपयोग से न्याय-धर्म का यदि अपमान ।
राज-सम्पदा-प्रजा सहित ऐसे नृप का जल्दी अवसान[1] ।। ४ ।।

जो राजा धर्म और न्याय से पराङ्मुख होकर राजदण्ड का दुरुपयोग करता है, उसकी प्रजा, राज्य, सम्पदा, सब उसके हाथ से शीघ्र निकल जाता है ।। ४ ।।

अल्लर्पट्टु आट्रादु अळुदहण् णीरन्रे
शॅल्वत्तैत् तेय्क्कुम् पडै? ।। ५ ।।

जिस प्रकार लोहे की आरी कर देती लोहे को चूर्ण ।
त्यों पीड़ित[2] की आहों से होता विनष्ट नृप का सम्पूर्ण ।। ५ ।।

असहनीय उत्पीड़न से उत्पन्न निरीहों की आहें, उनके आँसू, उस पीड़क शासक की सत्ता को भस्म कर देने के लिए धौंकनी का काम करते हैं ['मुए चाम की श्वास सों लौह भस्म ह्वै जाय'] ।। ५ ।।

मन्नर्क्कु मन्नुदल् शॅङ्गोन्मै अहदिन्रेल्
मन्नावाम् मन्नर्क् कॊळि ।। ६ ।।

राजदण्ड की धर्मपताका से राजा का अटल प्रताप ।
राजदण्ड के दुरुपयोग से चमक नसाती[3] उसकी आप ।। ६ ।।

शासक की कीर्ति और विक्रम की पताका उसी समय तक लहराती है जिस समय तक वह धर्ममय राजदण्ड धारण किये है। राजदण्ड का दुरुपयोग होते ही शासक की सारी आभा समाप्त हो जाती है। [वह धीरे-धीरे विनाश को प्राप्त हो जाता है] ।। ६ ।।

तुळियिन्मै ञालत्तिर् कॅट्रट्रे वेन्दन्
अळियिन्मै वाळुम् उयिर्क्कु ।। ७ ।।

विन वर्षा के प्यासी धरती जैसे हो जाती वीरान ।
धर्म-दया से हीन नृपति की प्रजा खोखली[4] उसी समान ।। ७ ।।

---

१ समाप्ति २ (राजा द्वारा) सताये गये ३ नष्ट हो जाती है ४ दीन, सब कुछ मिट जाता है।

वर्षा न होने से जैसे धरती सूख कर विना फ़सल की हो जाती है, उसी प्रकार धर्महीन निरंकुश शासक की प्रजा भी निर्जीव हो जाती है ॥ ७ ॥

इऩ्मैयिऩ् इऩ्ऩादु उडैमै मुऱैशॆय्या
मऩ्ऩवऩ् कोऱ्कीऴ्प् पडिऩ् ॥ ८ ॥

अन्यायी नृप के अधीन सम्पन्नों को भी दुःख महान्।
न्यायी शासन में विपन्न धनहीनों को भी सुख-सम्मान ॥ ८ ॥

अन्यायी राजा के अधीन प्रजा का सम्पन्न होना, विपन्न-निर्धन होने की अपेक्षा अधिक दुखदायी है ॥ ८ ॥

मुऱैकोडि मऩ्ऩवऩ् शॆय्यिऩ् उऱैकोडि
ऒल्लादु वाऩम् पॆयल् ॥ ९ ॥

नृप, दुर्नीति-बीज को बोकर राज-प्रजा करता वीरान।
दुःशासन से ऋतू बदलतीं, जलद[1] न करते हैं जलदान ॥ ९ ॥

यदि शासक अधर्म और अन्याय की खेती करता है तो उसके राज्य में ऋतुएँ बदल जाती हैं, [उसके वैभव-रूपी खेतों में] मेघ वर्षा नहीं करते [अर्थात् जो कुछ उसके पास सम्पत्ति है सब सूख अर्थात् नष्ट हो जाती है।] ॥ ९ ॥

आबयऩ् कुऩ्ऱुम् अऱुदॊऴिलोर् नूल्मऱप्पर्
कावलऩ् कावाऩ् ऎऩिऩ् ॥ १० ॥

प्रजा अरक्षित जिस शासन में, गायें वहाँ दुग्ध से हीन।
पुण्य छीन[2], यागादि कर्मषट् से द्विज होते वहाँ विहीन ॥ १० ॥

यदि संरक्षक नरेश अपनी प्रजा की [सुख-शांति-समृद्धि की] सुरक्षा करने से विमुख है, तो उसके राज्य में [सूखा पड़ जाने से] गायें दूध देना बन्द कर देती हैं, वैदिक जन ऋचाएँ भूल जाते हैं। [पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-यज्ञ कराना, दान देना-दान लेना—ये षट्कर्म लुप्त हो जाते हैं—राजा-प्रजा सब विपन्न हो जाते हैं।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५७

वॆरुवन्द शॆय्यामै (कोमल दण्ड-व्यवस्था)

तक्काङ्गु नाडिऩ् तलैच्चॆल्ला वण्णत्ताल्
ऒत्ताङ्गु ऒऱुप्पदु वेन्दु ॥ १ ॥

---

१ मेघ २ क्षीण, नष्टप्राय।

उचित दण्ड हो, ताड़न हो, भय से उपजे सुधार का भाव।
समुचित सज़ा, किन्तु दोषी के प्रति मन में हो कोमल भाव ॥ १ ॥

वही सुयोग्य शासक है जो अपराध की पूरी जाँच करके अपराधी और अपराध के अनुरूप दण्ड दे। उस दण्ड से न अपराधी को असहनीय उत्पीड़न हो, न वह इतना हलका हो कि अपराधी दुबारा वह अपराध करने का साहस करे ॥ १ ॥

कडिदोच्चि मॅल्ल ऍरिह नॅडिदाक्कम्
नीङ्गामै वेण्डु पवर् ॥ २ ॥

सदा रहे सुख-शान्ति, जिन्हें प्रिय; रक्खें मन में दण्ड-विवेक।
मन में दया, प्रकट में दोषी पर कठोरता का अतिरेक[1] ॥ २ ॥

अपनी और अपने राज्य की सदैव समृद्धि चाहनेवाले शासक को उचित है कि अपराधी को ऐसा दण्ड दे, जो भयावह तो इतना हो कि अपराधी सहमा रहे, किन्तु वह दण्ड ऐसा कठोर भी न हो कि अपराधी उसको झेल ही न सके ॥ २ ॥

वॆरुवन्द शॅय्दॊळुहुम् वॆङ्गोल ऩायिऩ्
ऑरुवन्दम् ऑल्लैक् कॅडुम् ॥ ३ ॥

जिसकी रय्यत[2] जुल्म और बेरहमी से रहती है त्रस्त[3]।
देर न लगती ऐसे शासक के होने में निश्चय ध्वस्त[4] ॥ ३ ॥

शासक यदि प्रजा पर निर्दयता से आतंक और उत्पीड़न ढहाता है, तो वह निश्चय ही शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इऱैहडियऩ् ऎऩ्ऱुरैक्कुम् इऩ्ऩाच्चॊल् वेन्दऩ्
उऱैहडुकि ऑल्लैक् कॅडुम् ॥ ४ ॥

जहाँ प्रजा की यह पुकार—'है शासक निठुर हमारा क्रूर'।
उसका ह्रास[5] सुनिश्चित समझो, उसका नाश नहीं कुछ दूर ॥ ४ ॥

"हमारा प्रतिपालक क्रूर और नृशंस है", जिसकी प्रजा की यह आवाज़ है, उस राजा का अन्त समय समीप जानो; वह शीघ्र-विनाश के मुख पर है ॥ ४ ॥

अरुञ्जॆव्वि इऩ्ऩा मुहत्ताऩ् पॆरुञ्जॆल्वम्
पेऍय्कण् डऩ्ऩदु उडैत्तु ॥ ५ ॥

---

१ आधिक्य २ प्रजा ३ पीड़ित ४ विनष्ट ५ क्रमशः गिराव।

दुर्लभ जिस तक पैठ, सामना होने पर जो है खूँख्वार।
ऐसा नृप शैतान ! सम्पदा, शक्ति, सकल उसकी बेकार ।। ५ ।।

उसकी अतुल सम्पदा भी व्यर्थ है, यदि लोगों को उसका साक्षात् दुर्लभ हो, और दैववश साक्षात् हो भी जाय तो वह भयावह-खूँख्वार सिद्ध हो । उसकी सम्पदा शैतान की सम्पदा है ! ।। ५ ।।

कडुञ्जॊल्लन् कण्णिलन् आयिन् नॆडुञ्जॆलवम्
नीडिन्ऱि आङ्गे कॆडुम् ।। ६ ।।

क्रूरदृष्टि, कटुवाची नृप की भले सम्पदा अतुल महान् ।
दिन-दिन ह्रास, विनाश एक दिन उसका निश्चित! रक्खो ध्यान! ।। ६ ।।

कटुवाणी और क्रूरदृष्टि वाले नरेश की अतुल सम्पत्ति भी अधिक न टिक कर शीघ्र विनाश को प्राप्त होती है ।। ६ ।।

कडुमॊऴियुम् कैयिहन्द तण्डमुम्वेन्दन्
अडुमुरण् तेय्क्कुम् अरम् ।। ७ ।।

लोहे की रेती लोहे को जिस प्रकार कर देती चूर्ण ।
दण्ड कठोर और कटुवाणी करती नृप को स्वयं विचूर्ण ।। ७ ।।

चुभनेवाले कटुवचन कहनेवाले और [अपराध की तुलना में] सीमा से बाहर कठोर दण्ड देनेवाले शासक के ये कुलक्षण, शत्रु का सामना पड़ने पर, उस शासक ही का सफ़ाया कर देते हैं; जैसे लोहे की ही रेती लोहे को रेत-रेत कर विचूर्ण कर देती है ।। ७ ।।

इऩत्ताट्ऱि ऍण्णाद वेन्दन् शिऩत्ताट्ऱिच्
चीऱिन् शिरुहुम् तिरु ।। ८ ।।

अविश्वास सचिवों पर करना, उन पर क्रोध और अपमान ।
अपना वैभव स्वयं नष्ट कर, अपना ही करना अवसान[1] ।। ८ ।।

अपने मंत्रियों और सलाहकारों की सलाह पर कान न देकर, उलटे उन पर क्रोध उतारनेवाले शासक और उसकी सम्पत्ति का विनाश निश्चित है ।। ८ ।।

शॆरुवन्द पोऴ्तिल् शिऱैशॆय्या वेन्दन्
वॆरुवन्दु वॆय्दु कॆडुम् ।। ९ ।।

---

१ पतन, समाप्ति ।

रहते समय, सुरक्षा का जो नरपति करता नहीं उपाय।
रिपु से रण में सदा विकम्पित, समझो उसको नष्टप्राय ॥ ९ ॥

जो राजा समय रहते दुर्ग अथवा सुरक्षा के साधन नहीं बनाता, वह युद्ध उपस्थित होते ही थरथरा कर ढह जायगा ॥ ९ ॥

कल्लार्प् पिणिक्कुम् कडुङ्गोल् अदुवल्लदु
इल्लै निलक्कुप् पॊऱै ॥ १० ॥

मूर्ख मंत्रियों का निबाह सम्भव है, जहाँ क्रूर है भूप।
ऐसे नृप मतिमन्द सर्वथा हैं धरती पर भार-स्वरूप[1] ॥ १० ॥

क्रूर और नृशंस शासक सदैव मूर्ख और अयोग्य लोगों को अपने समीप रखता है [और उन्हीं की सलाह पर चलता है, सुयोग्य व्यक्ति उसकी क्रूरता के कारण टिक नहीं पाते।] ऐसा क्रूर नरेश धरती के लिए सबसे बड़ा भार है [धरती उसका अस्तित्त्व सहन नहीं करती, शीघ्र ही निगल लेती है।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५८

कण्णोट्टम् (कृपादृष्टि)

कण्णोट्टम् ऎन्नुम् कऴिबॆरुङ् गारिहै
उण्मैयान् उण्डिव् वुलहु ॥ १ ॥

शासन अटल, प्रजा पर यदि शासक की है मधुमयी निगाह।
यदि विपरीत, क्रूर को निज करनी से समझो हुआ तबाह ॥ १ ॥

यदि शासक कृपादृष्टियुक्त हो तो यह विश्व [अर्थात् उसका साम्राज्य] अटल रहेगा; अन्यथा विनष्ट हो जायगा। [इस पद में कृपा-दृष्टि को रूपवती स्त्री के रूप में कहा गया है। अर्थात् किसी शासक की शोभा जनता के प्रति कृपापूर्वक व्यवहार करने में है। तभी उसका शासन स्थिर रहेगा; अन्यथा उसके कठोर व्यवहार से जनता दुखी रहेगी और उसका परिणाम उस शासक के शासन का विनाश होगा।] ॥ १ ॥

कण्णोट्टत् तुळ्ळदु उलहियल् अह्दिलार्
उण्मै निलक्कुप् पॊऱै ॥ २ ॥

---

१ पृथ्वी के लिए बोझ।

इस्थिर विश्व ! विश्व की इस्थिरता का कृपादृष्टि आधार ।
करुणाहीन क्रूर शासक को समझो इस धरती का भार ॥ २ ॥

विश्व-जीवन का आधार कृपा-दृष्टि है । [कृपादृष्टियुक्त शासक भूमि का भार वहन करता है ।] अन्यथा वह शासक भूमि के लिए मात्र भार है । [पोरै = भार] ॥ २ ॥

पण्णॆन्नाम् पाडऱ्कु इयैबिन्ऱेल् कण्णॆन्नाम्
कण्णोट्टम् इल्लाद कण् ॥ ३ ॥

गायन में रस कहाँ, राग-रागिनियाँ अगर ताल-बेताल ?
कृपादृष्टि से रहित नयन, तो समझो नयन-रहित है भाल[1] ॥ ३ ॥

यदि राग-रागिनियाँ संगीत के अनुकूल न हों तो उन राग-रागिनियों से क्या प्रयोजन ? अर्थात् राग-रागिनियाँ और संगीत परस्पर असंबद्ध हों तो उससे श्रोताओं को रसानुभूति नहीं हो सकती । उसी प्रकार कृपा-दृष्टिरहित नयनों का भी कोई प्रयोजन नहीं होगा । [पण् = राग; कण् = नयन] ॥ ३ ॥

उळबोल् मुहत्तॆवन् शॆय्युम् अळविन्नान्
कण्णोट्टम् इल्लाद कण् ॥ ४ ॥

नयनों से ललाट की शोभा, यदि नयनों में करुणा-भाव ।
करुणहीन लोचन यदि निर्मम, तो लोचन का कौन प्रभाव ? ॥ ४ ॥

मुख पर दो आँखों के विद्यमान रहने से क्या हो जायगा यदि उनमें कृपादृष्टि न हो ? ऐसी आँखें लोगों को केवल दिखलाई देंगी । किन्तु उनका कोई प्रयोजन नहीं होगा ॥ ४ ॥

कण्णिऱ् कणिहलम् कण्णोट्टम् अह्दिन्ऱेऱ्
पुण्णॆन्ऱु उणरप् पडुम् ॥ ५ ॥

दृग मणिरत्न, दृष्टि जिनकी बरसाती है करुणा के फूल ।
यदि अन्यथा, न दृग हैं, समझो वे वस्तुतः वृथा दृग्शूल ॥ ५ ॥

कृपा-दृष्टि आँखों का आभूषण है । उसी में आँखों का सौन्दर्य है । उसके अभाव में दोनों आँखें दो व्रण [ज़ख़्म] होंगी । [अणिहलम् = आभूषण; पुण् = व्रण] ॥ ५ ॥

मण्णो डियैन्द मरत्तन्नैयर् कण्णोडु
इयैन्दुकण् णोडा दवर् ॥ ६ ॥

---

1 मस्तक ।

पल्लव-शाखाहीन विटप के ठूँठ धरा पर जड़ बेकार;
निर्मम करुणाहीन नयन भी उसी भाँति हैं व्यर्थ असार[1] ।। ६ ।।

जिन शासकों की आँखों में स्नेहिक दृष्टि अथवा कृपादृष्टि नहीं रहती उनकी वे आँखें उसी प्रकार निष्प्रयोजन सिद्ध होंगी जिस प्रकार किसी चित्र में मिट्टी के ऊपर चित्रित वृक्ष किसी प्रयोजन का नहीं होगा। [फलों से लदा हुआ चित्र-लिखित वृक्ष किस प्रयोजन का है ?] ।। ६ ।।

कण्णोट्टम् इल्लवर् कण्णिलर् कण्णुडैयार्
कण्णोट्टम् इऩ्मैयुम् इल् ।। ७ ।।

नयन सफल हैं, यदि नयनों से बहती कृपा-सुधा की धार।
नयनहीन, जिसके नयनों में नहीं दया का है सञ्चार ।। ७ ।।

जिन शासकों की आँखों में कृपादृष्टि नहीं रहती वे आँखों से रहित हैं। उन्हीं को आँखों से युक्त कहा जाएगा जिनकी आँखों में कृपादृष्टि का अभाव न हो ।। ७ ।।

करुमम् शिदैयामऱ् कण्णोड वल्लार्क्कु
उरिमै युडैत्तिव् वुलहु ।। ८ ।।

राज-धर्म, कर्तव्य-कर्म पर दृढ़, परंतु ममता का भाव।
सर्वजयी, सब अनुगत[2] उसके, सकल धरा पर अमिट प्रभाव ।। ८ ।।

शासक को चाहिए कि वह कृपादृष्टियुक्त हो; साथ ही अपने शासन-धर्म से भी च्युत न हो। यह विश्व ऐसे ही शासक का होगा। ।। ८ ।।

ऒऱुत्ताट्ऱुम् पण्बिऩार् कण्णुम् कण्णोडिप्
पॊऱुत्ताट्ऱुम् पण्बे दलै ।। ९ ।।

दया-क्षमा उनके ऊपर भी, जिनसे हमें पहुँचता क्लेश।
करुण-कृपा की दृष्टि गुणों में सर्वोपरि है सौम्य विशेष ।। ९ ।।

शासक का महत्वपूर्ण धर्म यह है कि वह अपने प्रति अपराध करनेवाले को भी कृपापूर्वक क्षमा कर दे ।। ९ ।।

पॆयक्कण्डुम् नञ्जुण्डु अमैवर् नयत्तक्क
नाहरिकम् वेण्डु पवर् ।। १० ।।

सज्जनता-सौम्यत-सुयशा के यश में जिसको प्रीति अपार,
करता है स्वीकार विहँसकर कूट-हलाहल[3] का उपहार ।। १० ।।

जो शासक सभी लोगों के लिए प्रिय, उदात्त, शालीनता से युक्त रहना

---

१ तत्वहीन २ पीछे चलनेवाले ३ कठिन विष।

चाहेगा, वह वैरभाव से दिया हुआ विष भी पी लेगा; चाहे वह विष उसकी आँखों के सामने ही क्यों न मिलाया गया हो। [नञ्जु = विष; नाहरिकम् = शालीनता] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ५९

ऑट्राडल् (गुप्तचर-लक्षण)

ऑट्रुम् उरैशान्र नूलुम् इवैयिरण्डुम्
तॆट्रॆन्ग मन्नवन् कण् ॥ १ ॥

शासन-कला, गुप्तचर-मण्डल—ये शासक के दोनो नैन;
इनके बल पर ही शासक निश्चिन्त सदा पाता सुख-चैन ॥ १ ॥

गुप्तचर-सेवा और शासन-संबन्धी प्रामाणिक नीतिग्रंथ, ये दोनों शासक की दो आँखें हैं ॥ १ ॥

ऎल्लार्क्कुम् ऎल्लाम् निहऴ्पवै ऎञ्ञान्रुम्
वल्लरिदल् वेन्दन् तॊऴिल् ॥ २ ॥

सकल रिआया के, प्रति दिन प्रत्येक काम की रखना थाह—
नित का यह कर्तव्य, न इसके विना नृपति का कभी निबाह ॥ २ ॥

शासक का उत्तम धर्म यह जान लेना है कि हर समय सर्वत्र सभी के जीवन में क्या-क्या होता है। यह गुप्तचर-सेवा द्वारा ही संभव है ॥ २ ॥

ओट्रिनान् ऑट्रिप् पॊरुळ्दॆरिया मन्नवन्
कॊट्रम् कॊळक्किडन्द दिल् ॥ ३ ॥

गुप्तचरों के द्वारा सच्ची हालत का न जिन्हें है ज्ञान,
कभी न उनको विजय मयस्सर, जो रहते ग़ाफ़िल नादान ॥ ३ ॥

जो शासक अपने गुप्तचरों से प्राप्त सूचनाओं से वास्तविकता की जानकारी प्राप्त करना नहीं जानता वह विजयी नहीं हो सकता। अर्थात् उसी शासक को विजय प्राप्त होगी जो गुप्तचरों की सहायता से वास्तविक स्थिति की सूचना पाकर उसके अनुसार शासन-धर्म का निर्वाह करे ॥ ३ ॥

विनैशॆय्वार् तम् शुट्रम् वेण्डादार् ऎन्राङ्गु
अनैवरैयुम् आराय्वदु ऑट्रु ॥ ४ ॥

नाते-गोते, राजसेवकों, रिपु-आदिक की गति-विधि जान,
सही सूचना देते रहना—सफल गुप्तचर की पहचान ॥ ४ ॥

गुप्तचर का लक्षण यह है कि वह शासक के सेवकों, उसके रिश्तेदारों, उसके वैरियों आदि पर निगरानी रखे, और उनकी बातों तथा कार्य की जाँच करे ॥ ४ ॥

कडाअ उरुवॊडु कण्णञ्जा दियाण्डुम्
उहाअमै वल्लदे ऒट्रु ॥ ५ ॥

असंदिग्ध है छद्म[1] वेश, संदिग्ध दशा में भी भयहीन-
रहकर भेद न खुलने देना, कुशल वही जासूस प्रवीन ॥ ५ ॥

वही सफल गुप्तचर है जो ऐसा भेस बदल सके जिस पर किसी को सन्देह न हो, और जो किसी को सन्देह हो जाने पर भी निडर रहकर किसी भी परिस्थिति में राज़ न खोल दे। सन्देह की दृष्टि से भले ही कोई गुप्तचर को क्यों न देखे, फिर भी उसे अपना राज़ व्यक्त नहीं होने देना चाहिए ॥ ५ ॥

तुऱन्दार् पडिवत्त राहि इऱन्दारायन्दु
ऎन्ऩॆयित्तुम् शोर्विलदु ऒट्रु ॥ ६ ॥

पीर-फ़क़ीर-वेश में निर्भय विविध रहस्यों को ले जान।
संकट में भी भेद न खोले, सही भेदिये की पहचान ॥ ६ ॥

गुप्तचर को चाहिए कि वह प्रवेश-योग्य सभी स्थानों में संन्यासी, तीर्थयात्री आदि का भेस धारण कर प्रवेश करे, सभी ज्ञातव्य रहस्यों को जान ले, और भले ही कोई उसे सन्देह से पकड़कर परेशान करे, फिर भी अपने रहस्यों को प्रकट न होने दे ॥ ६ ॥

मऱैन्दवै केट्कवट् ऱाहि अऱिन्दवै
ऐयप्पाडु इल्लदे ऒट्रु ॥ ७ ॥

विविध रहस्यों को निकालना खोज, जान लेना सब मर्म;
फिर संशय-सन्देह न रहना—चतुर गुप्तचर का यह धर्म ॥ ७ ॥

गुप्तचर वह होता है जो दूसरों के गुप्त रहस्यों का पता लगाने में समर्थ है। उसे अपने द्वारा पता लगायी गयी बातों में किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं होना चाहिए ॥ ७ ॥

---

१ नववाटी, खुफ़िया।

ऑट्ऱॉट्ऱित् तन्द पॉरुळैयुम् मट्ऱुमोर्
ऑट्ऱिनाल् ऑट्ऱिक् कॉळल् ॥ ८ ॥

एक गुप्तचर की ख़बरों पर अन्य गुप्तचर की परिपुष्टि,
है कर्तव्य कुशल-शासक का, तभी न सम्भव छल की सृष्टि ॥ ८ ॥

जब कोई गुप्तचर पता लगायी गयी गुप्त सूचना की जानकारी देता है तब शासक को चाहिए कि किसी दूसरे गुप्तचर को भेजकर पहले गुप्तचर से प्राप्त जानकारी की सच्चाई की परख कर ले। [यह इसलिए कहा गया है कि कभी-कभी किसी शासक का गुप्तचर दूसरे शासक द्वारा दिये हुए प्रलोभन में पड़कर ग़लत सूचना भी दे सकता है।] ॥ ८ ॥

ऑट्ऱॉट् ऱुणरामै आळ्ह उडन्मूवर्
शॉल्तॉक्क तेऱप् पडुम् ॥ ९ ॥

एक काम पर कई गुप्तचर करना पृथक्-पृथक् तैनात,
पृथक् सूचनाएँ समान हों, समझो मिली तथ्य की बात ॥ ९ ॥

गुप्तचर सेवा की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि गुप्तचरों को एक-दूसरे का पता न हो। एक ही बात के संदर्भ में जहाँ तीन गुप्तचरों की सूचनाओं में समानता हो, वहाँ उस बात को सत्य समझा जाए ॥ ९ ॥

शिऱप्पऱिय ऑट्ऱिऩ्गट् चॅय्यऱ्क; शॅय्यिन्
पुऱप्पडुत्ता ऩाहुम् मऱै ॥ १० ॥

विश्वसनीय गुप्तचर का अनुचित है सार्वजनिक सम्मान।
इस प्रकार है निज भेदों पर सबका स्वयं खींचना ध्यान ॥ १० ॥

शासक को चाहिए कि वह विशेष सूचनाएँ प्रदान करनेवाले गुप्तचर का सम्मान सार्वजनिक रूप से न करे; क्योंकि ऐसा करने से वह अपने राज़ को स्वयं ही प्रकट करनेवाला सिद्ध होगा। [यदि गुप्तचर का सार्वजनिक सम्मान किया जाए तो कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो यह जानने का प्रयास करेंगे कि वह कौन है, उसका सम्मान क्यों किया जाता है, आदि। तब रहस्य के स्पष्ट होने में विलम्ब नहीं होगा।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ६०
ऊक्कमुडैमै (कार्य-तत्परता)

उडैयर् ऍऩप्पडुवदु ऊक्कम् अह्दिल्लार्
उडैयदु उडैयरो मट्ऱु ॥ १ ॥

सब निधियों का वह अधीश है जिसमें कर्मठता-पुरुषार्थ।
किन्तु अकर्मठ-निरुद्यमी[1] को सारी निधियाँ भी हैं व्यर्थ ॥ १ ॥

जिस व्यक्ति में कार्य-तत्परता है उसी के बारे में कहा जाएगा कि उसके पास सब कुछ है। सब कुछ होते हुए भी कार्य-तत्परता-विहीन व्यक्ति के बारे में क्या यह कहा जा सकता है कि उसके पास सब कुछ है? [उत्तर है "नहीं"।] ॥ १ ॥

उळ्ळम् उडैमै उडैमै पॊरुळुडैमै
निल्लादु नीङ्गि विडुम् ॥ २ ॥

कृतसंकल्प मनस्वी होना—यही सम्पदा की है खान।
संसारी सम्पदा सकल—इन नाशवान् का वृथा गुमान[2] ॥ २ ॥

कार्य-तत्परता ही किसी व्यक्ति की स्थायी संपत्ति है। अन्य सारी संपत्तियाँ अस्थायी और विनष्ट होनेवाली हैं। [उळ्ळम् = हृदय; इस शब्द से हृदय की प्रवृत्ति 'तत्परता' का अर्थ लिया गया है।] ॥ २ ॥

आक्कम् इळन्देमॆन् ऱल्लावार् ऊक्कम्
ऒरुवन्दम् कैत्तुडै यार् ॥ ३ ॥

दृढ़ संकल्प उद्यमी, दुख में—दुरवस्था में, नहीं निराश।
कठिन अभावों में कर्मठता देती उसको सदा प्रकाश ॥ ३ ॥

जिस व्यक्ति के पास मानसिक शक्ति की संपत्ति हो वह अन्य संपत्ति के विनष्ट होने पर भी दुखी नहीं होगा ॥ ३ ॥

आक्कम् अदर्विऩाय्च् चॆल्लुम् अशैविला
ऊक्कम् उडैयाऩ् उऴै ॥ ४ ॥

पुरुषारथ-संकल्प-युक्त के सकल विभव होते हैं दास।
उस सतेज को स्वयं ढूँढ कर विभव पहुँचते उसके पास ॥ ४ ॥

जो व्यक्ति अपार उत्साही है और कर्म के प्रति तत्पर है, वैभव उसके घर का पता लगाता हुआ वहाँ पहुँच जाता है ॥ ४ ॥

वॆळ्ळत् तऩैय मलर्नीट्टम् मान्दर्दम्
उळ्ळत् तऩैयदु उयर्वु ॥ ५ ॥

कमल-नाल उठता है ऊँचे, ज्यों-ज्यों जल में हुआ उठान।
प्रबल-मनोरथ संकल्पी की शक्ति बनाती उसे महान् ॥ ५ ॥

जल-स्तर के अनुसार पुष्प के डंठल की लम्बाई का स्तर होता है।

---

१ अकर्मण्य २ गर्व।

उसी प्रकार मानसिक उत्साह और तत्परता के अनुसार मानव की महत्ता होती है ।। ५ ।।

उळ्ळुव तॆल्लाम् उयर्वुळ्ळल् मट्रदु
तळ्ळिनुम् तळ्ळामै नीर्त्तु ।। ६ ।।

सदा समुन्नत हों विचार, उद्देश्य सामने सदा महान् ।
विफल दैव-वश[1], तदपि सर्वदा खुला सफलता का सोपान[2] ।। ६ ।।

शासक अपने विचारों को उदात्त रखे । [आदर्श उच्च हों ।] भले ही उन विचारों से विफलता ही हाथ लगे, फिर भी उसे विफलता नहीं कहा जा सकता । विचार उदात्त ही होंगे ।। ६ ।।

शिदैविडत्तु ऒल्हार उरवोर् पुदैयम्बिर्
पट्टुप्पा डून्रुम् कळिरु ।। ७ ।।

तीरों की बौछार, न विचलित होते जैसे धीर मतंग[3] ।
धीर-संयमी जन विपन्न[4], फिर भी होते हैं नहीं अपंग[5] ।। ७ ।।

भले ही हाथी पर क्यों न तीर बरसाये जाएँ । घायल होने पर भी वह अपनी गंभीरता को बनाये रखेगा । उसी प्रकार उत्साही व्यक्ति अपनी विफलताओं से चंचल नहीं होंगे, प्रत्युत अपने उत्साह को और सुरक्षित रखेंगे । [पुदै = तीरों का समूह; कळिरु = हाथी] ।। ७ ।।

उळ्ळम् इलादवर् ऎय्दार् उलहत्तु
वळ्ळिय मॆन्नुम् शॆरुक्कु ।। ८ ।।

विना आत्मबल के पुरुषों को व्यर्थ प्रतिष्ठा का अभिमान ।
सुलभ न उनको कभी जगत् में होना श्रेष्ठ और श्रीमान् ।। ८ ।।

जो शासक उदात्त विचारों से विहीन हो वह इस बात का अभिमान नहीं कर सकता कि इस विश्व के लोगों में वह अधिक सक्षम है ।। ८ ।।

परियदु कूर्ङ्गोट्ट दायिनुम् यानै
वॆरूउम् पुलिदाक् कुरिन् ।। ९ ।।

वृहद्दन्त गज[6] अति विशाल भी निरख सिंह को होता त्रस्त ।
एक मनोबल के सम्मुख, पशुबल, शस्त्रास्त्र—सकल हैं ध्वस्त ।। ९ ।।

समस्त पशुओं में हाथी का आकार बड़ा है । उसके दाँत भी बहुत नुकीले हैं । फिर भी व्याघ्र के सामने वह काँप उठता है । [इसी

---

१ भाग्य वश २ सीढ़ी ३ हाथी ४ विपत्तिग्रस्त ५ लाचार ६ बड़े दाँतों वाला हाथी ।

प्रकार शारीरिक शक्ति और शस्त्रास्त्रों से युक्त होने पर भी मानसिक बलरहित शासक उस शासक से भयभीत रहता है जिसमें मानसिक बल है।] ॥ ९ ॥

उरम् ऒरुवऱ्कु उळ्ळ वॆऱुक्कै अह्दिल्लार्
मरम् मक्क ळादले वेऱु ॥ १० ॥

नहीं मनोबल जिस मानव में आतम-बल का जहाँ अभाव।
मानव-तन में चलता-फिरता वृक्ष लिये जड़ता का भाव ॥ १० ॥

किसी मानव की शक्ति उसका मानसिक बल ही है। उसके अभाव में मानव लकड़ी के बराबर है, हालाँकि वह मनुष्य का शरीर धारण किये हुए है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ६१
मडियिन्मै (निरालस्य)

कुडिऎन्नुम् कुन्ऱा विळक्कम् मडिऎन्नुम्
माशूर मायन्दु कॆडुम् ॥ १ ॥

अमर दीप भी बुझ जाता है, रख-रखाव यदि हुआ न यत्न।
अन्धकार-आलस में बुझते दीपक-रूप वंश के रत्न ॥ १ ॥

आलस्य अन्धकार है। उस अन्धकार के छा जाने से वंश रूपी अमर दीप बुझ जाएगा। [शासक को आलस्य-मुक्त रहना चाहिए। तभी उसके वंश का विकास हो सकता है।] ॥ १ ॥

मडियै मडिया वॊऴुहल् कुडियैक्
कुडियाह वेण्डु पवर् ॥ २ ॥

जिन्हें रुचिर[1] है सुयश-प्रतिष्ठा से भरपूर वंश-परिवार,
निरालस्य, उत्साह, परिश्रम-वृत्ति सदा उनको दरकार[2] ॥ २ ॥

जो व्यक्ति अपने वंश को अधिक प्रतिष्ठित करना चाहे उसे आलस्य का परित्याग कर प्रयासपूर्वक कर्म करना चाहिए ॥ २ ॥

मडिमडिक् कॊण्डॊऴुहुम् पेदै पिऱन्द
कुडिमडियुम् तन्निनुम् मुन्दु ॥ ३ ॥

---

१ प्रिय २ आवश्यक।

अज्ञानी आलस-प्रमाद में करता अपना स्वयं विनाश।
उससे प्रथम, पराभव उसके कुल का दिन-दिन होता ह्रास ॥ ३ ॥

विनाशकारी आलस्य के साथ जीवन चलानेवाले व्यक्ति को जिस वंश ने जन्म दिया वह वंश उस व्यक्ति के पहले ही नष्ट हो जाएगा ॥ ३ ॥

कुडिमडिन्दु कुट्ऱम् पॆरुहुम् मडिमडिन्दु
माण्ड उञऱ्ऱि लवर्क्कु ॥ ४ ॥

जो प्रमाद-आलस में डूबे, करते उचित न अध्यवसाय।
वंश विनसता, नित्य उपजते नाना-भाँति दोष-समुदाय ॥ ४ ॥

जो व्यक्ति आलसी होते हैं और इस कारण उत्तम कार्य नहीं करते, उनका वंश नष्ट होगा और वे कई प्रकार के दोषों के भागी भी होंगे ॥ ४ ॥

नॆडुनीर् मऱवि मडिदुयिल् नान्गुम्
कॆडुनीरार् कामक् कलन् ॥ ५ ॥

दीर्घसूत्रतर्घ[1], विस्मृति[2], निद्रा, आलस—ये नौकाएँ चार,
मौज प्रमादी को देतीं, पहुँचातीं जहाँ निपट संहार ॥ ५ ॥

आलस्य, कार्य में विलम्ब करने की प्रवृत्ति, विस्मृति और निद्रा, ये चारों किसी अभागे की वे नौकाएँ हैं जो उसे विनाश के पथ पर ले जाती हैं। [कलन् = नौका] ॥ ५ ॥

पडियुडैयार् पट्ऱमैन्दक् कण्णुम् मडियुडैयार्
माण्बयन् ऍय्दल् अरिदु ॥ ६ ॥

अखिल विश्व की सकल सम्पदा पर भी हुआ अगर अधिकार;
एक मात्र आलस्य-हेतु-वश, सारी संपति है बेकार ॥ ६ ॥

चाहे कोई व्यक्ति सारी धरती की संपत्ति का अधिकारी क्यों न हो; फिर भी यदि वह व्यक्ति आलसी हो तो उसे उस संपत्ति से कोई लाभ नहीं होगा ॥ ६ ॥

इडिबुरिन्दु ऍळ्ळुम्शॊल् केट्पर् मडिबुरिन्दु
माण्ड उञऱ्ऱि लवर् ॥ ७ ॥

वशीभूत आलस के होकर करते नहीं उचित पुरुषार्थ,
अधःपतित हो निन्दा, झिड़की, घृणा चतुर्दिक् मिलती व्यर्थ ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति आलसी होकर उत्तम कर्म नहीं करते, वे नीच कर्म कर दूसरों की निन्दा के पात्र होते हैं ॥ ७ ॥

---

१ कार्य में देर करने की आदत   २ मादन रहना।

मडिमै कुडिमैक्कण् तङ्गिऩ्दऩ् ऑऩ्ऩार्क्कु
अडिमै पुहत्ति विडुम् ॥ ८ ॥

यदि आलस्य-प्रमादग्रस्त हो गया भव्य जन या परिवार।
निज रिपुओं का दास्य विवश स्वीकार करेगा वह लाचार ॥ ८ ॥

यदि किसी शासक की प्रवृत्ति आलस्ययुक्त हो तो वह अपने वैरियों का दास्य स्वीकार कर जीने के लिए बाध्य होगा ॥ ८ ॥

कुडियाण्मै उळ्वन्द कुट्रम् ऑरुवऩ्
मडियाण्मै माट्रक् कॅडुम् ॥ ९ ॥

अकर्मण्यता-आलस से छुटकारा पाने का यह अर्थ—
सब दोषों से मुक्त हुआ, परिवार सहित वह हुआ समर्थ ॥ ९ ॥

यदि शासक अपने आलस्य का परित्याग कर दे, तो उसके वंश और शासन में व्याप्त समस्त दोष दूर हो जाएँगे ॥ ९ ॥

मडियिला मऩ्ऩवऩ् ऎय्दुम् अडियळन्दाऩ्
ताअय दॆल्लाम् ऑरुङ्गु ॥ १० ॥

आलस-मुक्त नृपति के शासन का अविलम्ब विश्व-विस्तार—
वामन प्रभु ने तीन पैग में जितना नाप लिया संसार ॥ १० ॥

आलस्य-मुक्त शासक को एक-साथ वह सारी धरती प्राप्त होगी जिसे भगवान् ने [वामनावतार लेकर] अपने पाद से नाप लिया था ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ६२

आळ्विऩैयुडैमै (कर्मठता)

अरुमैयुडैत्तॆऩ्ऱु अशावामै वेण्डुम्
पॆरुमै मुयर्चि तरुम् ॥ १ ॥

'है असाध्य', यह समझ न तजना काम, न होना कभी निराश।
जुटो कर्म में, कर्मशील को देता रहता 'कर्म' प्रकाश ॥ १ ॥

यह कहकर कोई कर्म करने से पीछे नहीं हटना चाहिए कि यह असम्भव है। क्योंकि अध्यवसाय से वह कर्म करने की क्षमता स्वयमेव प्राप्त होगी। [यर्चि = अध्यवसाय] ॥ १ ॥

विऩैक्कण् विऩैकॅडल् ओम्बल् विऩैक्कुऱै
तीर्न्दारिऩ् तीर्न्दऩ् ऱुलहु ।। २ ।।

काम शुरू कर, थकन-निराशा से न त्यागना कभी अपूर्ण ।
छोड़ भागते जो अधबिच में, उन्हें त्यागता जग सम्पूर्ण ।। २ ।।

किसी भी कार्य को बीच में छोड़ देना नहीं चाहिए; क्योंकि जो व्यक्ति समाप्त किये बिना किसी कार्य को छोड़ देता है उसे संसार छोड़ देगा [अर्थात् संसार उसका साथ नहीं देगा] ।। २ ।।

ताळाण्मै ऍऩ्ऩुम् तहैमैक्कण् तङ्गिट्ऱे
वेळाण्मै ऍऩ्ऩुम् शॅरुक्कु ।। ३ ।।

कर्मशील अध्यवसायी होता है सकल गुणों का सार ।
कर्मठता के बल पर ही सम्भव है करना पर-उपकार ।। ३ ।।

अध्यवसाय कहलानेवाले उत्तम गुण से ही परोपकार का महत्तत्व करगत होता है । [अध्यवसायी ही परोपकार कर सकता है ।] ।। ३ ।।

ताळाण्मै यिल्लादाऩ् वेळाण्मै पेडिकै
वाळाण्मै पोलक्कॅडुम् ।। ४ ।।

यथा नपुंसक के कर में है देना वृथा खड्ग-तलवार ।
अकर्मण्य से उसी भाँति संभव न कभी है पर-उपकार ।। ४ ।।

जो व्यक्ति अध्यवसायी नहीं है उसकी परोपकार करने की वृत्ति उसी प्रकार निष्फल सिद्ध होगी जिस प्रकार किसी कायर व्यक्ति के हाथ की तलवार निष्प्रयोजन होती है ।। ४ ।।

इऩ्बम् विऴैयाऩ् विऩैविऴैवाऩ् तऩ्केळिर्
तुऩ्बम् तुडैत्तूऩ्ऱुम् तूण् ।। ५ ।।

केवल कर्म-पूर्ति में ही सुख, अन्य सुखों का जिसे न ध्यान ।
बन्धु-बान्धवों का दुखहर्ता दृढ़स्तम्भ अवलम्ब समान ।। ५ ।।

जो व्यक्ति अपने सुख का विचार किये बिना कर्म की पूर्ति पर ही ध्यान देता है वह अपने बन्धुओं का दुःख दूर करेगा और खंभे की भाँति उनका सहारा सिद्ध होगा ।। ५ ।।

मुयऱ्चि तिरुविऩै आक्कुम् मुयट्ऱिऩ्मै
इऩ्मै पुहुत्तिविडुम् ।। ६ ।।

सतत प्रयत्न-परिश्रम से दिन-दिन उन्नत होता सौभाग्य ।
अकर्मण्य के जीवन में छाया रहता अभाव, दुर्भाग्य ।। ६ ।।

अध्यवसाय से सम्पत्ति की वृद्धि होगी; अन्यथा अभाव की स्थिति उत्पन्न होगी। [इऩ्मै = अभाव, ग़रीबी] ॥ ६ ॥

मडियुळाळ् मामुहडि ऍऩ्ब मडियिलाऩ्
ताळुळाळ् तामरैयिऩाळ् ॥ ७ ॥

निरुद्यमी[1] के आलस में प्रतिमा-दरिद्र[2] का सदा निवास।
कमला[3] का आवास, जहाँ उद्यम का जगमग नित्य प्रकाश ॥ ७ ॥

विद्वानों का कहना है कि आलस्य में बदकिस्मती का आवास रहता है और आलस्यरहित व्यक्ति के अध्यवसाय में कमलवासिनी लक्ष्मी वास करती है। [परिश्रमी व्यक्ति श्री का अधिकारी होगा और आलसी व्यक्ति दुर्भाग्य का शिकार होगा।] ॥ ७ ॥

पॊऱियिऩ्मै यार्क्कुम् पळियऩ्ऱु अऱिवऱिन्दु
आळ्विऩै इऩ्मै पळि ॥ ८ ॥

कर्तव्यों का ज्ञान न रखना, श्रम से बचना, है अपमान।
भाग्य अगर विपरीत, न इससे विक्षत[4] होता है सम्मान ॥ ८ ॥

अनुकूल भाग्य का न होना किसी के लिए अपमानजनक नहीं है। किन्तु उचित ज्ञान के साथ परिश्रम न करना ही अपमानजनक होगा। ['ज्ञान' से यहाँ कार्य की उचित जानकारी का अर्थ लिया जाता है।]॥८॥

दॆय्वत्ताऩ् आहादॆऩिऩुम् मुयऱ्चि तऩ्
मॆय्वरुत्तक् कूलि तरुम् ॥ ९ ॥

कर्मशील के कर्मों का फल सुलभ न होने दे दुर्दैव!
फिर भी कर्मी के श्रम के फल में निश्चित उत्कर्ष[5] सदैव ॥ ९ ॥

चाहे भाग्य कर्म का फल प्रदान न करे, फिर भी अध्यवसाय शारीरिक श्रम का फल प्रदान करेगा ही। [अध्यवसाय कदापि निष्फल नहीं होगा। श्रमशील में निरंतर उत्साह और तेज की वृद्धि होती है; एक दिन भाग्य भी साथ देता है।] ॥ ९ ॥

ऊऴैयुम् उप्पक्कम् काण्बर् उलैविऩ्ऱित्
ताऴा तुञऱ्ऱु पवर् ॥ १० ॥

अथक निरंतर श्रमसेवी से, हार मानता है दुर्भाग्य।
कर्मठ के श्रम से असाध्य भी क्रमशः हो जाता है साध्य ॥ १० ॥

जो व्यक्ति निरन्तर अथक परिश्रम करते हैं उनके पास प्रतिकूल नियति

१ अकर्मण्य २ दरिद्रता की मूर्ति ३ लक्ष्मी ४ घायल ५ उन्नति।

की पहुँच नहीं होती। उन्हें देखकर वह पीठ दिखाकर भाग जाती है। [उञट्रु पवर् = अध्यवसायी, परिश्रमी] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ६३

इडुक्कणळियामै (बाधाओं में अविचलित रहना)

इडुक्कण् वरुङ्काल् नहुह अदन्नै
अडुत्तूर्व दःदॊप्प दिल् ॥ १ ॥

रहो प्रफुल्ल सदा संकट में, उचित न, मन को करो उदास।
संकट सदा क्षणिक हैं; उन पर जय पाना अनुपम उल्लास ॥ १ ॥

जब कठिनाई उपस्थित होती है तब आप उल्लास का अनुभव कीजिए। क्योंकि उस कठिनाई पर विजय पाने से होनेवाले आनन्द से से बढ़कर कोई दूसरा आनन्द नहीं होता ॥ १ ॥

वॆळ्ळत्तन्नैय इडुम्बै अऱिवुडैयान्
उळ्ळत्तिन् उळ्ळक् कॆडुम् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् पर बाढ़ उमड़ती दुःखों की जब-जब प्रतिकूल।
साहस-धैर्य-विवेक-शक्ति से वह करता उनको निर्मूल ॥ २ ॥

जब अपार बाढ़ जैसा कोई दुःख उपस्थित होता है तब यदि बुद्धिमान् व्यक्ति उसपर अपनी बुद्धि से विचार करे तो वह दूर होगा। [अर्थात वह अपनी बौद्धिक क्षमता से उस दुःख पर विजय प्राप्त करेगा।] ॥ २ ॥

इडुम्बैक् किडुम्बै पडुप्पर् इडुम्बैक्कु
इडुम्बै पडाअ दवर् ॥ ३ ॥

विपत्तियों में अविचल रहकर नहीं मानता उर में क्लेश।
उस साहसी धीर के सम्मुख क्लेश हार कर होते शेष ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति कठिनाइयों में अविचलित रहता है उससे कठिनाइयाँ स्वयं विचलित हो जाएँगी। [अर्थात् जो व्यक्ति कठिनाइयों से भयभीत नहीं होता उससे कठिनाइयाँ कोसों दूर भाग जाएँगी।] ॥ ३ ॥

मडुत्तवायेल्लाम् पहडन्नात् उट्ऱ
इडुक्कण् इडर्प्पाडु उडैत्तु ॥ ४ ॥

वृषभ-तुल्य[1] दुर्गम-पथ से गाड़ी को खींच लगाता पार।
सहनशील उस धीर पुरुष से संकट स्वयं मानते हार ॥ ४ ॥

विषम पथ से गाड़ी को खींच ले जानेवाले बैल की तरह जो व्यक्ति कठिनाइयों के बीच से कर्म करता है उसके मार्ग में आनेवाली कठिनाइयाँ स्वयं विचलित हो जाएँगी ॥ ४ ॥

अडुक्कि वरिऩुम् अऴिविलाऩ् उट्ऱ
इडुक्कण् इडुक्कट् पडुम् ॥ ५ ॥

धीरवंत पर चौतरफ़ा से उमड़ें दुख पर दुःख अनन्त।
अविचल से, दुख स्वयं हार कर अपना शीघ्र बुलाते अन्त ॥ ५ ॥

भले ही निरन्तर नाना प्रकार की बाधाएँ उपस्थित क्यों न हों; फिर भी यदि कोई व्यक्ति उनमें भी चंचल नहीं हो तो बाधाएँ स्वयं लज्जित होंगी ॥ ५ ॥

अट्ऱेमॆऩ् ऱल्लऱ् पडुपवो पॆट्ऱेमॆऩ्
ऱोम्बुदल् तेट्ऱादवर् ॥ ६ ॥

गर्व नहीं सम्पन्न दशा में, दुखी नहीं जब हुए विपन्न।
अविचल की मति सदा शान्त है, कभी न प्रमुदित, कभी न खिन्न ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति संपन्नता के समय उपलब्धि पर गर्व नहीं करते, क्या वे अभाव के समय मन मसोसेंगे ? [नहीं] ॥ ६ ॥

इलक्कम् उडम्बिडुम्बैक् कॆऩ्ऱु कलक्कत्तैक्
कैयाऱाक् कॊळ्ळादाम् मेल् ॥ ७ ॥

मानव-तन है दुःख-हेतु—मतिमानों को इसका है ज्ञान।
इसी लिए दुःखों-क्लेशों का मन में कभी न लाते ध्यान ॥ ७ ॥

महान् व्यक्ति कठिनाइयों को बदकिस्मती नहीं समझते; क्योंकि वे जानते हैं कि इस शरीर का गुण कठिनाइयों का शिकार होना है ॥ ७ ॥

इऩ्बम् विऴैयाऩ् इडुम्बै इयल्बॆऩ्बाऩ्
तुऩ्बम् उऱुदल् इलऩ् ॥ ८ ॥

सुख की उर में नहीं लालसा, दुख है सहज जगत्-व्यापार।
ऐसे मतिमानों पर दुःखों-क्लेशों के निष्फल हैं वार[2] ॥ ८ ॥

जो व्यक्ति सुख की कामना नहीं करता, प्रत्युत यह स्वीकार करता है कि दुःख स्वाभाविक है, उसे कभी दुःख का अनुभव नहीं होता ॥ ८ ॥

---

१ बैल के समान २ चोटें, प्रहार।

इऩ्बत्तुळ् इऩ्बम् विऴैयादाऩ् तुऩ्बत्तुळ्
तुऩ्बम् उऱुदल् इलऩ् ।। ९ ।।

सुख के समय न मुग्ध हुआ जो, सुख में हुआ न जो तल्लीन,
दुःख-भ्रमर में ग्रस्त, किन्तु वह अचल सदा है दुःखविहीन ।। ९ ।।

जो व्यक्ति सुख के समय सुख में मुग्ध नहीं होता, वह दुख के समय विकल नहीं होता ।। ९ ।।

इऩ्ऩामै इऩ्बम् ऎऩक्कॊळिऩ् आहुम् तऩ्
ऒऩ्ऩार् विऴैयुम् शिऱप्पु ।। १० ।।

संकट में न विषाद, दुःख में भी जो रहते सदा प्रसन्न।
उनकी इस गरिमा को रिपु भी देख-देख होते अवसन्न[1] ।। १० ।।

जो व्यक्ति कठिनाइयों में भी सुख का अनुभव करता है उसकी महत्ता का समादर उसके शत्रु भी करेंगे ।। १० ।।

शासन-नीति-विवेचन

अदिहारम् (अध्याय) ६४

अमैच्चु (मंत्री-लक्षण)

करुवियुम् कालमुम् शॆय्हैयुम् शॆय्युम्
अरुविऩैयुम् माण्ड दमैच्चु ।। १ ।।

कौन काम, किस समय, कौन विधि, समुचित साधन का उपचार[2]—
इनमें कुशल-समर्थ, मंत्रिपद हेतु योग्य है सर्व प्रकार ।। १ ।।

मंत्री वह होता है जो कोई विशेष कार्य करते समय उसके लिए आवश्यक साधनों का पता लगाने, समय का चयन करने, विधिवत् कार्य करने और उसका निर्धारण करने की क्षमता रखता है ।। १ ।।

वऩ्कण् कुडिकात्तल् कट्ऱिदल् आळ्विऩैयो
डैन्दुडऩ् माण्ड दमैच्चु ।। २ ।।

दृढ़निश्चयी, प्रजाप्रतिपालक, धर्म-नीति का समुचित ज्ञान,
कुशल, सदाश्रमशील—पाँच ये श्रेष्ठ सचिव की हैं पहिचान ।। २ ।।

कार्य करते समय अविचलित रहना, प्रजा का पालन करना, नीति

---

१ खिन्न २ उपाय ।

ग्रन्थों का अध्ययन कर कर्तव्य और अकर्तव्य को जानना, प्रयासशील रहना—ये पाँचों तत्व मंत्री के लक्षण हैं ॥ २ ॥

पिरित्तलुम् पेणिक्कोळ्ळलुम् पिरिन्दार्प्
पोरुत्तलुम् वल्ल दमैच्चु ॥ ३ ॥

भेद नीति से रिपु-असंगठित, बिछुड़े अपनों से सम्बन्ध,
मित्र संगठित मृदुबन्धन में, यही मंत्रि का कुशल प्रबंध ॥ ३ ॥

वही योग्य मंत्री होता है जो शत्रुओं के सहयोगियों को उनसे अलग कर पाता है, अपने मित्रों को मधुर व्यवहार से अपने से अलग नहीं होने देता और जो शत्रु हो गये हैं उन्हें फिर से मित्र बना लेता है ॥ ३ ॥

तेरिदलुम् तेर्न्दु शेयलुम् ओरुतलैयाच्
चोल्ललुम् वल्लदमैच्चु ॥ ४ ॥

सही विचार-विमर्श, सुनिर्णय, देता है दृढ़-अटल सलाह
सफल कार्य-सञ्चालक—ऐसे कुशल सचिव से है निर्वाह ॥ ४ ॥

वही मंत्री होता है जो किसी कार्य के समूचे स्वरूप को पहचानता है, सर्वोत्तम रूप से उस कार्य को करता है और साहसपूर्वक यह परामर्श देता है कि यह कार्य करणीय है ॥ ४ ॥

अऱऩ्ऱिऩ् ताऩ्ऱमैन्द शोल्लाऩ् ऎञ्ञाऩ्ऱुम्
तिऱऩ्ऱिन्दाऩ् तेर्च्चित् तुणै ॥ ५ ॥

धर्माधर्म-विवेक सदाशय जिसकी वाणी में है सार
कर्म-कुशल है, वही मंत्रिपद-हेतु युक्त है सर्वप्रकार ॥ ५ ॥

उत्तम मंत्री यह जानता है कि शासक का धर्म क्या है; वह शांत रहकर अपरे विचारों को दृढ़तापूर्वक प्रकट करता है और वह सर्वदा धर्म-पालन की उचित जानकारी रखता है ॥ ५ ॥

मदिनुट्पम् नूलो डुडैयार्क् कदिनुट्पम्
यावुळ मुऩ्निऱ् पवै ॥ ६ ॥

प्रखर विचक्षण[1] बुद्धि, साथ में विविध शास्त्रों का है ज्ञान,
ऐसे मंत्री को न जटिल कुछ जग में, सबकुछ है आसान ॥ ६ ॥

स्वभावत: तीक्ष्ण बुद्धि और विद्या-ज्ञान से युक्त मंत्री के लिए कौन-सा ऐसा कार्य है जो कठिन है ? ॥ ६ ॥

---

१ कुशाग्र, तीक्ष्ण

शॅयर्कै अऱिन्दक् कडैत्तुम् उलुहत्
तियर्कै अऱिन्दु शॅयल् ।। ७ ।।

विधि-निषेध का ज्ञान भले ही सकल शास्त्रों पर अधिकार,
है ज्ञातव्य, सफल होने को, समसामयिक-लोकव्यवहार ।। ७ ।।

भले ही कोई मंत्री कार्य करने की रीतियों का जानकार क्यों न हो; फिर भी उसे चाहिए कि विश्व की सामयिक परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त कर तदनुसार कार्य करे ।। ७ ।।

अऱि कॉन्ऱऱियान् ऍनिनुम् उऱुदि
उऴैयिरुन्दान् कूऱल् कडन् ।। ८ ।।

शासक बुद्धिविहीन, भले ही सचिव-सीख पर धरे न ध्यान
किन्तु सचिव का धर्म—न हिचके, देता रहे सामयिक ज्ञान ।। ८ ।।

यद्यपि रक्षक शासक बुद्धिहीन हो और मंत्री के परामर्श को भी ठुकरा दे फिर भी मंत्री का धर्म है कि वह सुनिश्चित और सही परामर्श दे ।। ८ ।।

पऴुदॅण्णुम् मन्दिरियिन् पक्कत्तुळ् तॅव्वोर्
ऍऴुपदु कोडि युऱुम् ।। ९ ।।

सचिव कुचक्री, जो नृप के विपरीत बिछाता रहता शूल
कोटि-कोटि रिपुओं से बढ़ कर वह मंत्री विनाश का मूल ।। ९ ।।

शासक का विनाश चाहनेवाले मंत्री के बजाय शासन के लिए सत्तर करोड़ शत्रुओं का होना कहीं अच्छा है ।। ९ ।।

मुऱैप्पडच् चूऴ्न्दुम् मुडिविलवे शॅय्वर्
तिऱप्पा डिलाअ दवर् ।। १० ।।

जोड़-तोड़ योजना खूब है, किन्तु न उनका सविधि प्रयोग,
कार्य-कुशल यदि नहीं, मंत्रणा का बोलो फिर क्या उपयोग ।। १० ।।

जो मंत्री कार्य समाप्त करने की क्षमता नहीं रखते वे कार्य की उचित योजना तैयार करने के बावजूद उसे कार्यान्वित करते समय विफल ही होंगे ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ६५
शॉल्वन्मै (वाक्पटुता)

नानलम् ऍन्नुम् नलनुडैमै अन्नलम्
यानलत्तुळ्ळदूउम् अन्ऱु ।। १ ।।

कुशल वाग्मी[1] वचनों के प्रतिपादन[2] में यदि हुआ समर्थ—
सकल गुणों से पृथक्, एक यह गुण विशेष रखता है अर्थ[3] ॥ १ ॥

वचन-कौशल की विशेषता से युक्त होना, मंत्री का लक्षण है। यह विशेषता अन्य सभी विशेषताओं से पृथक् है। [यह सर्वथा भिन्न है।] ॥ १ ॥

आक्कमुम् केडुम् अदऩाल् वरुदलाल्
कात्तोम्बल् शॊल्लिऩ्कट् चोर्वु ॥ २ ॥

वाणी से सम्भव अनर्थ[4] है, वाणी से सम्भव है अर्थ[5];
अतः सावधानी से बोलें, कभी न निकले वाणी व्यर्थ ॥ २ ॥

शब्दों से शासक की श्रीवृद्धि भी हो सकती है और विनाश भी। अतः मंत्री को चाहिए कि शब्दों के प्रयोग में वह अनौचित्य को न आने दे ॥ २ ॥

केट्टार्प् पिणिक्कुम् तहैयवाय्क् केळारुम्
वेट्प मॊऴिवदाम् शॊल् ॥ ३ ॥

वाणी वही कि उन्मुख[6] श्रोताओं पर डाले उचित प्रभाव,
यही नहीं, विमुखों[7] में भी उपजाये जो सुनने का चाव[8] ॥ ३ ॥

मंत्री की वाणी ऐसी हो कि उससे मित्र संग रह सकें और शत्रु भी शत्रुता भूलकर मित्र बन सकें ॥ ३ ॥

तिऱऩऱिन्दु शॊल्लुह शॊल्लै अऱऩुम्
पॊरुळुम् अदऩिऩूउङ् गिल् ॥ ४ ॥

श्रोता की योग्यता समझकर, समुचित वाणी करो प्रयोग—
यही वाक्चातुर्य, न गुण-संपत्ति का अधिक जगत् में योग ॥ ४ ॥

मंत्री को चाहिए कि वह श्रोता की योग्यता को समझकर बोले। इससे बढ़कर कोई गुण या धन नहीं है ॥ ४ ॥

शॊल्लुह शॊल्लैप् पिऱिदोर्शॊ लच्चॊल्लै
वॆल्लुञ्जॊल् इऩ्मै अऱिन्दु ॥ ५ ॥

कथन अकाट्य, तर्क-खण्डन की विरोधियों को मिले न राह,
दृढ़विश्वास-वाक्पटुता का तभी सफल है वाक्-प्रवाह[9] ॥ ५ ॥

यह जानने के वाद कि किसी दूसरे के पास हमारे शब्दों का खंडन

---

१ बोलने में दक्ष २ कथन को पुष्ट करना ३ महत्व ४ बुरा ५ भला ६ ध्यान देनेवाले ७ विरोधी, कान न देनेवाले ८ रुचि ९ वक्तृता का प्रथरह।

करने योग्य शब्द नहीं है, मंत्री को बोलना चाहिए। [अर्थात् मंत्री को जब अपने विचारों पर इतना विश्वास हो कि कोई दूसरा उनका खंडन नहीं कर सकता तभी उसे अपने विचारों को प्रकट करना चाहिए।]॥ ५ ॥

वेट्पत्ताम् शॊल्लिप् पिऱर्शॊऱ् पयन्कोडल्
माट्चियिन् माशट्ऱार् कोळ् ॥ ६ ॥

निज वाणी की मधुर व्यञ्जना[1] हर लेती श्रोता का ध्यान,
सहज समझ ले भाव दूसरों के—वह सचमुच वाक्-सुजान ॥ ६ ॥

जो मंत्री अपने धर्म के पूर्ण ज्ञाता होते हैं वे इस प्रकार बोलते हैं कि श्रोता उनसे और सुनना चाहें और साथ ही, वे दूसरों की बातों का सार भी ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥

शॊलल्वल्लन् शोर्विलन् अञ्जान् अवनै
इहल्वॆल्लल् यार्क्कुम् अरिदु ॥ ७ ॥

मौक़े पर अचूक, निर्भय-मन, युक्ति-पूर्ण है वाक्प्रहार;
विरोधियों में उस वाणीपुंगव[2] की कभी न होती हार ॥ ७ ॥

जो मंत्री अपने विचारों को उचित ढंग से प्रकट कर सकता है, उन्हें प्रकट करने में आलस्य या विस्मरण नहीं करता और न ही उससे डरता है; उसे अपनी चतुराई से कोई जीत नहीं सकता ॥ ७ ॥

विरैन्दु तॊऴिल्केट्कुम् ञालम् निरन्दिनिदु
शॊल्लुदल् वल्लार्प् पॆऱिन् ॥ ८ ॥

कुशल नीति से, मधु वचनों में, जो महत्व का करे बखान,
उसके मोहक कथनों को सिर-आँखों लेता सहज जहान ॥ ८ ॥

जो मंत्री महत्वपूर्ण बातों को नियमित रूप से और आकर्षक ढंग से बताता है उसकी उन बातों को यह संसार स्वीकार करता है ॥ ८ ॥

पलशॊल्लक् कामुऱुवर् मन्ऱमा शट्ऱ
शिलशॊल्लल् तेट्ऱादवर् ॥ ९ ॥

साफ़-साफ़, थोड़े शब्दों में रख सकते जो नहीं विचार,
घुमा-फिरा कर निज बातों में वृथा वही देते विस्तार ॥ ९ ॥

जो मंत्री संक्षेप में स्पष्ट रूप से अपनी बात कहने की क्षमता नहीं रखते वे कई शब्दों से घुमा-फिराकर बोलना पसंद करेंगे ॥ ९ ॥

---

१ विचार व्यक्त करने की शक्ति २ श्रेष्ठ वक्ता ।

इणरूऴ्त्तुम् नाऱा मलरनैयर् कट्र
दुणर विरित्तुरैया दार् ।। १० ।।

समझा सकते नहीं, न प्रतिवादित कर सकते अपना ज्ञान;
वृथा ज्ञान है, खिले हैं वृथा सुमनगुच्छ-निर्गन्ध[1] समान ।। १० ।।

जो व्यक्ति अपने अर्जित ज्ञान को दूसरों को स्पष्ट रूप से नहीं बता पाते वे उस पुष्प के समान हैं जो गुच्छ के रूप में खिलने के बावजूद सौरभ-विहीन रहता है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ६६

विनैत्तूय्मै (कर्म-पवित्रता)

तुणैनलम् आक्कम् तरूउम् विनैनलम्
वेण्डिय ऍल्लाम् तरुम् ।। १ ।।

सहायता अनुकूल भले ही हमको दे सम्पत्ति महान्;
अपने पावन कर्म किन्तु, जो चाहें, करते सकल प्रदान ।। १ ।।

अच्छी सहायता केवल संपत्ति प्रदान करेगी। किन्तु उत्तम कर्म अपेक्षित सभी कुछ प्रदान करेगा ।। १ ।।

ऍन्ड्रुम् ऑरुवुदल् वेण्डुम् पुहऴॊडु
नन्ड्रि पयवा विनै ।। २ ।।

लाभ नहीं, यश नहीं, न हित है, ऐसे सदा वृथा हैं कर्म;
अकरणीय हैं, उन्हें त्याग देना है समुचित पावन धर्म ।। २ ।।

जो कर्म शासक को न तो यश प्रदान करेगा और न ही उसका हित करेगा उस कर्म को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए ।। २ ।।

ओऑदल् वेण्डुम् ऑळि माऴ्हुम् शॆय्विनै
आअदुम् ऍन्नुम् अवर् ।। ३ ।।

विमल कीर्ति के जो भूखे हैं, जिनको प्रिय है धवल[2] भविष्य,
कभी आचरण पर न कालिमा[3] आये, उनका शुचि[4] कर्तव्य ।। ३ ।।

जो महान् बनना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे ऐसे कर्म न करें जिनसे उनकी कीर्ति पर धब्बा लगे ।। ३ ।।

---

१ गन्धहीन फूलों का गुच्छा २ उज्वल ३ कालिख, धब्बा ४ पवित्र ।

इडुक्कट्पडिऩुम् इळिवन्द शॆय्यार्
नडुक्कट्ऱ काट्चि यवर् ॥ ४ ॥

विमल बुद्धि पर सदा अटल हैं, मिला जिन्हें है शुद्ध विवेक,
पतित कर्म पर कभी न उतरें, उन पर संकट भले अनेक ॥ ४ ॥

जो लोग बिना विचलित हुए सभी परिस्थितियों को स्पष्ट रूप से समझते हैं वे स्वयं कठिनाइयों के शिकार होने के बावजूद नीच कर्म नहीं करेंगे ॥ ४ ॥

ऍट्ऱॆऩ् ऱिरङ्गुव शॆय्यऱ्क शॆय्वाऩेल्
मट्ऱन्ऩ् शॆय्यामै नऩ्ऱु ॥ ५ ॥

करो न ऐसे काम कभी, पछताना जिनका हो अंजाम[1]
किया अगर तो ग्लानि त्याग, दुहराना कभी न वैसा काम ॥ ५ ॥

कोई मंत्री ऐसा कार्य न करे जिससे उसे पछताकर यह कहना पड़े कि मैंने यह क्या कर दिया है। यदि भ्रमवश वह ऐसा कार्य कर भी दे तो अच्छा यह होगा कि वह उस पर दुख न करे ॥ ५ ॥

ईऩ्ऱाळ् पशिकाण्बाऩ् आयिऩुम् शॆय्यऱ्क
शाऩ्ऱोर् पळिक्कुम् विऩै ॥ ६ ॥

जननी विकल क्षुधा से ! फिर भी अविचल रहे तुम्हारा ध्यान
करो न गर्हित[2] कर्म ! कि निन्दा करें तुम्हारी व्यक्ति-महान् ॥ ६ ॥

भले ही कोई अपनी जननी को भूखी देखे; फिर भी ऐसा कार्य नहीं किया जाना चाहिए जिसकी महान् लोग निन्दा करेंगे ॥ ६ ॥

पळिमलैन् दॆय्दिय आक्कत्तिऩ् शाऩ्ऱोर्
कळिनल् कुरवे तलै ॥ ७ ॥

नीच कमाई, नीच वृत्ति से अर्जित धन का कहीं न मूल्य;
निर्धन किन्तु सदाचारी का सुयश जगत् में कहीं अमूल्य ॥ ७ ॥

नीच कर्मों से अपयश का पात्र होकर जो संपत्ति प्राप्त की जाती है उससे विशुद्ध जीवन चलानेवालों की निर्धनता कहीं अच्छी है ॥ ७ ॥

कडिन्द कडिन्दॊरार् शॆय्दार्क् कवैदाम्
मुडिन्दालुम् पीळै तरुम् ॥ ८ ॥

बच न सके निन्दित कर्मों से, सत्पथ त्याग हुए पथभ्रष्ट,
क्षणिक सफलता मिलने पर भी निश्चित तुम्हें अन्त में कष्ट ॥ ८ ॥

---

१ अन्तिक परिणाम २ निन्दित, बुरा।

महान् लोगों ने जो कार्य करने से मना किया है उससे जो लोग बच नहीं पाते, प्रत्युत वैसा कार्य करते हैं, वे सफल नहीं होंगे। यदि वे सफल हो भी जाएँ तो भी उससे उन्हें दुख ही होगा। [पीऴै = दुख] ॥ ८ ॥

अऴक्कॊण्ड ऎल्लाम् अऴप्पोम् इऴप्पिऩुम्
पिऱ्पयक्कुम् नऱ्पा लवै ॥ ९ ॥

दुख देकर यदि लाभ कमाया, निश्चित सदा अन्त में दुःख;
सत्पथ में सब गवाँ दिया, फिर भी भविष्य में निश्चित सुक्ख ॥ ९ ॥

दूसरों को रुलाकर नीच कार्यों से जो भी उपलब्ध किया जाय उससे बाद में हाथ धोकर स्वयं रोना होगा। अच्छे कर्म करने से भले ही सब कुछ शुरू में नष्ट हो जाय, फिर भी बाद में सत्परिणाम ही निकलेंगे ॥ ९ ॥

शलत्ताऱ् पॊरुळ् शॆय्दू मार्त्तल् पशुमट्
कलत्तुळ् नीर् पॆय्दिरीइ यट्रु ॥ १० ॥

अपकर्मों[1] से प्राप्त शक्ति से, 'मैं सशक्त हूँ!'—ऐसा भान[2],
'मिट्टी के घट में जल सञ्चित' के समान व्यर्थ गुमान[3] ॥ १० ॥

यदि मंत्री छल-कपट से धन-वैभव प्राप्त कर शासक को धोखे में रखे तो वह कच्ची मिट्टी के घड़े में पानी को सुरक्षित रखने के बराबर होगा। [अर्थात् कच्ची मिट्टी के घड़े में पानी रखने से पानी सुरक्षित नहीं रह सकेगा और घड़े की भी सुरक्षा नहीं होगी। उसी प्रकार छल-कपट से प्राप्त धन-वैभव स्वयं भी नष्ट होगा और शासक को भी नष्ट करेगा।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ६७

विनैत्तिट्पम् (कर्म-क्षमता)

विऩैत्तिट्पम् ऎऩ्ब दॊरुवऩ् मऩत्तिट्पम्
मट्रैय ऎल्लाम् पिऱ ॥ १ ॥

कार्य-दक्षता[4] सुलभ व्यक्ति में, जिसमें सुलभ कार्य-संकल्प;
अन्य सकल क्षमताओं में इस क्षमता का है नहीं विकल्प[5] ॥ १ ॥

---

१ बुरे कर्मों   २ प्रतीति, मालूम पड़ता है   ३ अनुमान   ४ कार्य-कुशलता
५ तुलना में अन्य कोई योग्यता नहीं।

कर्म करने की दृढ़ता किसी की मानसिक दृढ़ता होती है। अन्य सभी योग्यताएँ इससे भिन्न होती हैं ॥ १ ॥

ऊऱॊराल् उट्ऱपिऩ् ऒल्हामै इव्विरण्डिऩ्
आऱॆऩ्बर् आय्न्दवर् कोळ् ॥ २ ॥

रहकर विमुख असाध्य कर्म से, साध्य कर्म में अविचल भाव—
मतिमानों का कथन—यही दो कर्मनिष्ठ के प्रमुख स्वभाव ॥ २ ॥

विद्वानों का कहना है कि विफल होनेवाले कर्म न करना और कर्म के विफल हो जाने पर विचलित न होना—ये दोनों बुद्धिमान् के लक्षण हैं ॥ २ ॥

कडैक्कॊट्कच् चॆय्दक्क दाण्मै इडैक्कॊट्किऩ्
ऎट्ऱा विऴुमम् तरुम् ॥ ३ ॥

कार्य सफल होने से पहले, करो योजना का न प्रकाश;
'भेद बीच में प्रकट' हानिकर, वृथा हुआ पौरुष का ह्रास ॥ ३ ॥

पौरुष इसी में है कि जो कार्य किया जाय वह केवल अंत में प्रकाश में आये। यदि बीच में ही वह दूसरों को मालूम हो जाय तो उससे अपार कष्ट होगा। [विऴुमम् = कष्ट, दुख] ॥ ३ ॥

शॊल्लुदल् यार्क्कुम् ऎळिय अरियवाम्
शॊल्लिय वण्णम् शॆयल् ॥ ४ ॥

'इस प्रकार, यह कर डालेंगे' कथन—मनोरथ है आसान,
'कहने से करना दुष्कर है', अविचल-मौन-प्रयास[1] महान् ॥ ४ ॥

कहना किसी के लिए भी सरल होता है; किन्तु जिस प्रकार कहा गया उस प्रकार करना कठिन होता है ॥ ४ ॥

वीऱॆय्दि माण्डार् विऩैत्तिट्पम् वेन्दऩ् कण्
ऊऱॆय्दि उळ्ळप् पडुम् ॥ ५ ॥

दृढ़ सतेज कर्मठ मंत्री के प्रति राजा-रय्यत[2] का चाव,
सदा-सफल उस कर्म-कुशल लोकप्रिय का सर्वत्र प्रभाव ॥ ५ ॥

सद्विचारों और उत्तम लक्षणों से युक्त मंत्री की कर्म-निष्ठा से शासक का हित संपन्न होगा; अतः उक्त कर्म-निष्ठा समादृत होगी ॥ ५ ॥

ऎण्णिय ऎण्णियाङ् कॆय्दुप ऎण्णियार्
तिण्णिय राहप् पॆऱिऩ् ॥ ६ ॥

---

१ विना विचलित हुए चुपचाप प्रयत्न २ राजा-प्रजा।

कर्म-शक्ति में प्रबल, लक्ष्य के प्रति जिनमें दृढ़ता का भाव,
किसी कार्य में कभी न निष्फल, कर्मनिष्ठ का सहज स्वभाव ॥ ६ ॥

यदि किसी कार्य का विचार करनेवाला मंत्री उसके लिए आवश्यक निष्ठा से युक्त हो तो वह योजना के अनुसार कार्य में सफल होगा ॥ ६ ॥

ऊरुवुकण् डॆळ्ळामै वेण्डुम् उरुळ् पॆरुन्तेर्क्
कच्चाणि अऩ्ऩार् उडैत्तु ॥ ७ ॥

तुच्छ धुरी के बल पर ज्यों रथ, त्यों कर्मठ की शक्ति अपार
कर्मशील उपहास्य[1] नहीं, यदि है सामान्य रूप-आकार ॥ ७ ॥

इस विश्व में कर्म-निष्ठायुक्त लोग विद्यमान हैं। उनकी निष्ठा रथ के पहिये की कील के समान महत्वपूर्ण होती है। ऐसे लोग भले ही आकार में छोटे हों, फिर भी उनका निरादर नहीं करना चाहिए ॥ ७ ॥

कलङ्गादु कण्ड विऩैक्कण् तुळङ्गादु
तूक्कङ् कडिन्दु शॆयल् ॥ ८ ॥

सोंच-समझ कर, लक्ष्य साध कर, फिर उस पर अविचल आसीन;
सकल शक्ति से यत्नशील जो, वही व्यक्ति है कर्म-प्रवीन ॥ ८ ॥

जब कोई व्यक्ति विशुद्ध मन से किसी कर्म में प्रवृत्त हो तो उसे अविचलित रहकर पूरी शक्ति के साथ वह कर्म करना होगा ॥ ८ ॥

तुऩ्बम् उऱवरिऩुम् शॆय्ह तुणिवाट्ऱि
इऩ्बम् पयक्कुम् विऩै ॥ ९ ॥

कार्यकाल में नाना संकट, तजो न साहस और प्रयास;
अविचल पौरुष के प्रतिफल में उदय अन्ततः[2] हर्ष-प्रकाश ॥ ९ ॥

भले ही कोई कार्य करते समय कठिनाई उपस्थित हो, फिर भी अंत में लाभ प्रदान करनेवाले कार्य को साहस के साथ करना होगा ॥ ९ ॥

ऎऩैत्तिट्पम् ऎय्दियक् कण्णुम् विऩैत्तिट्पम्
वेण्डारै वेण्डा दुलहु ॥ १० ॥

कितना ही सशक्त ! यदि उसमें हुआ न कर्मठता का भाव।
सकल शक्ति बेकार, न उसका कभी समादर, कभी प्रभाव ॥ १० ॥

चाहे कोई व्यक्ति कितना ही सशक्त क्यों न हो; फिर भी यदि वह व्यक्ति कर्म-निष्ठा का आग्रही न हो तो इस विश्व में उसका समादर नहीं होगा ॥ १० ॥

---

१ हँसने योग्य २ कार्य पूरा हो जाने पर।

अदिहारम् (अध्याय) ६८

विन्नैशेयल्वहै (कर्म-प्रणाली)

शूळ्च्चिच मुडिवु तुणिवॆय्दल् अत्तुणिवु
ताळ्च्चियुळ् तङ्गुदल् तीदु ॥ १ ॥

पूर्ण विचार-विमर्श—पहुँचने पर दृढ़ निर्णय के उपरान्त,
तुरत काम में हाथ न देना, यह पहुँचाता दुःख नितान्त ॥ १ ॥

सोच-समझ और सलाह के बाद किसी कार्य का निर्णय किया जाय; किन्तु निर्णय पर पहुँचते ही कार्य में लग जाना चाहिए। अन्यथा विलम्ब करने से कार्य में विफलता होगी ॥ १ ॥

तूङ्गुह तूङ्गिच् चॆयऱ्पाल तूङ्गऱ्क
तूङ्गादु शॆय्युम् विन्नै ॥ २ ॥

घड़ी कर्म की नहीं सामने, तब तक समुचित सोच-विचार ।
मौक़े पर तत्काल कर्म बस, शिथिल न होना किसी प्रकार ॥ २ ॥

जिन कामों में [अथवा युद्ध में] अवसर की प्रतीक्षा आवश्यक है, उनमें प्रतीक्षा अथवा विलम्ब उचित है। किन्तु जहाँ तत्काल कर्म की आवश्यकता है, वहाँ शिथिलता सदैव अनुचित है ॥ २ ॥

ऑल्लुम्वा यॆल्लाम् विन्नै नन्ऱे ऑल्लाक्काल्
शॆल्लुम्वाय् नोक्किच् चॆयल् ॥ ३ ॥

करो विलम्ब न अवसर पाकर, समुचित है तत्काल प्रहार ।
अगर न मौक़ा, रुक कर खोजो अन्य सफलता के आधार ॥ ३ ॥

जहाँ तत्काल चोट करने से काम बनता है, वहाँ अविलम्ब प्रहार करो; अन्यथा प्रहार के बजाय दूसरे साधनों को उपयोग में लाओ ॥ ३ ॥

विन्नैपहै ऍन्ऱिरण्डिन् ऍच्चम् निन्नैयुङ्गाल्
तीयॆच्चम् पोलत् तॆऱुम् ॥ ४ ॥

आग अधबुझी पुनः सुलग कर ग़ाफ़िल[1] का करती संहार ।
[विष की जड़] अधमरा शत्रु भी भय का कारण उसी प्रकार ॥ ४ ॥

शत्रु के नाश और किसी कर्म-अभियान को अधूरा छोड़ देना अधबुझी आग की तरह है [जो अवसर पाकर कभी भी प्रचण्ड होकर विनाश कर सकती है।] ॥ ४ ॥

---

१ असावधान, प्रमादी।

पॊरुळ्करुवि कालम् विऩैइडऩो डैन्दुम्
इरुळ्तीर ऎण्णिच् चॆयल् ॥ ५ ॥

धन, साधन, औ' शक्ति, समय या देश[1]—सभी पर पूर्ण विचार—
कब-कितना माफ़िक़ है अपने?—तभी शत्रु पर करो प्रहार ॥ ५ ॥

किसी कर्म से पहले पाँच बातों को पूरी तौर पर तौल-नाप कर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है— धन, अन्य साधन, समय (अवसर), कर्म-प्रणाली और स्थान, अपने और शत्रु के ये पाँचों तत्व कितने अनुकूल अथवा प्रतिकूल हैं —सोच लो ॥ ५ ॥

मुडिवुम् इडैयूरुम् मुट्ऱियाङ् गॆय्दुम्
पडुपयऩुम् पार्त्तुच् चॆयल् ॥ ६ ॥

जोखिम-लाभ; बीच की बाधा; कितना श्रम, कितना परिणाम ?
इन सबका संतुलन समझ कर, उचित हाथ में लेना काम ॥ ६ ॥

कार्य में हाथ डालने से पहले तीन बातों पर पूरा विचार कर लेना ज़रूरी है। १ कार्य को अन्त तक पहुँचाने में हमें क्या-क्या करना होगा। २ बीच में कौन-कौन विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। ३ और कार्य की समाप्ति पर मिलनेवाली सफलता का परिमाण कितना है। [कहीं ऐसा तो नहीं है कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया'] ॥ ६ ॥

शॆय्विऩै शॆय्वाऩ् शॆयल्मुऱै अव्विऩै
उळ्ळरिवाऩ् उळ्ळम् कॊळल् ॥ ७ ॥

कोई काम शुरू करने से पहले प्रमुख एक है धर्म।
किसी अनुभवी से समझो उस कारज के सब कौशल-मर्म ॥ ७ ॥

[उपर्युक्त विचार कर लेने के बाद भी] किसी काम में हाथ डालने से पहले, उसमें दक्ष और अनुभवी व्यक्ति से उस कार्य के रहस्यों और कर्म-कौशल को समझ लेना सफलता का मार्ग है ॥ ७ ॥

विऩैयाल् विऩैयाक्किक् कोडल् नऩैहवुळ्
याऩैयाल् याऩैयात् तट्ऱु ॥ ८ ॥

एक पालतू गज[2] के बल से, गज का करते, चतुर, शिकार।
किसी अनुभवी के अनुभव से, सुलभ सफलता उसी प्रकार ॥ ८ ॥

जिस प्रकार एक पालतू हाथी की सहायता से दूसरा प्रबल [जंगली] हाथी पकड़ा जाता है, उसी प्रकार दूसरे के अनुभवों से सहायता लेकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करनी चाहिए ॥ ८ ॥

---

१ स्थान, मौक़ा २ हाथी।

नट्टार्क्कु नल्ल शॆयलिन् विरैन्ददे
ऑट्टारै ऑट्टिक् कॊळल् ।। ९ ।।

मित्रों को प्रसन्न करने में नहीं जरूरी उतना यत्न।
रिपु के रिपुओं को प्रसन्न करना है हितकर अधिक प्रयत्न ।। ९ ।।

मित्रों को प्रसन्न करने की चेष्टा से ज़्यादा ज़रूरी है कि अपने शत्रु के शत्रुओं की मित्रता प्राप्त करने का यत्न करो ।। ९ ।।

उऱैशिऱियार् उळ्नडुङ्गल् अञ्जिक् कुऱैपॆऱिऱ्
कॊळ्वर् पॆरियार्प् पणिन्दु ।। १० ।।

इससे पूर्व कि निबल हमें लख[1], हमला हो, हम भोगें कष्ट।
प्रबल पड़ोसी शासक से कर सन्धि, उसे कर दें संतुष्ट ।। १० ।।

अपनी दुर्बलता को जान लेने पर, इससे पहले कि अपनी प्रजा और राज्य पराजय का दुःख भोगें, अपने प्रबल शत्रु से [जहाँ तक अपने अनुकूल संभव हो] सन्धि और मित्रता कर लेना प्रथम कर्तव्य है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ६९
तूदु (दौत्य)

अन्बुडैमै आन्ऱ कुडिप्पिऱत्तल् वेन्दवाम्
पण्बुडैमै तूदुरैप्पान् पण्बु ।। १ ।।

स्नेहशील, कुलवन्त, सदा निज प्रभु को रखता है सन्तुष्ट—
राजदूत के योग्य गुणों से सब विधि वही व्यक्ति परिपुष्ट ।। १ ।।

स्नेहशीलता, कुलीनता और अपने राजा [अथवा स्वामी] को प्रसन्न रखने में कुशलता— ये तीनों सफल राजदूत के गुण हैं ।। १ ।।

अन्बऱि वारायन्द शॊल्वन्मै तूदुरैप्पार्क्कु
इन्ऱि यमैयाद मून्ऱु ।। २ ।।

राजनीति में विज्ञ; कुशल वक्ता; वाणी में जो कृतकार्य[2]—
सफल वही है राजदूत, जिसमें ये तीनों गुण अनिवार्य ।। २ ।।

अपने राजा के प्रति हार्दिक स्नेह, राजनीति में विज्ञता और प्रभावशाली वाक्-पटुता—ये तीनों राजदूतों के अनिवार्य लक्षण हैं ।। २ ।।

---

१ देखकर   २ सफल ।

नूलारुळ् नूल्वल्लन् आहुदल् वेलारुळ्
वेंन्ऱि विनैयुरैप्पान् पण्बु ।। ३ ।।

शत्रु-शिविर में निर्भय रख निज पक्ष, साध ले प्रभु-कल्यान।
वही वस्तुतः राजदूत है विद्वानों में भी विद्वान् ।। ३ ।।

विद्वानों में विद्वान् और राजनीति-पटु दूत ही विरोधी राजाओं के शस्त्र [और शौर्य] के सामने [निशंक भाव से] अपने स्वामी के पक्ष को रख कर अपना काम सफलतापूर्वक बना लाता है ।। ३ ।।

अऱिवुरु वाराय्न्द कल्वियिम् मून्ऱन्
शेऱिवुडैयान् शेल्ह विनैक्कु ।। ४ ।।

आकर्षक व्यक्तित्व; सदाशय— अन्तस् में जिसके सद्भाव;
विद्या-बुद्धि बहुमुखी— समझो राजदूत का शुद्ध स्वभाव ।। ४ ।।

सहज प्रतिभा, आकर्षक व्यक्तित्व, और गहन शिक्षा— इनसे विभूषित जन ही राजदूत के पद पर आसीन होने योग्य हैं ।। ४ ।।

तोहच्चोल्लित् तूवाद नीक्कि नहच्चोल्लि
नन्ऱि पयप्पदाम् तूदु ।। ५ ।।

कटुताहीन, कुशलता से, थोड़े में रख कर अपना पक्ष।
काम बना लेता जो, सचमुच वही राज्य का प्रतिनिधि दक्ष ।। ५ ।।

प्रसन्न मुद्रा, कटुता से परे और संक्षेप में अपने पक्ष को प्रस्तुत कर सकने में कुशल व्यक्ति ही अपने स्वामी का काम बना लाने में सफल होता है। [अपने विपरीत बात होने पर भी आवेश से बचते हुए, प्रसन्न मुद्रा के साथ, संक्षेप में अर्थात् विस्तार के भार से बोझिल न बनाते हुए अपने पक्ष को थोड़े में स्पष्ट रखते हुए काम बना लेना सफल राजदूत का लक्षण है।] ।। ५ ।।

कट्रुक्कण् णञ्जान् शेलच्चोल्लिक् कालत्ताल्
तक्क तऱिवदाम् तूदु ।। ६ ।।

सूझ-बूझ, मौक़े की कहना; निर्भय; और कुशल विद्वान्;
प्रतिनिधित्व[1] के योग्य वस्तुतः[2] राजदूत वह चतुर सुजान ।। ६ ।।

ज्ञानवान्, [विरोधी की आँखों से विचलित न होने वाला] निर्भीक, अपनी बात समझा सकने में कुशल, जागरूक और प्रत्युत्पन्नमति (हाज़िरजवाब) व्यक्ति ही सफल प्रतिनिधि हो सकता है ।। ६ ।।

---

१ प्रतिनिधि-पद २ सत्य में।

कडऩ्ऱिन्दु कालम् करुदि इडऩ्ऱिन्दु
ऍण्णि युरैप्पाऩ् दलै ॥ ७ ॥

कौन समय में, किस मौक़े पर, क्या करना है ?— जिसको ज्ञान,
सोच-समझ कर बात बोलना, निपुण दूत की है पहचान ॥ ७ ॥

अपने कर्तव्य को दृष्टि में रखनेवाला (व्यवहार-कुशल), उचित अवसर तथा स्थिति को पहचाननेवाला, और परिपक्व विचारों से युक्त [अर्थात् अपने कथन के मर्म को पूरी तौर पर समझनेवाला] व्यक्ति ही राजदूत होने के योग्य है ॥ ७ ॥

तूय्मै तुणैमै तुणिवुडैमै इम्मूऩ्ऱिऩ्
वाय्मै वऴिउरैप्पाऩ् पण्बु ॥ ८ ॥

सत्यनिष्ठ; साहसी; सहायक शत्रु-शिविर[1] में कर उत्पन्न,
प्रभु का काम बनाता, प्रभु का वही दूत है गुणसम्पन्न ॥ ८ ॥

निष्कलंक आचरण, विरोधी शिविर में भी सहायक और समर्थक उत्पन्न कर लेना, साहस, इन तीनों से युक्त सत्यनिष्ठा से विभूषित व्यक्ति ही अपने स्वामी का सफल संदेशवाहक और प्रतिनिधि है ॥ ८ ॥

विडुमाट्ऱम् वेन्दर्क्कु उरैप्पाऩ् वडुमाट्ऱम्
वाय्शोरा वऩ्ग णवऩ् ॥ ९ ॥

उत्पीडन में अविचल रह कर प्रकट न करता अपना मर्म—
ऐसे दृढ़ से शत्रु-शिविर में सफल सदा पायक[2] का धर्म ॥ ९ ॥

दूसरे शासकों के पास अपने स्वामी का संदेश ले जानेवाला दूत इतना दृढ़ हो कि उसकी ज़बान से असावधानी और भय से अपने पक्ष के प्रतिकूल कोई बात न निकल जाय ॥ ९ ॥

इऱुदि पयप्पिऩुम् ऍञ्जा दिऱैवर्क्कु
उऱुदि पयप्पदाम् तूदु ॥ १० ॥

प्रभु का काम बनाने में, प्राणों की भी न जिसे परवाह,
वही साहसी कर सकता है राजदूत का धर्म-निबाह[3] ॥ १० ॥

जान की बाज़ी लगा कर भी अपने प्रभु का काम बना लाना ही निर्भीक और साहसी राजदूत का लक्षण है ॥ १० ॥

---

१ दुश्मन के खेमे में २ दूत, संदेशवाहक ३ धर्म का निर्वाह ।

अदिहारम् (अध्याय) ७०

मन्नरैच् चेर्न्दोऴुहल् (नृप-सान्निध्य में आचरण)

अहलादु अणुहादु तीक्कायुवार् पोल्ह
इहल्वेन्दर्च् चेर्न्दोऴुहु वार् ॥ १ ॥

अधिक न दूर-समीप अग्नि से, रहकर सुख देता है ताप;
उसी भाँति प्रभु से बँपरने पर न कभी होता सन्ताप ॥ १ ॥

[इस अध्याय में, राजा अथवा स्वामी के नित्य-सम्पर्क में रहनेवालों के लिए सावधान और सचेत रहने का पथप्रदर्शन है ।]

जिस प्रकार अग्नि तापते समय अग्नि को त्यागने से शीत का निवारण नहीं होता और अधिक समीप आने पर जल जाने का भय रहता है, उसी न्याय से तरंगी और क्षणिक-बुद्धि राजाओं के सहयोगियों और कर्मचारियों को न तो उनसे अधिक चिपकना चाहिए और न उनसे अधिक दूर रहने में ही कल्याण है ॥ १ ॥

मन्नर् विऴैब विऴैयामै मन्नराल्
मन्नि़य आक्कम् तरुम् ॥ २ ॥

प्रभु को प्रिय वस्तुएँ ! कामना करो न उनकी; होगा रुष्ट ।
यदि प्रसन्न, तो स्वयं उन्हीं से तुमको कर देगा सन्तुष्ट ॥ २ ॥

स्वामी को जो वस्तुएँ प्रिय हैं, उनकी कभी अभिलाषा न प्रकट करो । [इससे उसके मन में तुम्हारे प्रति ईर्ष्या, अथवा अप्रसन्नता उत्पन्न होगी और तुम्हें उसका कोपभाजन बनना होगा] अन्यथा प्रसन्न रह कर वह स्वतः उन वस्तुओं की तुम पर वर्षा कर सकता है ॥ २ ॥

पोट्रि़न् अरियवै पोट्रल् कडुत्तबिन्
तेट्रुदल् यार्क्कुम् अरिदु ॥ ३ ॥

अविश्वास-सन्देह न प्रभु को उपजे तुम पर—रखना ध्यान !
अवसर दुर्लभ, प्रभु के मन से मिटे कभी वह गहन[1] निशान ॥ ३ ॥

निरापद रहने के लिए, सदैव बचाव रखो, और सचेत रहो कि राजा के मन में तुम्हारे प्रति किसी गुरुतर अपराध का सन्देह उत्पन्न होने का अवसर न आये । क्योंकि एक बार भी सन्देह उत्पन्न हो जाने पर राजा के मन से उसका निर्मूल होना सम्भव न होगा [तुमको इतना अवसर ही वह न देगा कि उसके मन से तुम्हारे विरुद्ध उत्पन्न उस मैल को तुम धो सको] ॥ ३ ॥

---

१ अन्धकार में छिपा हुआ ।

शॆविच्चॊल्लुम् शेर्न्द नहैयुम् अवित्तॊऴुहल्
आऩ्ऱ पॆरिया रहत्तु ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ-सभा में कानाफूसी अनुचित सैन[1] और मुसकान;
'तुम्हीं जानते किसी मर्म को', यह संशय देगा नुक़सान ॥ ४ ॥

राजा [अथवा श्रेष्ठ जनों की सभा] के सम्मुख उपस्थिति के समय किसी के कान में फुसफुसाना अथवा परस्पर देखकर मुस्कराना [मानो परस्पर तुम ही कोई रहस्य-विशेष जानते हो] कभी वाञ्छनीय नहीं ॥ ४ ॥

ऍप्पॊरुळुम् ओरार् तॊडरार्मट् ऱ्प्पॊरुळै
विट्टक्काल् केट्क मऱै ॥ ५ ॥

नृप के निजी रहस्यों को, उससे चर्चा न करो जिज्ञास[2] ।
उचित, ध्यान से सुन लेना है, स्वयं भूप यदि करे प्रकाश ॥ ५ ॥

राजा की व्यक्तिगत बातों अथवा भेदों को जानने के लिए उत्सुक न होओ; न उससे कभी पूछने का साहस करो; न किसी अन्य से उस प्रकार की चर्चा करो। हाँ, यदि राजा स्वयं तुमसे अपना भेद प्रकट करे तो सुन लो ॥ ५ ॥

कुऱिप्पऱिन्दु कालम् करुदि वॆऱुप्पिल
वेण्डुप वेट्पच् चॊलल् ॥ ६ ॥

कहो ज़रूरी किन्तु सुखद[3], जब समय व नृप का मन अनुकूल ।
आवश्यक भी कहो न, यदि वह नृप के मन के है प्रतिकूल ॥ ६ ॥

अनुकूल अवसर और अनुकूल मन की स्थिति देखकर ही राजा से ज़रूरी किन्तु प्रिय लगनेवाली बात कहो। अप्रिय बातों को कभी न कहना ही हितकर है ॥ ६ ॥

वेट्पऩ शॊलिल विऩैयिल ऍव्ऩाऩ्ऱुम्
केट्पिऩुम् शॊल्ला विडल् ॥ ७ ॥

व्यर्थ प्रसंगों[4] से कतराओ[5], भले नृपति की उनमें प्रीति ।
प्रिय कथनीयों[6] को राजा से कह देना भी, समुचित रीति ॥ ७ ॥

राजा की रुचि होने पर भी व्यर्थ और सामान्य विषयों पर बातचीत मत करो। महत्वपूर्ण और राजा के हित के विषयों पर विना पूछे भी [अनुकूल अवसर पर] अपना मत प्रकट करो ॥ ७ ॥

---

१ संकेत, इशारा २ पूछ-ताछ, जानने की इच्छा ३ राजा को प्रिय लगनेवाला ४ बातचीत के विषयों ५ बचो ६ आवश्यक भलाई की बातों को।

इळैयर् इऩमुऱैयर् ऎऩ्ऱिहऴार् निऩ्ऱ
ऒळियोडु ऒऴुहप् पडुम् ।। ८ ।।

'आयु नहीं कुछ !', 'अपनों ही में है !'—ये कथन नृपति-अपमान ।
सबका स्वामी, दिव्य रूप है, नृप का सदा करो सम्मान ।। ८ ।।

"यह राजा तो अल्पवयस्क है, अरे ! हमारा सम्बन्धी ही तो है"—ऐसा कहकर [अथवा समझकर] राजा की उपेक्षा अथवा तिरस्कार न करो। वरन् नरेश के दिव्य और महान् पद के अनुरूप उसका पूरा सम्मान करो ।। ८ ।।

कॊळप्पट्टेम ऎऩ्ऱॆण्णिक् कॊळ्ळाद शॆय्यार्
तुळक्कट्ऱ काट्चि यवर् ।। ९ ।।

'बुरे कर्म भी क्षम्य, भूप का हम पर सदा कृपा-विश्वास !'
नादानी यह नहीं फटकती, कभी दूरदर्शी के पास ।। ९ ।।

"हम तो राजा के विशेष कृपापात्र और विश्वसनीय हैं", दूरदर्शी जन कभी ऐसे भ्रम में पड़कर अशोभन काम नहीं करते ।। ९ ।।

पऴैयम् ऎऩक्करुदिप् पण्बल्ल शॆय्युम्
कॆऴुदहैमै केडु तरुम् ।। १० ।।

'शासक से मित्रता पुरानी', इस बल में करते अपकर्म ।
नहीं क्षम्य यह, नष्ट उन्हें करते हैं उनके ही दुष्कर्म ।। १० ।।

शासक से पुरानी घनिष्ठता होने का अनुचित लाभ उठाकर जो लोग संकोचरहित होकर अनुचित कार्य कर बैठते हैं, वे स्वयं अपने विनाश को निमंत्रण देते हैं। [उस पुरानी घनिष्ठता को भूल कर नरेश को उसके अवाञ्छनीय कार्य पर रुष्ट होते देर न लगेगी] ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ७१

कुऱिप्पऱिदल् (किसी के मन का अंकन)

कूऱामै नोक्किक् कुऱिप्पऱिवाऩ् ऎञ्ञाऩ्ऱुम्
माऱानीर् वैयक् कणि ।। १ ।।

चेहरा देख भाँप लेते हैं मन में छिपे चढ़ाव - उतार ।
रत्नाकर[1] से घिरी रत्नगर्भा[2] के ऐसे जन शृंगार ।। १ ।।

---

१ समुद्र २ पृथ्वी ।

जो दृष्टि मात्र से ही दूसरे के मन का भाव ताड़ लेने में समर्थ है, वह सदास्थिर रत्नाकरों (सागरों) से आवेष्टित इस रत्नागर्भा (पृथ्वी) में अवर्णनीय रत्न की भाँति है ॥ १ ॥

ऐयप् पडाअ दहत्त दुणैर्वाऩैत्
तेय्वत्तो डॊप्पक् कॊळल् ॥ २ ॥

दृष्टिमात्र से भाव ताड़ लेते हैं जो नर चतुर सुजान ।
सहज[1] न मानव उनको समझो, वे सुविज्ञ हैं देव-समान ॥ २ ॥

जो दूसरे के भावों को पूर्णतया जान [और परख] लेने की प्रतिभा रखता है, उसकी तुलना मनुष्यों से नहीं देवताओं से करना चाहिए ॥ २ ॥

कुऱिप्पिऱ् कुऱिप्पुणर् वारै उऱुप्पिऩ़ुळ्
यादु कॊडुत्तुम् कॊळल् ॥ ३ ॥

पैनी दृष्टि, परख लक्षण की, अन्तस्[2] तक की लेते जान ।
रहो खोज में, किसी मोल पर अपनाओ नररत्न महान ॥ ३ ॥

जो लक्षण मात्र से ही दूसरे के भावों को जान लेने में समर्थ है, ऐसे गुणवान् व्यक्ति को किसी भी मूल्य पर अपना लेना चाहिए ॥ ३ ॥

कुऱित्तदु कूऱामैक् कॊळ्वारो टेऩ़ै
उऱुप्पो रऩ़ैयराल् वेऱु ॥ ४ ॥

बिना बताये पढ़ लेते हैं अन्य जनों के मन के भाव ।
मानव-रूप, किन्तु साधारण जन से उनके भिन्न स्वभाव ॥ ४ ॥

जो बिना बताये ही दूसरे के मन को समझ लेता है, वह (अन्य मानवों के सदृश) एक-सा दृष्टिगोचर होने पर भी वास्तव में उनसे भिन्न है। [रूप में सहज मानव प्रतीत होते हुए भी वह व्यक्ति अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न और असाधारण है] ॥ ४ ॥

कुऱिप्पिऱ् कुऱिप्पुणरा वायिऩ़् उऱुप्पिऩ़ुळ्
ऎऩ़्ऩ पयत्तवो कण् ? ॥ ५ ॥

निरख लक्षणों को चेहरे के, मनोभाव को सके न तोल ।
नयन अमूल्य ! किन्तु ऐसे नयनों का भला कौन सा मोल ॥ ५ ॥

[इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी] वे नेत्र बेकार हैं जो केवल आकृति और लक्षणों को देखकर ही दूसरे के भावों को न ताड़ सकें ॥ ५ ॥

---

१ सामान्य २ हृदय।

अडुत्तदु काट्टुम् पळिङ्गुबोल् नॆञ्जम्
कडुत्तदु काट्टुम् मुहम् ।। ६ ।।

शीशे में प्रतिबिम्बित होते ज्यों समीप के सकल पदार्थ ।
त्यों चेहरे पर प्रतिबिम्बित होते अन्तस् के भाव यथार्थ ।। ६ ।।

मनुष्य का भाव उसके चेहरे से वैसे ही झलक जाता है जैसे शीशे में उसके समीप की वस्तु ।। ६ ।।

मुहत्तिन् मुदुक्कुरैन्द दुण्बो ? उवप्पिनुम्
कायिनुम् तान्मुन् दुरुम् ।। ७ ।।

चेहरे पर चित्रित हो जाते मन के सकल उतार - चढ़ाव ।
और[1] न साधन, प्रकट करे जो मन के भले-बुरे सब भाव ।। ७ ।।

हमारा चेहरा हमारे (राग-द्वेष आदि) भले-बुरे समस्त मनोभावों को झलका देता है। इससे बढ़कर अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं जो हमारे विचारों को प्रकट कर सके ।। ७ ।।

मुहम्नोक्कि निऱ्क अमैयुम् अहम्नोक्कि
उट्ऱ दुणर्वार्प् पॆऱिन् ।। ८ ।।

देख मुखाकृति[2] मनोभाव को जो सुविज्ञ कर लेते प्राप्त ।
ऐसे पारखियों[3] के सम्मुख चेहरा आ जाना पर्याप्त ।। ८ ।।

जो दूसरे के मनोभावों को केवल चेहरा देखकर ही समझ लेने में समर्थ हैं, उनके सम्मुख हमारा खड़े हो जाना ही काफ़ी है। [फिर उन पारखियों से हमारे विचार बतलाने की ज़रूरत न रहेगी। वे हमारा चेहरा देखते ही सब कुछ भाँप लेंगे] ।। ८ ।।

पहैमैयुम् केण्मैयुम् कण्णुरैक्कुम् कण्णिन्
वहैमै उणर्वार्प् पॆऱिन् ।। ९ ।।

मिली आँख से आँख कि अन्तस् की झाँकी लेते हैं जान ।
एक दृष्टि में कुशल पारखी[3] भला-बुरा लेते पहचान ।। ९ ।।

पारखीजन आँख से आँख मिलते ही दूसरे के मन के राग-द्वेष अथवा अनुकूल-प्रतिकूल भावों को पहचान लेते हैं ।। ९ ।।

नुण्णियम् ऎन्बार् अळक्कुम्कोल् काणुङ्गाल्
कण्णल्ल दिल्लै पिऱ ।। १० ।।

---

१ दूसरा कोई २ मुख की चेष्टा ३ परख लेनेवाले ।

नयन कसौटी, नयनों की चल-फिर से मिलती उर की थाह।
आँख देखकर सही आँक ले, सूझ-बूझ की यही निगाह ॥ १० ॥

दूसरे के मनोभावों को सही-सही आँक लेने के लिए उसके नयनों की गति ही सूक्ष्मदर्शी जनों के लिए सबसे बड़ा पैमाना (मापदण्ड) है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७२

अवैयरिदल् (श्रोताओं के रुख की पहचान)

अवैयरिन् दारायन्दु शॊल्लुह शॊल्लिन्
तॊहैयरिन्द तूय्मै यवर् ॥ १ ॥

मोहक शब्द, मोहनी शैली, श्रोताओं के रुख का ध्यान।
निर्मलबुद्धि सफल वक्ता को अवसर की रहती पहचान ॥ १ ॥

निर्मलबुद्धि और वाणी पर अधिकार रखनेवाले कुशलजन अपने श्रोताओं की प्रकृति और प्रवृत्ति को पहचान कर तदनुरूप अपनी वक्तृता में ऐसे शब्द और शैली का प्रयोग करते हैं कि (प्रत्येक प्रकार की) जनता मुग्ध हो जाती है ॥ १ ॥

इडैदॆरिन्दु नन्गुणर्न्दु शॊल्लुह शॊल्लिन्
नडैदॆरिन्द नन्मै यवर् ॥ २ ॥

देश, काल औ' पात्र ध्यान में रखकर वाणी का उपयोग।
आकर्षित जनता को कर ले, समझो ! वक्ता वही सुयोग[1] ॥ २ ॥

कुशल वक्ता की यह कला है कि देश-काल-पात्र को समझकर अवसर के अनुरूप बात कहकर श्रोताओं को आकर्षित कर लेता है ॥ २ ॥

अवैयरियार् शॊल्लल्मेर् कॊळ्पवर् शॊल्लिन्
वहैयरियार् वल्लदूउम् इल् ॥ ३ ॥

प्रकृति-प्रवृत्ति[2] सभा की क्या है ? इसे जानने में असमर्थ।
ऐसे अकुशल वक्ता की वक्तृता सदा जाती है व्यर्थ ॥ ३ ॥

अपने श्रोताओं की प्रकृति और प्रवृत्ति को पहचान पाने में असमर्थ जन यदि बोलते हैं तो उनकी वाणी व्यर्थ सिद्ध होती है [श्रोताओं पर उस वक्ता का प्रभाव नहीं पड़ता] ॥ ३ ॥

---

१ योग्य, कुशल २ स्वभाव-झुकाव।

ऑळियार्मुऩ् ऑऴ्ळियर् आदल् वॆळियार्मुऩ्
वाऩ्जुदै वण्णम् कॊळल् ॥ ४ ॥

विद्वानों की सभा, वहाँ विद्या का दिखलाओ उत्कर्ष[1]।
जन-साधारण में समुचित है सादा-सहज विचार-विमर्ष[2] ॥ ४ ॥

विद्वानों की सभा में विद्वान् के सदृश बोलिए अर्थात् विद्या की प्रतिभा को दिखाइए; किन्तु जन-साधारण के बीच सीधी-सादी भाषा और भाव का प्रयोग कीजिए [इसके विपरीत होने पर दोनों समाजों में आपकी वक्तृता निष्फल सिद्ध होगी] ॥ ४ ॥

नऩ्ऱॆऩ्ऱ वट्ऱुळ्ळुम् नऩ्ऱे मुदुवरुळ्
मुन्दु किळवाच् चॆऱिवु ॥ ५ ॥

जब अपने से प्रौढ़-प्रवर-विद्वान्, सभा में हो समुदाय।
मौन, विनम्र, न अगुआ बनना—सफल-श्रेष्ठ है यही उपाय[3] ॥ ५ ॥

अपने से बड़ों (चाहे वह उम्र में हों या विद्या में) के समक्ष हमको विनम्र और नियंत्रित रहना चाहिए और उनके बोलने से पहले ही हमें न बोलना चाहिए ॥ ५ ॥

आट्ऱिऩ् निलैदळर्न् दट्ऱे वियऩ्बुलम्
अेट्ऱुणर्वार् मुऩ्ऩर् इळुक्कु ॥ ६ ॥

विद्वानों की भरी सभा में वक्ता की थोड़ी सी भूल।
पराभूत[4] करने को काफ़ी, ऐसी पड़ जाती प्रतिकूल ॥ ६ ॥

विद्वानों के समक्ष बोलते समय थोड़ी सी भूल भी मानो अपने को यथार्थ श्रेष्ठ स्थान से नीचे गिरा देना है ॥ ६ ॥

कट्ऱऱिन्दार् कल्वि विळङ्गुम् कशडऱच्
चॊट्ऱॆरिदल् वल्लार् अहत्तु ॥ ७ ॥

विमलबुद्धि पारखी गुणों के, प्रस्तुत जहाँ गुणी विद्वान।
विद्वानों की विद्वत्ता का सम्भव वहीं विभव-सम्मान ॥ ७ ॥

निर्मल बुद्धि से विद्या की परख करनेवालों ही के सामने विद्वानों की विद्वत्ता का प्रकाश और सम्मान होता है ॥ ७ ॥

उणर्व दुडैयार्मुऩ् शॊल्लल् वळर्वदऩ्
पात्तियुळ् नीर्शॊरिन् दट्ऱु ॥ ८ ॥

---

१ पाण्डित्य २ भले-बुरे की मीमांसा ३ मार्ग ४ गिराने को।

समझदार श्रद्धालु जनों को सफल श्रेयकर[1] देना ज्ञान ।
अतिव लाभप्रद उगते पौधों को मानो जलदान-समान ॥ ८ ॥

समझदार मनुष्यों के समक्ष अच्छी बात कहना मानो उगते हुए पौधों को पानी देना है ॥ ८ ॥

पुल्लवैयुळ् पोंच्चान्दुम् शोंल्लऱ्क नल्लवैयुळ्
नऩ्गु शेलच्चोंल्लु वार् ॥ ९ ॥

भले और जिज्ञासु जनों को देना सीख सदा है स्वार्थ ।
धोखे में भी हीन जनों से हुई वार्ता सदा अनर्थ ॥ ९ ॥

जिज्ञासु और भले मनुष्यों से ही भली बात कहना चाहिए, उन्हीं पर बात का समुचित प्रभाव होता है । नीच बुद्धिवालों से भूल से भी कुछ नहीं कहना चाहिए ॥ ९ ॥

अङ्गणत्तुळ् उक्क अमिऴ्तट्ऱाट् ऱम्कणत्तर्
अल्लार्मुऩ् कोट्टि कोंळल् ॥ १० ॥

असंगतों[2] को सीख और संलाप एक ही रखती अर्थ ।
नाबदान[3] में अम्रित भरना, सदा-सर्वदा जैसे व्यर्थ ॥ १० ॥

असंगत जनों को सीख देना नाबदान में अमृत उँडेलने के समान है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७३
अव अञ्जामै (सभा में निर्भीक वक्तृता)

वहैयऱिन्दु वल्लवै वाय्शोरार् शोंल्लिऩ्
तोंहैयऱिन्द तूयमै यवर् ॥ १ ॥

वाणी-वरद[4] शुद्ध मन वाले, विपुल शब्द पर है अधिकार ।
नहीं चूकते, सदा वक्तृता विज्ञों की रुचि के अनुसार ॥ १ ॥

वे निर्मल मन वाले, जिनको शब्दों पर पूर्ण अधिकार है, विद्वत्-समुदाय की प्रवृत्ति को भलीभाँति पहचान लेते हैं । वे अपनी वक्तृता से जनता को आकर्षित कर लेते हैं; कभी उनके मुख से प्रतिकूल शब्द निकल जाने की भूल नहीं होती ॥ १ ॥

---

१ कल्याणकारी   २ अयोग्यों, कुपात्रों   ३ गंदे पानी (गलीज़) का हौज़
४ सरस्वती के वरदानी, अपार विद्वान् ।

कट्रारुट् कट्रार् ऍन्प्पडुवर् कट्रार्मुन्
कट्र शॊलच्चॊल्लु वार् ॥ २ ॥

विद्वानों को मुग्ध-प्रभावित करते जिसके सरस विचार ।
ऐसे कुशल प्रवक्ता का विज्ञों-विद्वानों में सत्कार ॥ २ ॥

विद्वानों के बीच उनको प्रभावित और मुग्ध कर सकनेवाली वार्ता कह सकनेवाला व्यक्ति विद्वानों में भी विद्वान् है ॥ २ ॥

पहैयहत्तुच् चावार् ऍळियर् अरियर्
अवैयहत् तञ्जा दवर् ॥ ३ ॥

जग में सुलभ अनेक, मृत्यु रण में है जिनको अंगीकार ।
दुर्लभ हैं जिनको न बोलते समय सभा में भय-सञ्चार ॥ ३ ॥

शत्रुओं से सामना करते समय मृत्यु से भी न विचलित होनेवाले अनेक हैं; किन्तु विद्वानों की सभा में निर्भय और निःशंक भाव से बोलने वाले विरले ही होते हैं ॥ ३ ॥

कट्रार्मुन् कट्र शॊलच्चॊल्लित् ताङ्गट्र
मिक्कारुळ् मिक्क कॊळल् ॥ ४ ॥

विद्वानों की सभा जहाँ हो, बोलो प्राञ्जल[1] कथन सुबोध ।
ग्रहण श्रेष्ठतर विद्वानों से करो मिले जो ज्ञान-प्रबोध ॥ ४ ॥

विद्वानों के सम्मुख अपने पाण्डित्यपूर्ण सुबोध कथन से उनको प्रभावित करो एवं अपने से अधिक विज्ञ पण्डितों से और भी अधिक ज्ञान अर्जन करो ॥ ४ ॥

आट्रिन् अळवरिन्दु कट्क अवैयञ्जा
माट्रम् कॊडुत्तर् पॊरुट्टु ॥ ५ ॥

तर्कशास्त्र-व्याकरण कण्ठ में, उन पर ऐसा हो अधिकार ।
ताकि विरोधी को अवसर पर प्रत्युत्तर से हो प्रतिकार[2] ॥ ५ ॥

व्याकरण और तर्कशास्त्र पर पूर्णता प्राप्त कर उन्हें कण्ठाग्र रखो, ताकि तुम्हारा ज्ञान, तर्क और प्रत्युत्पन्नमति तुम्हारे विरोधियों का सभा में मुँह बन्द कर सके ॥ ५ ॥

वाळॊडॆन् वन्कण्णर् अल्लार्क्कु नूलॊडॆन्
नुण्णवै यञ्जु पवर्क्कु ? ॥ ६ ॥

---

१ सरल, स्पष्ट   २ प्रत्युत्तर, बदला ।

साहसहीन कापुरुष[1] के कर में तलवार ! कहो क्या अर्थ ? ।
जो असमर्थ वार्ता में, उसकी विद्या वैसे ही व्यर्थ ॥ ६ ॥

साहसहीन कापुरुष के लिए तलवार का क्या प्रयोजन ? उसी भाँति विद्वानों के सम्मुख निर्भीक बोल सकने में असमर्थ तथाकथित विद्वानों को ग्रंथों और विद्यार्जन से क्या लाभ ? ॥ ६ ॥

पहैयहत्तुप् पेडिहै ऑळ्वाळ् अवैयहत्तु
अञ्जुम् अवन्कट्रऱ नूल् ॥ ७ ॥

युद्धक्षेत्र में, खड्ग नपुंसक के कर में, जैसे बेकार ।
मतिमानों में बोल न सकना—ऐसा विद्या-ज्ञान असार ॥ ७ ॥

मतिमान् विद्वानों के समुदाय में बोल न सकने और काँप जानेवाले का ज्ञानार्जन वैसे ही व्यर्थ है जैसे रणभूमि के बीच नपुंसक के हाथ में तलवार ॥ ७ ॥

पल्लवै कट्ऱुम् पयमिलरे नल्लवैयुळ्
नन्गु शॅलच्चॉल्ला दार् ॥ ८ ॥

अगर सभा में बोल न पाये, लरजे[2], सके न डाल प्रभाव ।
ग्रन्थ-ज्ञान-भण्डार लिये होने पर भी है निपट अभाव ॥ ८ ॥

विद्वानों के सम्मुख अपनी बात को प्रभावकारी ढंग से रखने में जो असमर्थ हैं, उनका अनेक विद्याओं का अध्ययन भी व्यर्थ है; वे किसी काम के नहीं ॥ ८ ॥

कल्ला दवरिऱ् कडैऍन्ब कट्ऱऱिन्दु
नल्लार् अवैयञ्जु वार् ॥ ९ ॥

गहन अध्ययन, किन्तु सभा में अपनी कहने में असमर्थ ।
अपढ़-मूढ़ से गिरे-गये वे, उनका ज्ञान-ध्यान सब व्यर्थ ॥ ९ ॥

नाना ग्रन्थों और शास्त्रों को पढ़ चुकने पर भी यदि विद्वानों की सभा में वे थरथराते हैं, अपनी युक्ति को प्रभावकारी ढंग पर रख सकने में पंगु हैं, तो ऐसे विद्वान्, अज्ञानियों और अपढ़ों से भी गये-बीते हैं—ऐसा कथन है ॥ ९ ॥

उळरॅनिनुम् इल्लारो डॉप्पर् कळनञ्जिक्
कट्ऱ शॅलच्चॉल्ला दार् ॥ १० ॥

गहन[3] अध्ययन ! किन्तु सभा में अपनी कहने में बेकार ।
जीवन रहते मृतक-तुल्य हैं, उनका जीवन-ज्ञान असार ॥ १० ॥

---

१ कायर २ थरथरा जाय, काँप जाय ३ गहरा ।

जो विद्वान अतुल ज्ञानराशि को अर्जित कर लेने पर भी विद्वत्-मण्डली के सम्मुख अपनी विद्या का प्रभाव नहीं डाल सकते, वे जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान हैं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७४

नाडु (देश)

तळ्ळा विळैयुळुम् तक्कारुम् ताळ्विलाच्
चेल्वरुम् शेर्वदु नाडु ॥ १ ॥

भरी-पुरी धन-धान्य-उपज से धरा, जहाँ बसते गुणवान् ।
सदाचार से युक्त जनों का है निवास —वह देश महान् ॥ १ ॥

देश [वस्तुतः धन्य] वही है जहाँ के निवासी महान् सद्गुणों से युक्त (तथा कर्तव्यपरायण) हों। धरती धन-धान्य से सदैव पूरित और विपुल धन-सम्पत्ति से सम्पन्न बनी रहे। [कभी अभाव न हो।] ॥ १ ॥

पेरुम्पोरुळाल् पेट्टक्क ताहि अरुङ्गेट्टाल्
आट्र विळैवदु नाडु ॥ २ ॥

उत्पादन है विपुल, विनाशक तत्वों का है जहाँ अभाव ।
देश धन्य ! जिसकी समृद्धि[1] रिपु में उपजाती लिप्सा-भाव[2] ॥ २ ॥

देश वही [धन्य] है जहाँ की विपुल सम्पदा विदेशियों को प्रलुब्ध करती हो। उत्पादन अपार, और विनाशकारी तत्वों का अभाव हो ॥ २ ॥

पोरैयोरुङ्गु मेल्वरुङ्गाल् ताङ्गि इरैवर्कु
इरैयोरुङ्गु नेर्वदु नाडु ॥ ३ ॥

शरणागत को शरण, समुद[3] कर्तव्य-भार की है परिपूर्ति ।
सहज वसूली-शुल्क-राजकर, उसी देश की निर्मल कीर्ति ॥ ३ ॥

शरणागत अथवा देश पर आये हुए किसी कर्तव्य-भार को वहन करने, और राजकर को यथोचित रूप में देते रहने में सक्षम होना—यह सुराष्ट्र का लक्षण है ॥ ३ ॥

उरुपशियुम् ओवाप् पिणियुम् शेरुपहैयुम्
शेरा तियल्वदु नाडु ॥ ४ ॥

---

१ खुशहाली २ लोभवश आकर्षण ३ प्रसन्नता से ।

रिपु से ध्वंस, महामारी[1], भुखमरी, विपति का जहाँ जहाँ न लेश।
वही निरापद पुण्यमही है, वही वस्तुतः सुन्दर देश ॥ ४ ॥

दुर्भिक्ष, महामारी और शत्रुओं से होनेवाली अपार क्षतियों से जो देश मुक्त और सुरक्षित है, वही 'देश' कहलाने के योग है ॥ ४ ॥

पल्कुळुवुम् पाळ्शॆय्युम् उट्पहैयुम् वेन्दलैक्कुम्
कॊल्कुऱुम्बुम् इल्लदु नाडु ॥ ५ ॥

घर के भेदी, तोड़-फोड़, या जहाँ न बसते अन्तर्शत्रु[2]।
शासन के विपरीत नहीं षड्यंत्र; वही है देश पवित्र ॥ ५ ॥

सुख-शान्ति का वही देश है जहाँ पञ्चमांगी अन्तर्शत्रु तथा विघटनकारी और विश्वासघाती तत्वों का नाम-निशान न हो [धर्म, जाति वर्ग, लिंग आदि नाना भेदों और ईर्ष्या-द्वेष के कारण संकुचित भावों से ग्रस्त अराष्ट्रीय भावना देश के लिए सदैव घातक है।] ॥ ५ ॥

केडऱियाक् कॆट्ट इडत्तुम् वळङ्गुन्ऱा
नाडॆन्ब नाट्टिन् तलै ॥ ६ ॥

वही देश आदर्श जहाँ पर क्षति-विपत्ति का दुर्लभ योग।
दैवयोग-दुर्घटित[3], सँभलता करके शक्ति-समृद्धि प्रयोग ॥ ६ ॥

वस्तुतः समर्थ देश वही है जहाँ संकट और क्षति का अवसर नहीं आता, और यदि दैववश वह स्थिति आ भी जाय तो देश अपने उद्यम और सम्पदा के बल पर उसका सामना करके पुनः समृद्ध हो जाय ॥ ६ ॥

इरुबुन्ऩलुम् वाय्न्द मलैयुम् वरुबुन्ऩलुम्
वल्लरणुम् नाट्टिऱ्कुऱुप्पु ॥ ७ ॥

ऋतुवर्षा, प्रपात-जलसोते[4], सुदृढ़ दुर्ग[5], सरिता[6], गिरि-युक्त।
ऐसे साधनमय प्रदेश को कहना 'देश' उचित-उपयुक्त ॥ ७ ॥

सामयिक वर्षा; जलपूरित नदियाँ, झरने और जलस्रोत; ऊँची पर्वतमालाएँ और सुदृढ़ दुर्ग—इनसे युक्त प्रदेश ही वस्तुतः 'देश' कहलाने के योग्य है ॥ ७ ॥

पिणियिन्मै शॆल्वम् विळैविन्बम् एमम्
अणिऎन्ब नाट्टिऱ्किव् वैन्दु ॥ ८ ॥

सुख, सम्पति, आरोग्य, सुरक्षा, धरा प्रचुर उपजाती अन्न।
धन्य देश! इन पञ्चरत्न से जो सब भाँति सदा सम्पन्न ॥ ८ ॥

---

१ व्यापकरूप में संहारक बीमारियाँ २ पञ्चमांगी, फ़िफ़्थ कालम ३ यदि संयोग से विपत्ति आही गई ४ झरने-सोते ५ मज़बूत क़िला ६ नदी।

आरोग्यपूर्ण स्वास्थ्य, भरी-पुरी उपज की फ़सलें, मन की प्रसन्नता, [दृढ़ दुर्ग, सशक्त सेना तथा अन्य वाञ्छित साधनों के बल पर] पूर्ण सुरक्षा और समृद्धि, समुन्नत देश के ये पञ्चरत्न हैं ॥ ८ ॥

नाडॆऩ्ब नाडा वळत्तऩ नाडल्ल
नाड वळन्दरुम् नाडु ॥ ९ ॥

धन्य धरा, जो स्वल्प परिश्रम से, उपजाती फ़सल अपार।
अथक परिश्रम, स्वल्प उपज—वह धरा[1] नहीं, धरती का भार ! ॥ ९ ॥

'देश' वही देश कहलाने के योग्य है, जहाँ की धरती कम परिश्रम में भारी उपज उगलती हो; वह धरती ही क्या, जहाँ सामान्य उपज के लिए भी घोर परिश्रम करना पड़े ॥ ९ ॥

आङ्गमै वॆय्दियक् कण्णुम् पयमिऩ्ऱे
वेन्दमै विल्लाद नाडु ॥ १० ॥

उपर्युक्त सद्‌गुण-समलङ्कृत[2], साधन-शक्ति उचित परिमाण[3]।
असहयोग-मतभेद प्रजा-राजा में, तो न देश-कल्याण ॥ १० ॥

राज्य में उपर्युक्त [अलक्षणों का अभाव और उपर्युक्त] सुलक्षणों के प्रस्तुत होने पर भी यदि शासक और जनता में सौहार्द का अभाव है तो उस देश की ख़ैर नहीं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७५
अरण् (क़िलाबन्दी)

आट्ऱु पवर्क्कुम् अरण्बॊरुळ् अञ्जित्तर्
पोट्ऱु पवर्क्कुम् पॊरुळ् ॥ १ ॥

दुर्ग ज़रूरी गढ़-रक्षा-हित, यदि संकल्प युद्ध-अभियान[4]।
अपने पर आक्रमण; न तब भी बिना दुर्ग के है कल्यान ॥ १ ॥

अन्यदेश पर चढ़ाई करने के समय राज्य में मज़बूत किलाबन्दी ज़रूरी है, [ताकि राजा की अनुपस्थिति का लाभ उठा कर कोई शत्रु स्वदेश पर आक्रमण न कर दे] और [स्वयं आक्रमण करने का विचार न रखनेवाले को] आत्मरक्षा के लिए भी सुदृढ़ दुर्ग की उतनी ही आवश्यकता है [ताकि बाहरी आक्रमण के अवसर पर राज्य और प्रजा की सुरक्षा, और शत्रु के घिराव तक गुज़र होती रहे] ॥ १ ॥

---

१ पृथ्वी २ सुन्दर देश के लिए ऊपर कहे गये सारे लक्षण अथवा साधन-युक्त
३ काफ़ी मात्रा में ४ किसी देश पर चढ़ाई।

मणिनीरुम् मण्णुम् मलैयुम् अणिनिळर्
काडुम् उडैय दरण् ।। २ ।।

जलमय परिखा[1], सोत, गहन वन, गिरि, सरिता, समतल मैदान।
इन सब से सम्पन्न-सुरक्षित, सुदृढ़[2] दुर्ग की है पहिचान ।। २ ।।

चारों और जल से सदापूरित खाई, स्वच्छ जल की प्रचुरता, समतल मैदान, पहाड़ियाँ और घने जंगल—इनसे सम्पन्न दुर्ग ही आदर्श दुर्ग है [जहाँ संकटकाल में पर्याप्त समय तक जल और जल पर आश्रित उत्पादन, लुकने-छिपने की आड़, आक्रमण करने के हेतु ऊँचाई, शत्रु के आगम में बाधा—इस प्रकार सुरक्षा और शत्रु को थकाने के साधन मौजूद हों।] ।। २ ।।

उयर्वहलम् तिण्मै अरुमैइन् नान्गिन्
अमैवरण् ऍन्रुरैक्कुम् नूल् ।। ३ ।।

युद्धकला के मत से, ऊँची, चौड़ी और सुदृढ़ प्राचीर[3]।
जिसके भेदन[4] के साहस में निष्फल रहें शत्रु के वीर ।। ३ ।।

किले की प्राचीर (चहारदीवारी) इतनी पर्याप्त ऊँची, चौड़ी, दुर्भेद्य और इतनी मज़बूत बनी होना चाहिए कि शत्रु आक्रमण का साहस ही न कर सके--युद्धविज्ञान का यह मत है ।। ३ ।।

शिरुहाप्पिर् पेरिडत्त तागि उरुपहै
ऊक्कम् अऴिप्प दरण् ।। ४ ।।

कहीं खुले मैदान, कहीं लुकने-छिपने के हों अस्थान।
छापा[5] कभी बचाव, कोट[6] में हमलावर[7] फँसकर हैरान ।। ४ ।।

दुर्ग के भीतर खुला स्थान हो [किन्तु इतना नहीं कि आक्रमणकारी को फैल कर लड़ने का मौक़ा मिले] और आड़वाले अदृश्य स्थल भी हों [जहाँ से छिप कर युद्ध किया जा सके और शत्रु सरलता से वहाँ पहुँच न सके।]--शत्रु को निरस्त करनेवाले ये लक्षण दुर्ग में ज़रूरी हैं ।। ४ ।।

कॉळर्करिदाय्क् कॉण्डकूऴ्त् ताहि अहत्तार्
निलैक्कॅळिदाम् नीर दरण् ।। ५ ।।

रिपु को दुर्गम, किन्तु स्वयं लड़ने-बचने के सभी प्रकार—
सुलभ, दुर्ग उपयुक्त अन्न-साधन का जहाँ विपुल भण्डार ।। ५ ।।

विपुल खाद्य-भण्डार एवं आवश्यक सामग्री से युक्त, और शत्रुओं के लिए दुर्भेद्य एवं अदृश्य तथा अपने को बचाते रहकर शत्रु पर मार-प्रहार करने के योग्य स्थलों से युक्त ही सक्षम दुर्ग है ।। ५ ।।

---

१ खाई २ मज़बूत, दुर्जय ३ परकोटा, चहारदीवारी ४ गढ़ तोड़ कर प्रवेश करना ५ एकदम आक्रमण ६ क़िला, दुर्ग ७ आक्रमणकारी।

ऎल्लाप् पॊरुळुम् उडैत्ताय् इडत्तुदवुम्
नल्लाळ् उडैय दरण् ।। ६ ।।

रसद[1], शस्त्र, सामान युद्ध के—दुर्ग यदपि इनसे भरपूर।
किन्तु सुभट पर्याप्त चाहिए देशभक्त बलिदानी शूर ।। ६ ।।

युद्धकाल में आवश्यक सारी सामग्री और रणसज्जा तो होना ही चाहिए, किन्तु दुर्ग की सुरक्षा और संकटकाल के लिए देशभक्त रणबाँकुरों की पर्याप्त संख्या भी किलेबन्दी के लिए सर्वोपरि अनिवार्य है ।। ६ ।।

मुट्ऱियुम् मुट्ऱा तॆऱिन्दुम् अऱैप्पडुत्तुम्
पट्ऱऱ्‌ करिय दरण् ।। ७ ।।

बल, कौशल, विश्वासघात, छल—सभी विफल हों शत्रु-प्रयास।
सक्षम[2] दुर्ग अजेय वही सब भाँति रहे रिपु जहाँ निराश ।। ७ ।।

दुर्ग वही है जो सहजही आक्रमणकारी के वश में न आसके [उसका पराभूत होना लोहे के चने हों]; [बहुत दिनों तक] घेराव, धुआँधार आक्रमण, [भीतरी अथवा बाहरी] छल-कपट-विश्वासघात--इन सबका यथावसर सामना [कर सके और इनको निरस्त] कर सके ।। ७ ।।

मुट्ऱाट्ऱि मुट्ऱि यवरैयुम् पट्ऱाट्ऱिप्
पट्ऱियार् वॆल्व दरण् ।। ८ ।।

गढ़ के अन्दर सदा सुरक्षित, जहाँ न गलती रिपु की दाल।
दीर्घकाल का घेरा कर दे विफल, वही है दुर्ग विशाल ।। ८ ।।

दुर्ग की सफल रचना तब है जब उसकी विशिष्ट किलेबन्दी और कुशल तैयारी से अपनी पूरी सुरक्षा रखते हुए, घेरा डालनेवाले शत्रु को थकाकर परास्त और विमुख कर दिया जाय ।। ८ ।।

मुऩैमुहत्तु माट्ऱलर् शाय विऩैमुहत्तु
वीऱॆय्दि माण्ड दरण् ।। ९ ।।

वही दुर्ग दृढ और सफल है, रक्षक जहाँ शूर बलवन्त।
व्यूहनीति, रणनीति, पराक्रम से कर देते रिपु का अन्त ।। ९ ।।

वही दुर्ग सार्थक है जहाँ के रणकुशल वीर अपने पराक्रम और रणनीति से शत्रु को ध्वस्त कर भागने पर विवश करके [अपने देश की] कीर्तिपताकाएँ फहराते हैं ।। ९ ।।

ऎऩैमाट्चित् ताहियक् कण्णुम् विऩैमाट्चि
इल्लार्कण् इल्लदु अरण् ।। १० ।।

---

1 खाद्य सामग्री 2 समर्थ, शक्तिशाली।

सकल सुलक्षण, सामग्री, रणसज्जा सब होती है व्यर्थ।
रण-सञ्चालक कुशल सूरमा अगर दुर्ग में नहीं समर्थ ॥ १० ॥

उपर्युक्त सारे सुलक्षण [रणसज्जा, जीवन-सामग्री, प्राकृतिक बचाव और दृढ़ दुर्ग]-- सब कुछ मौजूद रहते हुए भी व्यर्थ हैं, यदि युद्धसञ्चालक अथवा योद्धा पराक्रमी, कुशल और अविचल नहीं हैं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७६

पॊरुळ् शॆयल् वहै (अर्थ-सञ्चय)

पॊरुळल् लवरैप् पॊरुळाहच् चॆय्युम्
पॊरुळल्ल दिल्लै पॊरुळ् ॥ १ ॥

धन है जग में अतुलनीय, हीनों[1] को भी देता सन्मान।
कहलाते श्रीमान् तिरस्कृत[2], गुणविहीन होते गुणवान् ॥ १ ॥

धन सर्वोपरि है, इसकी तुलना में कुछ नहीं। यह अयोग्य और गुणहीन को भी योग्य और गुणवान् बना देता है ['सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'] ॥ १ ॥

इल्लारै ऎल्लारुम् ऎळ्ळुवर् शॆल्वरै
ऎल्लारुम् शॆय्वर् शिऱप्पु ॥ २ ॥

धन-विहीन सर्वत्र तिरस्कृत, यदि हो गया कहीं धनवन्त !
दिग्दिगन्त तक, जिधर देखिए, उसका महिमागान अनन्त ॥ २ ॥

संसार में लोग निर्धन का तिरस्कार और धनवानों का सम्मान और महिमागान करते हैं ॥ २ ॥

पॊरुळॆन्नुम् पॊय्या विळक्कम् इरुळऱुक्कुम्
ऎण्णिय तेयत्तुच् चॆन्ऱु ॥ ३ ॥

धन का यदि उत्कर्ष[3], चौमुखी दीपक का सब ओर प्रकाश !
दीप-छटा, तम-घटा[4] हटाकर, सकल विघ्न का करती नाश ॥ ३ ॥

अपरिमित धन का क्षीण न पड़नेवाला प्रकाश दूर-दूर तक सर्वत्र व्याप्त होकर सकल बाधाओं के अंधकार को नाश कर देता है ॥ ३ ॥

अऱन्ईनुम् इन्बमुम् ईनुम् तिऱन् अऱिन्दु
तीतिन्ऱि वन्द पॊरुळ् ॥ ४ ॥

श्रम से, पावन-पथ[5] से अर्जित[6] ही धन की महिमा है धन्य।
ऐसा धन उपलब्ध कराता धर्म-सुयश-आनन्द अनन्य ॥ ४ ॥

---

१ हीन सामान्यजन २ उपेक्षित, अपमानित ३ उन्नति ४ घनघोर अंधकार
५ पवित्र, अच्छी राह से ६ कमाई हुई।

वैध रूप से [भले-बुरे का विवेक रखकर] श्रम के बल पर अर्जित किया हुआ धन, धर्म और सुख-समृद्धि की वृद्धि करता है ।। ४ ।।

अरुळॊडुम् अऩ्बॊडुम् वाराप् पॊरुळाक्कम्
पुल्लार् पुरळ विडल् ।। ५ ।।

अधरम, करुणाहीन मार्ग से धन का आगम हुआ अपार ।
निन्दनीय यह धन निषिद्ध[1] है, कभी न करना अंगीकार ।। ५ ।।

करुणा से रहित होकर और दूसरे का जी दुखा कर जो धन कमाया जाता है, वह निन्दनीय है । उससे सदैव दूर रहना चाहिए ।। ५ ।।

उरुपॊरुळुम् उल्गु पॊरुळुम्तऩ् ऒन्ऩार्त्
तॆरुपॊरुळुम् वेन्दऩ् पॊरुळ् ।। ६ ।।

प्राप्त विजय में माल-ग़नीमत[2], लावारिस[3] की जो सम्पत्ति ।
सकल राज्य-कर —हक़[4] शासन के; उचित न इसमें कुछ आपत्ति ।। ६ ।।

[उत्तराधिकारी के अभाव में,] लावारिस सम्पत्ति, राज्यकर, शत्रु से युद्ध में जीत कर प्राप्त धन—इन सब पर शासक का अधिकार है ।। ६ ।।

अरुळॆऩ्ऩुम अऩ्बीऩ् कुऴवि पॊरुळॆऩ्ऩुम्
शॆल्वच् चॆविलियाल् उण्डु ।। ७ ।।

दम्पति[5] मानों प्रेम, प्रेम से करुणा-शिशु की होती सृष्टि ।
धन है धाय[6], पाल कर शिशु को, करती एकाकार समष्टि[7] ।। ७ ।।

प्रेम के फलस्वरूप दया रूपी शिशु का जन्म होता है; दया रूपी शिशु के प्रति सम्पत्ति रूपी धाय के प्रेम से (विश्व के प्रति) ममत्व और एकत्व की सृष्टि होती है । धन को करुणा और प्रेम से व्यय करके सारे जगत् में ममत्व और एकत्व का मार्ग प्रशस्त होता है ।। ७ ।।

कुऩ्ऱेऱि याऩैप्पोर् कण्डट्ऱाल् तऩ्हैत्तॊऩ्ऱु
उण्टाकच् चॆय्वाऩ् विऩै ।। ८ ।।

पर्वत पर निशंक रहकर, जिस भाँति देखते युद्ध-मतंग[8] ।
धन के बल पर निर्भय रहकर, सकल बिलसते रंग-उमंग ।। ८ ।।

जिस प्रकार पहाड़ी के ऊपर निरापद रह कर तुम दो हाथियों की लड़ाई सानन्द देख सकते हो, उसी प्रकार धन के बल पर निश्चिन्त रह कर तुम [बिना जोखिम के] अपनी प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति कर सकते हो ।। ८ ।।

---

१ न लेनेवाला, अग्राह्य २ युद्ध-विजय में पाया हुआ धन ३ जिसका उत्तराधिकारी न हो ४ अधिकार ५ माता-पिता ६ धात्री ७ समूह, संसार ८ हाथियों की लड़ाई ।

शॆय्क पॊरुळैच् चॆऱुनर् शॆरुक्करुक्कुम्
ऍह्कदऩिऱ् कूरिय दिल् ।। ९ ।।

पौरुष से धन विपुल प्राप्त कर, दलन करो जो रिपु उद्दण्ड ।
धन से बढ़ कर नहीं जगत् में, शस्त्र अन्य है तीक्ष्ण प्रचण्ड ।। ९ ।।

[विहित मार्ग से, पौरुष के बल पर] धन का पर्याप्त अर्जन करो। शत्रुओं के दर्प और धृष्टता का दलन करने योग्य धन से अधिक तीक्ष्ण शस्त्र और कोई नहीं है ।। ९ ।।

ऒण्बॊरुळ् काऴ्प्प इयट्ऱियार्क्कु ऍऩ्बॊरुळ्
एऩै यिरण्डुम् ऒरुङ्गु ।। १० ।।

श्रम-पौरुष से अर्जित धन का जिनके पास विपुल भण्डार ।
उन्हें न जग में कुछ कठिनाई, सुलभ सुयश-आनन्द अपार ।। १० ।।

श्रम और पुरुषार्थ से अर्जित और सञ्चित विपुल धन-राशि धर्म और आनन्द दोनों की देनेवाली है। [धर्म से कमाया धन सभी लौकिक-पारलौकिक सुखों का अचूक साधन है।] ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ७७
पडमाट्चि (सैन्य-विभव)

उरुप्पमैन् तुरुञ्जा वॆल्पडै वेन्दऩ्
वॆरुक्कैयुळ् ऍल्लाम् तलै ।। १ ।।

हय-गज-रथ-पदाति चतुरंगिणि[1], तृणवत्[2] जिसको सकल विपत्ति ।
निर्भय विजयवाहिनी[3] ऐसी, नृप की सर्वोपरि सम्पत्ति ।। १ ।।

सभी अंगों से परिपूर्ण (गज, रथ, अश्व, पदाती युक्त चतुरंगिणी), सभी बाधाओं से निर्भीक, विजयप्रदायिनी सेना ही राजा का सर्वोपरि धन है ।। १ ।।

उलैविडत् तुरुञ्जा वऩ्कण् तॊलैविडत्तुत्
तॊल्पडैक् कल्लाल् अरिदु ।। २ ।।

निज बल क्षीण हो रहा, त्यों-त्यों रिपु का बढ़ता प्रबल दबाव ।
सहज क्रमागत[4] क्षत्रियत्व ही है समर्थ, कर सके बचाव ।। २ ।।

युद्ध में अपनी संख्या की कमी और संकटापन्न अवस्था होते हुए भी सारी बाधाओं और रण के आघातों का सामना करने की निर्भीकता, मूल-

१ घोड़ा, हाथी, रथ, पैदल से युक्त चतुरंगिणी फ़ौज २ तिनके के समान
३ सदा जीतनेवाली सेना ४ पुश्त दर पुश्त के वीर, अनेक युद्ध जीते हुए वीर ।

सैन्य के अतिरिक्त और किसी सैन्य में नहीं होती। [मूल-सैन्य, वेतनभोगी-सैन्य, ग्राम-सैन्य, वन्य-सैन्य, सहायक-सैन्य, शत्रु-सैन्य, सेना के इन ६ प्रकारों में से मूल-सैन्य ही सर्वोत्कृष्ट होता है। मूल-सैन्य वह सेना है जो राष्ट्र की रक्षा को अपना कर्तव्य समझ कर, बिना किसी लोभ और भय के, प्राणोत्सर्ग करने का सहज स्वभाव रखती है] ॥ २ ॥

ऑलित्तक्काल् ऍन्नाम् उवरि ऍलिप्पहै ?
नाहम् उयिर्प्पक् कॅडुम् ॥ ३ ॥

दल असंख्य चूहों का उमड़ा, गरजा-घुमड़ा सिन्धु समान।
विषधर की फुफकार मात्र से रहा न उनका नाम निशान ॥ ३ ॥

चूहों (के विशाल समूह) जैसी दुश्मनों की सेना सागर की तरह गर्जना करे तो भी क्या ? (वीर-रूपी) नागराज की एक फुफकार से ही उनका सर्वनाश हो जायेगा ॥ ३ ॥

अऴिविऩ्ऱु अऱैपोहा दाहि वऴिवन्द
वऩ्ह णदुवे पडै ॥ ४ ॥

है अतीत[1] रण-गौरव जिनका, स्वामिभक्त, अतुलित बलवन्त।
वही सैन्य आदर्श सैन्य है, उसी सैन्य की शक्ति अनन्त ॥ ४ ॥

युद्ध में नाश को न प्राप्त होनेवाली, शत्रुओं द्वारा प्रवंचित न होने वाली, वंशानुगत वीरता वाली ही सेना (वस्तुतः श्रेष्ठ सेना) है ॥ ४ ॥

कूट्रुडऩ्ऱु मेल्वरिऩुम् कूडि ऍदिर्निऱ्कुम्
आट्ऱ लदुवे पडै ॥ ५ ॥

कोप कराल काल का, यम से भी लड़ने को जो कटिबद्ध।
वही वस्तुतः सैन, विषम रिपु के सम्मुख टिकती सम्बद्ध[2] ॥ ५ ॥

स्वयं यमराज क्रुद्ध हो आक्रमण कर बैठे, तो भी एक साथ मिलकर सामना करने की सामर्थ्य (और साहस) जिसमें हो वही सेना (वस्तुतः श्रेष्ठ सेना) है ॥ ५ ॥

मऱमाऩम् माण्ड वऴिच्चॅलवु तेट्ऱम्
ऍऩनाऩ्गे एमम् पडैक्कु ॥ ६ ॥

परम्परा का शौर्य[3], पराक्रम, रण-गौरव, नृप का विश्वस्त।
चार गुणों से युक्त सैन ही सैन ! शत्रु को करती ध्वस्त ॥ ६ ॥

शौर्य, मान, पूर्व वीरों द्वारा ग्रहीत सन्मार्ग का अनुसरण, राजा अथवा नेता की विश्वासपात्रता— सेना के ये चार श्रेष्ठ गुण हैं ॥ ६ ॥

---

१ बीता हुआ इतिहास २ एकजुट होकर ३ पुश्तों की वीरता।

तार्ताङ्गिच् चॅलुवदु तानै तलैवन्द
पोर्ताङ्गुम् तन्मै अऱिन्दु ।। ७ ।।

हमले की चपेट को सहकर, रिपु की युद्धनीति को जान,
प्रत्याक्रमण[1] शत्रु पर करना, कुशल सैन्य की यह पहचान ।। ७ ।।

स्वयं पर आक्रमण करनेवाले शत्रु की युद्ध में जमे रहने की सामर्थ्य अथवा व्यूह-रचना को जानकर, उनकी धूल से स्वयं को बचाकर उनपर प्रति-आक्रमण करना ही (सेना के लिए) श्रेयस्कर है ।। ७ ।।

अडट्रहैयुम् आट्रलुम् इल्लॅनिनुम् तानै
पडैत्तहैयाल् पाडु पॅरुम् ।। ८ ।।

हमला करने में अशक्त, प्रतिरक्षा[2] में भी हैं असमर्थ।
किन्तु कुशल रणसज्जा[3], रूपक[4] भी कर देता रिपु को व्यर्थ ।। ८ ।।

(स्वयं) आक्रमण करने की वीरता अथवा (स्वयं पर) आक्रमण होने पर सामना कर सकने की सहनशक्ति न होने पर भी सेना अपने बाह्य अलंकारों (सुअलंकृत रथ, गज, अश्व, पताका, छत्र आदि) के कारण गौरव पा जाती है ।। ८ ।।

शिरुमैयुम् शॅल्लात् तुनियुम् वरुमैयुम्
इल्लायिन् वॅल्लुम् पडै ।। ९ ।।

किसी हेतु से निर्बलता-भय, [प्रभु से] घृणा, दैन्य[5] का भाव—
निश्चय विजयवाहिनी ! जिसमें इन कमियों का निपट अभाव ।। ९ ।।

(स्वयं की शक्ति घटती जाने के कारण) क्षीण, मन में (नेता के दुर्व्यवहार के कारण उसके प्रति) घृणा, अथवा (वेतन आदि धन न प्राप्त होने से) दैन्य, जिस सेना में नहीं होगा वह (शत्रु पर) विजय प्राप्त करेगी। (जिस सेना का संख्या-बल क्षीण नहीं है, नेता के प्रति सतत अविश्वास के कारण जिसका आत्म-बल क्षीण नहीं है, और जिसका अर्थ-बल क्षीण नहीं है, वैसी सेना ही शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकेगी) ।। ९ ।।

निलैमक्कळ् शाल उडैत्तॅनिनुम् तानै
तलैमक्कळ् इल्वळि इल् ।। १० ।।

सेना में असंख्य मर-मिटनेवाले हैं बलिदानी शूर।
कुशल सेनपति - सञ्चालक के विना सफलता कोसों दूर ।। १० ।।

---

१ जबाबी हमला २ बचाव का युद्ध ३ व्यूहरचना ४ ऊपरी दिखाव, साज-बाज ५ दीनता, अर्थाभाव ।

किसी सेना में, दीर्घकाल तक स्थिर रहकर युद्ध कर सकनेवाले वीर चाहे असंख्य हों, परन्तु यदि उसमें योग्य नेतृत्व करनेवाला नेता नहीं है तो वह सेना निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाती है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ७८
पडैच् चॆरुक्कु (सैन्य-गौरव)

ऎन्नैमुन् निल्लन्मिन् तॆव्विर्; पलर्ऎन्नै
मुन्निन्ऱु कल्निन् ऱवर् ।। १ ।।

मेरे प्रभु से रण लेना, शत्रुओ ! व्यर्थ सर्वथा गुमान ।
प्रभु से हत असंख्य रिपुओं की मृतकशिला[1] हैं विजय-निशान ।। १ ।।

शत्रुओ ! मेरे नेता के समक्ष युद्ध के लिए खड़े मत होओ; मेरे नेता के समक्ष युद्ध के लिए आकर, मृत्यु को प्राप्त हो, शिलावत् हो चुके कई लोग हैं ।। १ ।।

कान मुयलॆय्द अम्बिनिल् यानै
पिऴैत्तवेल् एन्दल् इनिदु ।। २ ।।

वन में शशक[2] सशंक भागते का अचूक भी व्यर्थ शिकार ।
अस्त्र धन्य ! गज पर प्रतक्ष यदि किया, भले वह निष्फल वार ।। २ ।।

वन में भागते खरगोश को अचूक निशाना बनानेवाले तीर को धारण करने की अपेक्षा, खुले स्थान पर खड़े हाथी पर निशाना साधकर चूके हुए भाले को धारण करना श्रेयस्कर है । (पलायन करते कायर शत्रु को मारकर विजयी होने की अपेक्षा, वीरतापूर्वक सामना करनेवाले शत्रु के सम्मुख असफल होना श्रेयस्कर है ।) ।। २ ।।

पेराण्मै ऎन्ब तऱुकण्; ऒन्ऱु उऱ्ऱक्काल्
ऊराण्मै मट्ऱदन् अक्ह्हु ।। ३ ।।

रण में अटल प्रचण्ड शौर्य्य साकार वीर की है तलवार ।
त्रस्त विपन्न शत्रु पर करुणा किन्तु खड्ग[3] की तीखी धार ।। ३ ।।

शत्रुओं का सामना करनेवाली वीरता को (शास्त्रकार) लोग उच्च-कोटि का पौरुष मानते हैं, (परन्तु) संकट आने पर शत्रु का उपकार करना, यह उस पौरुष की तीखी धार (अर्थात् परिसीमा) है, यह शास्त्र-कारों का कथन है ।। ३ ।।

---

१ युद्धाहतों की स्मारकशिलाएँ   २ खरगोश, खरहा   ३ तलवार ।

कैवेल् कळिट्रोंडु पोक्कि वरुबवन्
मॅय्वेल् पऱियां नहुम् ॥ ४ ॥

रिपु-मतंग[1] में धाँस शेल[2] निज, निज उर से रिपु-शेल[3] निकाल।
काल-सदृश, रिपु पर प्रहार हित सुस्मित[4] —वही शूर विकराल ॥ ४ ॥

हाथ के भाले को [शत्रु के] गज पर संधान कर, अन्य भाले को प्राप्त करने का प्रयत्न करता [निरस्त्र] वीर, अपनी छाती पर आकर लगे भाले को देखकर हर्षित हुआ और उसे खींचकर सन्नद्ध हुआ। (वीर के साहस और युद्धप्रियता के लिए कहा गया है कि हाथी जैसे भयंकर प्राणी के साथ युद्धकर, उसे पराजित कर निःशस्त्र हो चुका वीर, फिर से लड़ने के लिए शस्त्र की तलाश में है और इसलिए भाले को पाकर वह हर्षित हुआ; चाहे फिर वह उसकी छाती में आ लगा भाला ही क्यों न हो; छाती के घाव की परवाह न करता हुआ वह फिर सन्नद्ध हो गया।) ॥ ४ ॥

विऴित्तकण् वेल्कोंण्डु ऍऱिय अऴित्तिमैप्पिन्
ओट्टन्ऱो वन्ह णवर्क्कु ॥ ५ ॥

झपक गई यदि आँख, शत्रु का ज्योंही हुआ खड्ग-सञ्चार।
क्या यह नहीं पराभव[5] रिपु से ? क्या यह नहीं शत्रु से हार ? ॥ ५ ॥

शत्रु को क्रुद्ध हो देखनेवाली आँख, शत्रु द्वारा संधानित भाले को देखकर यदि झपक जाये तो क्या वह वीर की पराजय नहीं है ? (वह निश्चय दुर्बलता का प्रतीक है।) ॥ ५ ॥

विऴुप्पुण् पडादनाळ् ऍल्लाम् वऴुक्किनुळ्
वैक्कुम्तन् नाळै ऍडुत्तु ॥ ६ ॥

दिवस गये वे व्यर्थ, न जिनमें तन पर लगे युद्ध के घाव।
'रण में घाव', यशी जीवन है—यही शूर का सहज स्वभाव ॥ ६ ॥

वीर, अपने बीते दिनों की गणना कर, उसमें से उन दिनों को निष्प्रयोजन दिन मानकर घटा देता है, जब उसके शरीर पर गहरे घाव नहीं लगे ॥ ६ ॥

शुऴलुम् इशैवेण्डि वेण्डा उयिरार्
कऴल्याप्पुक् कारिहै नीर्त्तु ॥ ७ ॥

अमर कीर्ति की अमर लालसा, प्राणों का न मोह-सञ्चार।
पद के रण-कंकण[6] की झंकृति[7] करती उनका सुयश-प्रसार ॥ ७ ॥

---

१ शत्रु के हाथी २ बर्छी ३ शत्रु द्वारा मारी गई अपनी छाती में लगी बर्छी ४ विहँसता हुआ ५ दब जाना ६ जूझ का कड़ा सैनिक के पैर में ७ झंकार।

विश्व-व्यापी कीर्ति की लालसा में, प्राणों का मोह न रखनेवाले वीर द्वारा पैरों में पहना हुआ कड़ा उसकी शोभा का कारण होता है ॥ ७ ॥

उऱिऩुउयिर् अञ्जा मऱवर् इऱैवऩ्
शॅऱिऩुम्शीर् कुऩ्ऱल् इलर् ॥ ८ ॥

युद्ध देखकर, रण-उमंग में, एकमात्र रण का उत्साह।
नृप-निषेध का भी न ध्यान है, प्राणों की न उन्हें परवाह ॥ ८ ॥

युद्ध आने पर प्राणों का भय न रख युद्ध के लिए सन्नद्ध वीरों का गुण (युद्धोत्साह), राजा स्वयं (युद्ध से) रोके तो भी, कुंठित नहीं होता ॥ ८ ॥

इऴैत्तदु इहवामैच् चावारै यारे
पिऴैत्तदु ऑरुक्किर् पवर् ? ॥ ९ ॥

प्रण-पालन में प्राण किये उत्सर्ग, भले बन सका न काम।
बलिदानी इनको, न जगत् में कोई कर सकता बदनाम ॥ ९ ॥

अपने प्रण को सत्य सिद्ध करने के लिए प्राणों का त्याग करने को प्रस्तुत वीरों को, विफलता के अपराध में दंडित करने की सामर्थ्य भला किसमें है ? (प्राणोत्सर्ग से उन्होंने अपनी सफलता सिद्ध कर दी। सफलता-विफलता तो विधाता के विधान अथवा अन्य कारणों पर निर्भर है।) ॥ ९ ॥

पुरन्दार्कण् नीर्मल्हच् चाहिर्पिऩ् शाक्काडु
इरन्दुकोळ् तक्कदु उडैत्तु ॥ १० ॥

जिसकी वीरमृत्यु सुनकर नृप-नयनों से बहती जलधार।
भीख माँगकर वाञ्छनीय है ऐसी मृत्यु कीर्ति-आगार[1] ॥ १० ॥

(वीर की) मृत्यु का समाचार पाकर यदि (उसके) संरक्षक राजा की आँखों से जलधार बहे तो (उस वीर के लिए) याचना करके प्राप्त करने पर भी वह मृत्यु श्रेष्ठ वस्तु होगी ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ७९
नट्पु (मैत्री)

शॅयऱ्करिय यावुळ नट्पिऩ् ? अदुबोल्
विऩैक्करिय यावुळ काप्पु ? ॥ १ ॥

---

१ यश का धाम।

भला मैत्री से बढ़कर जग में है दुर्लभ कौन पदार्थ ?
रिपु से रक्षा करने में, बन्दिश[1] न चौकसी[2] अन्य यथार्थ ॥ १ ॥

मैत्री के सदृश करने योग्य कौन सा कार्य है ? और उसके सदृश शत्रु-रक्षा में समर्थ और कौन सी वस्तु है ? (अनन्य है) ॥ १ ॥

निऱैनीर नीरवर् केण्मै पिऱैमदिप्
पिन्नीर पेदैयार् नट्पु ॥ २ ॥

सुदृढ़ मित्रता बुद्धिमान् की चन्द्रकला सा नित्य विकास ।
क्षीण मित्रता बुद्धिहीन की पूर्णचन्द्रवत् दिन-दिन ह्रास ॥ २ ॥

बुद्धिमानों की मैत्री चन्द्रमा की बढ़ती कला के समान होती है, जबकि बुद्धिहीनों की मैत्री पूर्णिमा के बाद के चन्द्रमा की कला की तरह (दिन-प्रतिदिन घटनेवाली) होती है ॥ २ ॥

नविल्दोऱुम् नूल्नयम् पोलुम् पयिल्दोरुम्
पण्बुडै याळर् तोडर्पु ॥ ३ ॥

सज्जन का सत्संग दिनोदिन करता है सुख में अभिवृद्धि ।
जिस प्रकार सद्ग्रन्थ-मनन से होती नित्य ज्ञान में वृद्धि ॥ ३ ॥

ज्यों-ज्यों सम्पर्क बढ़ता जाता है, गुणवान् व्यक्तियों की मैत्री अधिकाधिक आनन्द देती जाती है, जिसप्रकार अध्ययन (मंथन) करते-करते सद्ग्रन्थ का आनन्द (और ज्ञान) बढ़ता जाता है ॥ ३ ॥

नहुदऱ् पोरुट्टन्ऱु नट्टल्; मिहुदिक्कण्
मेऱ्शेन्ऱु इडित्तऱ् पोरुट्टु ॥ ४ ॥

इतना नहीं निमित्त, मित्र से करलें केवल हासविलास ।
लख कुपन्थ, अंकुस कठोर[3] से लाओ उसे सुपथ के पास ॥ ४ ॥

मैत्री का उद्देश्य परस्पर हँसी-मज़ाक मात्र नहीं है; वरन् सीमा का अतिक्रमण कर किसी कार्य पर तत्पर मित्र को आगे बढ़कर कठोरता से रोकना (भी) है ॥ ४ ॥

पुणर्च्चि पऴहुदल् वेण्डा; उणर्च्चिदान्
नट्पाम् किऴमै तरुम् ॥ ५ ॥

मिलना-जुलना, साथ-संग नित, नहीं मित्रता का आधार ।
हृदय मिले, भावना मिलीं— बस सुदृढ़ मित्रता सागर-पार ॥ ५ ॥

---

१ दूरदर्शिता, पहले से उपाय २ सावधानी ३ कठिन भर्त्सना और वर्जना से रोकथाम

मैत्री-स्थापना के लिये संपर्क और परिचय की आवश्यकता नहीं; भावना की समानता ही मैत्री का अधिकार (दे) देगी। (भले ही मित्र फिर कितना ही दूर और प्रायः भेंट के लिए दुर्लभ हो।) ॥ ५ ॥

मुह़नह नट्पदु नट्पन्ऱु; नॆञ्जत्तु
अह़नह नट्पदु नट्पु ॥ ६ ॥

मुख पर है मुस्कान, मित्रता का यह केवल नहीं प्रमान[1]।
अन्तस् का सौहार्द[2] प्रकट करता है सही मित्र का मान[3] ॥ ६ ॥

केवल मुख पर हसी प्रकट हो जाये तो वह मैत्री नहीं। हृदय भी खिल जाये ऐसे आंतरिक प्रेम से मित्रता करना ही मैत्री है ॥ ६ ॥

अऴिवि नवैनीक्कि आऱुय्त्तु अऴिविन्कण्
अल्लल् उऴप्पदाम् नट्पु ॥ ७ ॥

बुरी राह से दूर हटाकर, उसे चलाता सुन्दर राह।
दुर्दिन में दुख का भागी बन, मित्र संग करता निर्वाह ॥ ७ ॥

विनाशक मार्ग से दूर हटाकर, सुमार्ग पर चलाकर, विनाशकाल (आ ही जाये तो उस) में साथ रहकर दुख का सहभागी होना ही मैत्री (का लक्षण) है ॥ ७ ॥

उडुक्कै इऴन्दवन् कैपोल आङ्गे
इडुक्कण् कळैवदाम् नट्पु ॥ ८ ॥

वस्त्र खिसकते को सम्हालने में तत्पर तुरन्त हैं हाथ।
विपति-ग्रस्त यदि मित्र, सम्हालें, प्रस्तुत रहें मित्र के साथ ॥ ८ ॥

कटि से खिसकते वस्त्र को झट थाम लेनेवाले हाथों की तरह, मित्र पर आपदा आते ही तुरन्त उपस्थित हो उसे दूर करना ही मैत्री है ॥ ८ ॥

नट्पिऱ्कु वीट्ऱिरुक्कै यादॆनिल् कोट्पिन्ऱि
ऒल्लुम्वाय् ऊन्ऱुम् निलै ॥ ९ ॥

समय पड़े पर, अपने वश भर, बाकी रखती नहीं उपाय।
रानी हृदयासन की ऐसी, अहो! 'मित्रता' सदा सहाय ॥ ९ ॥

सर्वकाल में अभेद के साथ, यथाशक्ति सहायक हो अवलंब दे यही मैत्री का सर्वश्रेष्ठ राजासन है ॥ ९ ॥

इनैयर् इवरॆमक्कु इन्नम्याम् ऎन्ऱु
पुनैयिनुम् पुल्लॆन्नुम् नट्पु ॥ १० ॥

---

१ सुवृत, प्रमाण २ मित्रता ३ परिमाण, मापदण्ड।

'हम उनके प्रति यों विमुग्ध हैं', 'वे हम पर देते हैं जान'—
यों कहना, मित्रता रसातल पहुँचाना[1] —ये एक समान ॥ १० ॥

'ये मेरे लिए यों हैं', 'मैं इनके लिए यों हूँ', यों उपचार-मात्र के लिए भी बोला जाये तो मैत्री तिनके की तरह (मूल्यहीन) हो जाती है। (मैत्री में 'ये, मैं' इतना अंतर भी नहीं होना चाहिये।) ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८०
नट्पु आरायुद्ल् (मित्रता की परख)

नाडादु नट्टलिऱ् केडु इल्लै; नट्टपिन्
वीडु इल्लै नट्पाळ् पवर्क्कु ॥ १ ॥

नहीं मित्रता के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना आसान[2]।
विन परखे इसलिए मित्रता कर लेना है हानि महान् ॥ १ ॥

मैत्री का समादर करनेवालों के लिए, किसी से एक बार मैत्री हो जाने के बाद, फिर उससे छुटकारा नहीं है (मित्रता नित्य छोड़ने-पकड़ने की वस्तु नहीं है); इसलिए बिना परखे मैत्री करने जैसा कोई हानिकर कार्य नहीं है ॥ १ ॥

आय्न्दाय्न्दु कोॅळ्ळादान् केण्मै कडैमुऱै
तान्जाम् तुयरम् तरुम् ॥ २ ॥

भली भाँति विन कसे कसौटी पर मित्रता अगर ली ठान।
संघातक मित्रता अन्ततः ऐसी सदा दुःख की खान ॥ २ ॥

विविध प्रकार से परीक्षा करके जो मैत्री स्थापित नहीं की गई है, वह अंततोगत्वा स्वयं के लिए घातक एवं दुःख और विनाश का कारण बनती है। (शत्रु का कार्य, ऐसी मैत्री ही कर डालती है।) ॥ २ ॥

कुणनुम् कुडिमैयुम् कुट्रमुम् कुन्ऱा
इननुम् अऱिन्दियाक्क नट्पु ॥ ३ ॥

परम्परा-कुल, संगी-साथी, गुण-दोषों पर रखकर ध्यान।
जान-परख कर मित्र बनाओ, अच्छा-बुरा व्यक्ति पहचान ॥ ३ ॥

गुण, कुल, दोष, और उसके सम्बन्धियों के स्वभाव को जान-परखकर ही किसी से मैत्री करनी चाहिये ॥ ३ ॥

कुडिप्पिऱन्दु तन्कण् पळिनाणु वानैक्
कोॅडुत्तुम् कोॅळल्वेण्डुम् नट्पु ॥ ४ ॥

1 मित्रता को तुच्छ और निन्द्य बनाना 2 सरल।

दुर्गुणहीन सुकुल में[१] जन्मा, भूल-चूक पर आती ग्लान[२]।
किसी मूल्य पर करो मित्रता, यह सुमित्र की है पहचान ॥ ४ ॥

उच्च कुल में जन्म लिये हुए (इसलिए प्रयत्नपूर्वक बुरे कर्म से बचने वाले) और (यदि बुरे काम हाथ से हो ही गये तो) बदनामी से लज्जित होनेवाले की मैत्री कोई भी मूल्य देकर प्राप्त करनी चाहिये ॥ ४ ॥

अऴच्चॊल्लि अल्लदु इडित्तु वऴक्करिय
वल्लार्नट्पु आय्न्दु कॊळल् ॥ ५ ॥

बुरे काम पर डाँट-डपट, लज्जित कर तुम्हें दिखावे राह।
व्यवहारिक[३] अनुभवी व्यक्ति को चुनो मित्र, यह सही सलाह ॥ ५ ॥

गलत कार्य करने पर जो झिड़क कर तुमको (रुलाकर) रोके, और (अगर गलत कार्य हाथ से हो ही गया तो) अनुताप दिलाकर (भविष्य में ऐसे काम करने से) तुमको रोके, इस तरह जगत् के व्यवहार को समझने-वाले व्यक्ति को परख कर उसकी मैत्री प्राप्त करनी चाहिये ॥ ५ ॥

केट्टिनुम् उण्डोर् उऱुदि; किळैञरै
नीट्टि अळप्पदोर् कोल् ॥ ६ ॥

है विपत्ति भी देन ईश की, कभी विपति भी है वरदान।
कितना कौन सुहृद है, विपदा में खुलता इसका परिमान[४] ॥ ६ ॥

विपत्ति में भी एक प्रकार की अच्छाई है। वह विपत्ति मित्रों के स्वभाव-रूपी खेत के संपूर्ण विस्तार को नापने का मापदंड बन जाती है। (इस कुरळ् का भाव 'रहिमन विपदा हू भली जो थोरे दिन होय' जैसा है। और भी—'आपतिकाल परखिये चारी। धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी॥' —ये चारो ही 'मित्र' की संज्ञा में आते हैं।) ॥ ६ ॥

ऊदियम् ऎऩ्बदु ऒरुवर्कुप् पेदैयार्
केण्मै ऒरीइ विडल् ॥ ७ ॥

मूर्खजनों की दैवयोग से अगर मित्रता जाये छूट।
गया नहीं भर पाया सब कुछ, हानि नहीं यह लाभ अटूट[५] ॥ ७ ॥

किसी व्यक्ति के लिए यह (यथार्थ) लाभ-प्राप्ति ही है कि मूर्खों की मैत्री से छुटकारा प्राप्त कर ले ॥ ७ ॥

उळ्ळऱ्क उळ्ळम् शिऱुकुव; कॊळ्ळऱ्क
अल्लऱ्कण् आट्ऱुप्पार् नट्पु ॥ ८ ॥

---

१ पवित्र आचरण पर चलनेवाले परिवार में २ लज्जा, पछतावा ३ जगत्-व्यवहार को जाननेवाला, व्यवहारकुशल ४ परिमाण, मान ५ स्थायी।

त्याग विचारों का समुचित, जो करते हत[1] मन का उत्साह।
त्याग सर्वथा उचित मित्र का, जो संकट में त्यागे बाँह[2] ॥ ८ ॥

जिस प्रकार उत्साह को कुंठित करनेवाली बातों का मन में विचार तक नहीं लाना चाहिये, उसी प्रकार संकट आने पर साथ छोड़ देनेवालों की मैत्री भी त्याग देनी चाहिये ॥ ८ ॥

कॆडुङ्कालैक् कैविडुवार् कॆण्मै अडुङ्कालै
उळ्ळिऩुम् उळ्ळम् शुडुम् ॥ ९ ॥

संकट में जो साथ छोड़ दे, ऐसे प्रियजन का व्यवहार।
मरनकाल तक नहीं बिसरता[3], मन पर करता सदा प्रहार ॥ ९ ॥

विपत्ति में हाथ (साथ) छोड़ देनेवालों की (पूर्व की) मैत्री की याद, मरण-काल तक मन को ताप देती रहेगी; (वह कभी भूलती नहीं।) ॥ ९ ॥

मरुवुह माशट्ऱार् कॆण्मै; ऒऩ्ऱीत्तुम्
ऒरुवुह ऒप्पिलार् नट्पु ॥ १० ॥

सज्जन की मित्रता मुनासिब[4], सज्जन का समुचित[4] सत्संग।
ले-देकर भी पिण्ड छुड़ाओ तजो सदा दुर्जन का संग ॥ १० ॥

निर्मल चरित्रवालों की मैत्री प्राप्त करनी चाहिये; अयोग्य व्यक्ति की मैत्री कुछ देकर भी छोड़ देनी चाहिये। (अयोग्य व्यक्ति की मैत्री छोड़ देने के लिए कुछ मूल्य भी चुकाना पड़े तो भी उसका त्याग लाभदायक है।) ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८१
पळैमै (चिर-मैत्री)

पळैमै ऎऩप्पडुवदु यादॆऩिऩ् यादुम्
किळमैयैक् कीळ्न्दिडा नट्पु ॥ १ ॥

दृढ़ मित्रता पुरानी में, आपस में नेहपूर्ण अधिकार[5]।
क्षति[6] पर भी, न मित्र के मन में, चुभता[7] कभी मित्र-व्यापार[8] ॥ १ ॥

---

१ भंग करते, तोड़ते २ साथ छोड़ दें ३ भूलता ४ ठीक, उचित है ५ कर्तव्य को मनमाना निबाहना ६ हानि, अनिष्ट ७ खटकता है ८ मित्र का काम, भले ही उससे हानि हो गई हो।

चिरमैत्री (का लक्षण) किसे कहा जाये' यों प्रश्न उठे तो उत्तर यही है कि मित्र अपना अधिकार समझकर कोई कार्य (चाहे गलत ही सही) कर जाये तो उसका तिरस्कार न किया जाये ॥ १ ॥

नट्पिऱ् कुऱुप्पुक् कॆळ्ुतहैमै; मट्ऱदऱ्कु
उप्पादल् शान्ऱोर् कडन् ॥ २ ॥

मित्र वही तो अन्तरंग हैं! एक दूसरे पर अधिकार।
भला-बुरा व्यवहार परस्पर, निर्विकार[1] मन, सब स्वीकार ॥ २ ॥

मित्र का अधिकारपूर्वक कोई काम करना मैत्री का अंग है; और दूसरा उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार करे, यह उसकी बुद्धिमत्ता और कर्तव्य है ॥ २ ॥

पऴहिय नट्पॆवन् शॆय्युम् कॆळ्ुतहैमै
शॆय्दाङ्गु अमैयाक् कडै ॥ ३ ॥

अगर मित्र की करनी को, हम समझ न पाये अपना काम।
तो कैसी मित्रता पुरानी, नाम मित्रता का बदनाम ॥ ३ ॥

मित्र द्वारा अपना अधिकार समझकर उसके द्वारा किये गये काम का उत्तरदायित्व उसी प्रकार सहर्ष स्वीकार किया जाना चाहिये, मानो वह स्वयं अपना ही किया हुआ काम है। अन्यथा फिर सच्ची मैत्री की चिरकालिकता का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? ॥ ३ ॥

विऴैतहैयान् वेण्डि यिरुप्पर् कॆळ्ुतहैयार्
केळादु नट्टार् शॆयिन् ॥ ४ ॥

मित्र मित्रता के नाते, प्रतिकूल अगर कर बैठे कार्य।
'हमने स्वयं किया', यह समझें, हो सहर्ष हमको स्वीकार्य[2] ॥ ४ ॥

मित्र यदि बिना पूछे ही कोई कार्य कर डालता है, तो बुद्धिमान् जन उसके पीछे की अधिकार-भावना को समझकर उस (भावना) की प्रशंसा कर, उस कार्य की भी प्रशंसा कर, उसे स्वीकार करते हैं ॥ ४ ॥

पेदैमै ऒन्ऱो पॆरुङ्किऴमै ऎन्ऱुणर्ह
नोदक्क नट्टार् शॆयिन् ॥ ५ ॥

भूल मित्र की यदि पीड़ा पहुँचाये तो हम रहें उदार।
अनजाने[3], या अति सनेह में, मित्र भूल का हुआ शिकार ॥ ५ ॥

मित्र यदि अवांछनीय पीड़ादायक कार्य कर बैठे तो उसे उसका अज्ञान अथवा अति आत्मीयता के फलस्वरूप असावधानी मान लेना चाहिये ॥ ५ ॥

---

१ मन में बिना मैल लाये २ स्वीकार ३ अज्ञान में।

अॅल्लैक्कण् नित्ऱार् तुऱवार् तॉलैविडत्तुम्
तॉल्लैक्कण् नित्ऱार् तॉडर्पु ॥ ६ ॥

यही मित्रता का गौरव है, अगर मित्र से पहुँचे त्रास।
कर उपेक्षा[1], शिथिल न होने देते कभी मित्रता-पाश[2] ॥ ६ ॥

मैत्री की मर्यादा माननेवाले जन, अपने मित्रों से त्रासदायक कार्य हो जायें, तो भी अपने चिरकाल के मित्र का साथ नहीं छोड़ते ॥ ६ ॥

अऴिवन्द शॅय्यिनुम् अन्बऱार् अन्बिन्
वऴिवन्द केण्मै यवर् ॥ ७ ॥

है सौहार्द पुराना जिनमें, गाढ़ी जहाँ प्रीति की रीति।
गहन[3] अनिष्ट[4] मित्र से पाकर, फिर भी नहीं त्यागते प्रीति ॥ ७ ॥

मित्र अनिष्टकारी कार्य भी कर दे तो स्नेह में पनपे और बँधे मित्र-जन उससे स्नेह करना नहीं छोड़ते ॥ ७ ॥

केऴिऴुक्कम् केळाक् कॅऴुतहैमै वल्लार्क्कु
नाऴिऴुक्कम् नट्टार् शॅयिन् ॥ ८ ॥

जिन्हें सुहृद[5] की निन्दा अप्रिय-असहनीय, वे जन मतिमान्,
धन्य दिवस मानते, मित्र जब करता कोई चूक महान् ॥ ८ ॥

दूसरे लोग यदि अपने घनिष्ट मित्र के गलत कामों की आलोचना करें तो उसे अप्रिय माननेवाले, न सहन करनेवाले मित्र, उस दिन को सार्थक मानते हैं जब मित्र ने कोई गलत काम कर दिया हो। (उसके गलत काम को भी अच्छी मनोभावना के साथ ही स्वीकार करते हैं।) ॥ ८ ॥

कॅडाअ वऴिवन्द केण्मैयार् केण्मै
विडाअर् विऴैयुम् उलहु ॥ ९ ॥

दृढ़ सच्ची मित्रता निबाही, ऐसे मित्र जगत् में धन्य।
पाकर कष्ट, मित्रता कायम रखना, उससे अधिक अनन्य[6] ॥ ९ ॥

चिरकाल से अविच्छिन्न सच्ची मैत्री न तोड़नेवालों की, संसार हृदय से प्रशंसा करेगा ॥ ९ ॥

विऴैयार् विऴैयप् पडुप पऴैयार्कण्
पण्बिन् तलैप्पिरिया दार् ॥ १० ॥

---

१ निगाह में नहीं लाते २ मैत्री-बन्धन ३ गहरा ४ अहित ५ मित्र
६ अनुपम।

किसी परिस्थिति में न त्यागते, अटल मित्रता का निर्वाह ।
ऐसे मित्रों के सनेह की रिपु भी करने लगते चाह ॥ १० ॥

(गलत काम कर जाने पर भी) चिरकाल के मित्र से मैत्री का सम्बन्ध तोड़ न देनेवाले व्यक्ति, अपने शत्रुओं के भी स्नेह को पाने का गौरव प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८२

ती नट्पु (बुरी मैत्री)

परुहुवार् पोलिऩुम् पण्बिलार् केण्मै
पॆरुहलिऱ् कुऩ्ऱल् इऩिदु ॥ १ ॥

मधु से मधुर प्रीति लगती हो, फिर भी अगर मित्र गुणहीन ।
ऐसी व्यर्थ मित्रता से श्रेयस्कर[1] रहना मित्र-विहीन ॥ १ ॥

प्रेम के कारण गहरा मित्र लगे भी तो, गुणहीन व्यक्ति की मित्रता बढ़कर विस्तृत होने की अपेक्षा घटकर कम होती जाये, यही श्रेयस्कर है ॥ १ ॥

उऱुिऩ्नट्टु अऱुिऩ्ओरुउम् ओप्पिलार् केण्मै
पॆऱिऩुम् इऴप्पिऩुम् ऎऩ् ? २ ॥

स्वारथ ही का साथ, न स्वारथ, तो क्षण में करते विच्छेद[2] ! ।
स्वारथ के साथी के मिलने और गवाँने[3] में क्या भेद ? ॥ २ ॥

स्वार्थ सधते समय मित्रता करने, और स्वार्थ न सधते समय हट जानेवाले अयोग्य व्यक्तियों की मित्रता प्राप्त कर ली तो क्या ? खो दी तो क्या ? ॥ २ ॥

उऱुवदु शीर्तूक्कुम् नट्पुम् पॆऱुवदु
कॊळ्वारुम् कळ्वरुम् नेर् ॥ ३ ॥

सदा मित्र से प्राप्त लाभ पर दृष्टि, मित्र पर जरा न नेह ।
तद्वत् है चोरों की संगति और वेश्या का असनेह[4] ॥ ३ ॥

(मैत्री को न देखकर उससे) प्राप्त होनेवाले लाभों की गणना करने वाला मित्र, प्रेम को न मानकर प्राप्त होते धन को देखनेवाली वेश्या, (दूसरों के दुख को न जानकर उनकी संपत्ति का अपहरण करनेवाला) चोर, ये सभी एक कोटि के हैं ॥ ३ ॥

---

१ अधिक भला है   २ सम्बन्ध छोड़ देते हैं   ३ खो देने में   ४ प्रेम ।

अमरहत्तु आट्ररुक्कुम् कल्लामा अन्नार्
तमरिन् तन्निमै तलै ॥ ४ ॥

अवसर पर यदि काम न आये, नहीं मित्र की फिर दरकार[1] ।
प्रभु को रण में त्याग भागनेवाला ज्यों तुरंग बेकार ॥ ४ ॥

(सामान्य स्थिति में साथ देकर) युद्ध आते ही रणक्षेत्र में पटक कर चल देनेवाले अनभ्यस्त अश्व जैसों की मित्रता प्राप्त होने की अपेक्षा, बिना किसी मित्र के रह जाना श्रेयस्कर है ॥ ४ ॥

शेय्देमञ् चाराच् चिरियवर् पुन्केण्मै
अय्दलिन् अय्दामै नन्रु ॥ ५ ॥

पतित स्वार्थी मित्र ! न अवसर पड़ने पर जो आते काम ।
मित्र बनाने से सुन्दर है, इन मित्रों को करो प्रणाम[2] ॥ ५ ॥

मित्रता कर लेने के बाद जो समय पर काम नहीं आते, ऐसे नीच व्यक्तियों की बुरी मैत्री प्राप्त होने की अपेक्षा, न प्राप्त हो, यही अच्छा है ॥ ५ ॥

पेदै पॆरुङ्गॆळीइ नट्पिन् अरिवुडैयार्
एदिन्मै कोडि उरुम् ॥ ६ ॥

बुद्धिमान का वैर नहीं पहुँचा पाता इतना नुकसान ।
अतुल हानि अनिवार्य[3], मित्र यदि अपना हुआ कहीं नादान ॥ ६ ॥

बुद्धिहीन की मैत्री की अपेक्षा बुद्धिमान की शत्रुता करोड़ों-गुना श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

नहैवहैयर् आहिय नट्पित् पहैवराल्
पत्तडुत्त कोडि उरुम् ॥ ७ ॥

हँसी-मसखरी के मित्रों से नहीं लाभ है किसी प्रकार ।
इनकी तुलना में रिपुओं से सम्भव कोटि-कोटि उपकार ॥ ७ ॥

(मन में प्रेम न रखते हुए) केवल बाहर से मुस्कराने (अर्थात् प्रेम जताने) का स्वभाव रखनेवालों की मित्रता प्राप्त होने की अपेक्षा, शत्रुओं से प्राप्त होनेवाली (शत्रुता की भावना) दसकोटि-गुना श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

ऑल्लुम् करुमम् उडट्रु बवर्केण्मै
शॊल्लाडार् शोर विडल् ॥ ८ ॥

नहीं सहायक होते, यद्यपि उनमें क्षमता[4] है पर्याप्त ।
ऐसों की, चुपके, धीरे-धीरे कर दो मित्रता समाप्त ॥ ८ ॥

---

१ आवश्यकता २ उनको त्याग दो ३ अटल ४ सहायता कर सकने के योग्य हैं ।

सहायता करने में समर्थ होने पर भी समय पर सहायता न करनेवाले मित्रों के सम्बन्ध को, विना उनको जताये, धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

कन्नविनुम् इन्नादु मन्नो विनैवेरु
शौल्वेरु पट्टार् तॊडर्पु ॥ ९ ॥

कथनी-करनी में अन्तर है, कहते कुछ, करते विपरीत।
सदा त्याज्य हैं, सपने में भी ऐसों की दुखदायी प्रीत ॥ ९ ॥

जिनकी करनी और कथनी में अन्तर है, ऐसे लोगों की मैत्री का स्वप्न भी दुखदायी होता है ॥ ९ ॥

ऍनैत्तुम् कुरुहुदल् ओम्बल् मनैक्कॆऴीइ
मन्ड्रिल् पऴिप्पार् तॊडर्पु ॥ १० ॥

बरसाते हैं नेह गेह[1] में, बाहर करते अयश-बखान।
इनसे नाता रखने का सपने में भी मत करो गुमान[2] ॥ १० ॥

जो एकान्त में, घर में रहते समय तो घुल-मिलकर रहते हैं, पर कई लोगों के बीच सभा में निन्दा करते हैं, ऐसे लोगों की मैत्री को तनिक भी निकट नहीं आने देना चाहिये ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८३

कूडा-नट्पु (कपट-मैत्री)

शीरिडम् काणिन् ऍरिदर्कुप् पट्टडै
नेरा निरन्दवर् नट्पु ॥ १ ॥

करता है 'आधार निहाई[3] का' जिस भाँति प्रखर आघात।
मन के मैले मृदुभाषी से उसी भाँति सम्भव अपघात[4] ॥ १ ॥

मन से विरोध, किन्तु ऊपर से प्रेम दिखानेवाले मित्रों की मैत्री, अवसर पाते ही निहाई की तरह आधार बनकर आघात करने में सहायता पहुँचाती है। (जिस प्रकार निहाई किसी वस्तु को अपने ऊपर आश्रय देकर हथौड़े के आघात को सहायता देती है कि चोट पूरी पड़े, उसी प्रकार कपटी-मित्र संकट के आने पर आघात करनेवालों के लिए सहायक बनते हैं) ॥ १ ॥

---

१ घर २ अनुमान ३ लोहे की बैठकी जिस पर कोई वस्तु जमाकर उस पर हथौड़े से चोट की जाती है ४ विश्वासघात ।

इन्नम्पोन्ऱु इन्नम्अल्लार् केण्मै महळिर्
मन्नम्बोल् वेऱु पडुम् ।। २ ।।

स्वाँग मित्र का रचते हैं, मन में जिनके है किन्तु न प्रीति ।
उन्हें बदलते देर न लगती, ज्यों छलिनी[1] नारी की रीति ।। २ ।।

बन्धु की तरह रहने का (ढोंग) तो करें, पर वास्तव में बन्धु न हों, ऐसे व्यक्तियों की मैत्री, वेश्या के मन की तरह अन्दर कुछ और बाहर कुछ, यों बनावटी ही रहेगी ।। २ ।।

पलनल्ल कट्ऱक् कडैत्तुम् मन्नल्लर्
आहुदल् माणार्क्कु अरिदु ।। ३ ।।

प्रेमशून्य जड़-हृदय व्यक्ति से कभी न सम्भव सद्व्यवहार ।
कुटिल-मनों पर सद्ग्रन्थों का गहन अध्ययन भी बेकार ।। ३ ।।

कई सद्ग्रन्थों का अध्ययन कर चुकने पर भी उसके परिणामस्वरूप प्राप्त सुन्दर मन से व्यवहार कर सकने की क्षमता, उन लोगों को प्राप्त नहीं होती जो आंतरिक प्रेम से निर्मल नहीं हुए हैं। (सद्ग्रन्थों का अध्ययन सुन्दर मन से व्यवहार कर सकने की प्रवृत्ति और क्षमता उत्पन्न करता है, परन्तु जिनका मन आंतरिक प्रेम से विशुद्ध नहीं हुआ है उनके लिए यह अध्ययन परिणामशून्य होता है।) ।। ३ ।।

मुहत्तिन् इनिय नहाअ अहत्तिन्ना
वञ्जरै अञ्जप् पडुम् ।। ४ ।।

मुख पर मृदु मुस्कान, किन्तु है मन में भरा हलाहल[2] वैर ।
सावधान ! कपटी जन की मित्रता-प्राप्ति में कभी न खैर[3] ।। ४ ।।

मुख पर मधुर मुस्कान हो, परन्तु मन में वैर-भावना भरी हो, ऐसे कपटी व्यक्तियों की मैत्री से डरना चाहिये ।। ४ ।।

मन्नत्तिन् अमैया दवरै ऑन्नैत्तॊन्ऱुम्
शॊल्लिनाल् तेट्ऱपाट्ऱु अन्ऱु ।। ५ ।।

उर में तो सौहार्द[4] नहीं है, वचनों से मित्रता प्रकाश ।
अति घातक है बात खोखली[5] में फसकर करना विश्वास ।। ५ ।।

मन से जुड़े बिना ही मैत्री का नाता रखनेवालों की केवल बातें सुनकर ही किसी कार्य में उन्हें विश्वास-भाजन नहीं बनाना चाहिये ।। ५ ।।

---

१ धोखा देनेवाली स्त्री २ विष ३ कल्याण ४ मित्रभाव ५ झूठी, चिकनी-चुपड़ी।

नट्टार्पोल् नल्लवै चॊल्लिऩुम् ऒट्टार्चॊल्
ऒल्लै उणरप् पडुम् ।। ६ ।।

हित के विविध वचन कहते हैं, मन में किन्तु शत्रु का भाव ।
देर न लगती, अवसर आते खुल जाता सब बात-बनाव[1] ।। ६ ।।

मित्र की तरह हितकारी वचन चाहे बोलें, परन्तु शत्रु-भाव रखने वालों के वचनों की वास्तविकता शीघ्र ही प्रकट हो जाती है ।। ६ ।।

चॊल्वणक्कम् ऒऩ्ऩार्कण् कॊळ्ळऱ्क विल्वणक्कम्
तीङ्गु कुऱित्तमै यात् ।। ७ ।।

धनुष झुका, तो झुका न समझो, है प्रत्यक्ष बाण-सञ्चार ।
रिपु के मुख से मृदुल वचन को समझो सदा कपट का वार[2] ।। ७ ।।

धनुष का नमन, नमन होते हुये अहित का सूचक होता है, उसी प्रकार शत्रुता का भाव रखनेवालों की बातों की नम्रता को हितकारी नहीं समझना चाहिये ।। ७ ।।

तॊऴुदहै युळ्ळुम् पडैयॊडुङ्गुम्; ऒऩ्ऩार्
अऴुदकण्णीरुम् अऩैत्तु ।। ८ ।।

कपटी के प्रणाम—करअंजलि[3] में भी छिपी शस्त्र की धार ।
तुम्हें डुबाने को सागर है, रिपु के नयनों की जलधार[4] ।। ८ ।।

शत्रु के प्रणाम के लिए जुड़े हाथों में भी अस्त्र छिपा रहता है; उसके अश्रु जल-धार में भी वही (भाव) रहता है ।। ८ ।।

मिहच्चॆय्दु तम्मॆळ्ळु वारै नहच्चॆय्दु
नट्पिऩुळ् शाप्पुल्लऱ् पाऱ्ऱु ।। ९ ।।

उर में घृणा-विरोध, प्रकट में मानो गहन[5] मित्रता व्याप्त ।
उसी बनावट से हँस-हँसकर, वह अपनापा[6] करो समाप्त ।। ९ ।।

जो बाहर से अत्यन्त मैत्री प्रकट करे, पर मन में उपहास करे, उसकी मैत्री को उसकी तरह ही बाहर से प्रसन्न मुख रखते हुए अन्दर से समाप्त कर देना चाहिये ।। ९ ।।

पहैनट्पाम् कालम् वरुङ्गाल् मुहम्नट्टु
अहनट्पु ऒरीइ विडल् ।। १० ।।

---

१ पाखण्ड, कपट २ चोट ३ हाथ जोड़े हुए ४ आँसुओं की धारा ५ गहरी ६ अपनत्व, मित्रता ।

रिपु की कपट-प्रीति के प्रति, तुम भी दरसाओ छल का नेह ।
अवसर मिलते देर न करना, तजना वह भी कपट-सनेह ।। १० ।।

शत्रु, मित्र-सा (कपट) व्यवहार करना आरम्भ करें, ऐसा समय आये तो चेहरे पर मित्रता का भाव रखते हुए मन में मैत्री-रहित ही रहना चाहिये, और अवसर आने पर उसे (अर्थात् बाहरी मैत्री-भाव को) भी छोड़ देना चाहिये ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ८४
पेदैमै (मूढ़ता)

पेदैमै ऍन्बदोन्ऱु यादॆनिऩ् एदम्कॊण्डु
ऊदियम् पोह विडल् ।। १ ।।

रिपु को मित्र, मित्र को रिपु, हित और अहित का जिन्हें न ज्ञान ।
विष को अमिय[1] अमिय को विष—बस निपट मूढ़ की यह पहचान ।। १ ।।

'मूढ़ता किसे कहें' यों पूछा जाये तो, अपने लिये हानिकारक (कार्य, वस्तु या व्यक्ति) को ग्रहण करना और लाभदायक को त्याग देना यही 'मूढ़ता' है ।। १ ।।

पेदैमैयुळ् ऍल्लाम् पेदैमै कादऩ्मै
कैयल्ल तऩ्कट् चॆयल् ।। २ ।।

जिनको रुचिकर वही काम हैं, जिनमें उनका ह्रास-विनाश ।
निपट मूढ़ता, इन मतिमन्दों में पाती है पूर्ण प्रकाश ।। २ ।।

किसी व्यक्ति की मूर्खताओं में सबसे बड़ी मूर्खता यही है कि वह अपने लिए अहितकर कार्यों में अपना मन लगाये ।। २ ।।

नाणामै नाडामै नारिऩ्मै यादॊन्ऱुम्
पेणामै पेदै तॊऴिल् ।। ३ ।।

लज्जा-नेह-विहीन, 'भला क्या बुरा ?' न जिनको है परवाह ।
उदासीनता[2] आदि दुर्गुणों का मूढों में पूर्ण प्रवाह ।। ३ ।।

(लज्जाजनक कार्य करने पर भी) लज्जित न होना, (अपनाने

---

१ अमृत २ बेपरवाही ।

योग्य गुणों, कार्यों को) न अपनाना, स्नेह-भाव न होना, (पोषण योग्य) किसी भी बात को न पोसना, ये सब मूर्ख के कार्य हैं ।। ३ ।।

ओदि उणर्न्दुम् पिऱर्क्कुरैत्तुम् ताऩडङ्गाप्
पेदैयिन् पेदैयार् इल् ।। ४ ।।

गहन अध्ययन-अध्यापन[१] है, तत्वज्ञान के हैं भण्डार ।
किन्तु आचरण में कोरे, बस यही विमूढ़ों[२] के सरदार ।। ४ ।।

शास्त्रों का अध्ययन कर, उनके तत्वों को समझकर, दूसरों को समझाकर और फिर उनके बताये मार्गों पर अपने को संयमित कर स्वयं न चलनेवाले मूढ़ के समान और कोई मूढ़ नहीं हो सकता ।। ४ ।।

ऒरुमैच् चॆयलाट्रुम् पेदै ऎऴुमैयुम्
तान्बुक्कु अऴुन्दुम् अळरु ।। ५ ।।

जन्म-जन्म की नरक-यातना, सात जन्म का रौरव-त्रास[३] ।
मूढ़, कुमतिवश, एक जन्म में न्यौत बुलाता[४] अपने पास ।। ५ ।।

सात जन्म लेकर, (उनमें) सहन करनी पड़ती नरक-यातना को मूर्ख व्यक्ति अपने एक जन्म में ही प्राप्त कर सकने में समर्थ होता है ।। ५ ।।

पॊय्पडुम् ऒन्ऱो पुनैपूणुम् कैयऱियाप्
पेदै विनैमेऱ् कॊळिन् ।। ६ ।।

कौशल-ज्ञान विना पिल पड़ते[५] किसी काम में बे-सिर-पैर[६] ।
होते विफल जुर्म[७] में फसकर, हथकड़ियों से माँगें ख़ैर[८] ।। ६ ।।

विधि-नियम न जाननेवाला मूढ़ यदि किसी कार्य को हाथ में लेगा तो वह काम पूरा हुए बिना ही बिगड़ जायेगा; साथ ही [आश्चर्य नहीं कि] उसे अपराधी के रूप में हथकड़ी पहननी पड़े ।। ६ ।।

एदिलार् आरत् तमर्पशिप्पर् पेदै
पॆरुञ्चॆल्वम् उट्रक् कडै ।। ७ ।।

दैवयोग से यदि विमूढ़ को कहीं मिल गया धन-आगार[९] ।
मौज उड़ाते ग़ैर-ग़ैर, पर भूखों मरता निज परिवार ।। ७ ।।

मूढ़ को प्रचुर धन प्राप्त हो जाता है तो उससे संबंध न रखनेवाले

---

१ पढ़ना-पढ़ाना २ मूर्खों ३ रौरव नरक की यातना ४ निमंत्रण देता है ५ जुट जाते ६ बिना आगा-पीछा समझे ७ अपराध ८ बचाव ९ ख़जाना ।

पराये व्यक्ति तो मौज उड़ाते हैं और स्वजनों को भूख से पीड़ित रहना पड़ता है ।। ७ ।।

मैयल् ऑरुवऩ् कळित्तट्ऱाल् पेदैतऩ्
कैयॊंऩ्ऱु उडैमै पॆरिऩ् ।। ८ ।।

जिस प्रकार उन्मादग्रस्त[1], मदिरा पीकर होता मदमस्त।
उसी भाँति धन-वैभव के मद[2] में मूरुख हो जाता ग्रस्त[3] ।। ८ ।।

मूढ़ के हाथ में कोई (मूल्यवान) वस्तु आ जाये तो उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है जैसे मस्तिष्क में विकार वाला व्यक्ति ताड़ी पी ले। (अर्थात् मूलतः ही उसमें विवेक-बुद्धि का अभाव होता है और अब तो पूरी चेतना ही लुप्त हो जाती है।) ।। ८ ।।

पॆरिदिऩिदु पेदैयार् केण्मै; पिरिविऩ्कण्
पीळै तरुवदॊंऩ्ऱु इल् ।। ९ ।।

मूरुख की मित्रता सुखद[4] है, सदा मिलन में सुख-संयोग।
क्योंकि विलग होने पर, दुखकर कभी न होता मूर्ख-वियोग[5] ।। ९ ।।

मूर्खों से वियोग होते समय, वह वियोग-पीड़ा नहीं देता; इसलिए मूर्खों के साथ नाता रखना अत्यन्त मधुर होता है। (इसमें कवि ने व्यंग्य किया है कि मूर्खों से लंबी मित्रता बनाये रखना असंभव ही होता है—उसकी समाप्ति अवश्यंभावी है, अतः वैसी मैत्री का आरम्भ सुख का ही भाव जगाता है, पीड़ा या डर का नहीं।) ।। ९ ।।

कळा अक्काल् पळ्ळियुळ् वैत्तट्ऱाल् शाऩ्ऱोर्
कुळा अत्तुप् पेदै पुहल् ।। १० ।।

धवल विमल शय्या पर मानो मैले पैर हुए आसीन।
धीमानों में उसी भाँति है मूढ़-आगमन शोभाहीन ।। १० ।।

बुद्धिमानों की सभा में मूर्ख का प्रवेश करना वैसा ही है, जैसे स्वच्छ शय्या पर बिना धुले मलिन पैरों को रखना [जिस प्रकार मैले-कुचैले पैरों से स्वच्छ धुली चादर की सारी आब बिगड़ जाती है, उसी प्रकार एक मूर्ख के प्रवेशमात्र से सारी विद्वान्मण्डली श्रीहीन हो जाती है।] ।। १० ।।

---

१ पागल २ अहंकार ३ फस जाता है ४ सुखदायी ५ मूर्ख की जुदाई।

अदिहारम् (अध्याय) ८५

पुल्लऱिवाण्मै (मिथ्या अहम्मन्यता)

अऱिविन्मै इन्मैयुळ् इन्मै; पिऱिदिन्मै
इन्मैया वैयादु उलहु ।। १ ।।

सकल अभावों में दुखदाई सर्वोपरि 'बुद्धि' का अभाव।
अन्य अभाव नगण्य[1] पूर्ति सबकी करदेता 'बुद्धि-प्रभाव'[2] ।। १ ।।

[यहाँ ऐसे व्यक्तियों का वर्णन है जो होते तो हैं मूढ़, परन्तु मिथ्या दंभ में अपने को बुद्धिमान् मानते हैं।]

बुद्धि का अभाव ही सभी अभावों में सबसे पीड़ादायक अभाव है; अन्य अभावों को संसार उतना बड़ा अभाव नहीं मानता ।। १ ।।

अऱिविलान् नॆञ्जुवन्दु ईदल् पिऱिदुयादुम्
इल्लै पॆऱुवान् तवम् ।। २ ।।

बुद्धिहीन यदि हर्षित होकर देता वस्तु किसी को दान।
श्रेय[3] न उसको, अपितु प्राप्तकर्ता का कोई गृह बलवान ।। २ ।।

बुद्धिहीन व्यक्ति हार्दिक प्रसन्नतापूर्वक यदि कोई वस्तु प्रदान करे तो उसका कारण और कुछ नहीं; सिवाय इसके कि उस वस्तु को प्राप्त करनेवाले का भाग्य बलशाली है। (बुद्धिहीन का दान विवेक की कसौटी पर कसा हुआ दान नहीं होता; जिसे भी उससे कुछ मिल जाये उसे अपने पुण्यों का फल मानना चाहिए।) ।। २ ।।

अऱिविलार् ताम्तम्मैप् पीऴिक्कुम् पीऴै
चॆरुवार्क्कुम् चॆयदल् अरिदु ।। ३ ।।

मूढ़ स्वयं अपनी करतूतों से अपना करते अपकार[4]।
उतनी क्षति तो कभी न पहुँचा सकते रिपु[5] भी किसी प्रकार ।। ३ ।।

बुद्धिहीन स्वयं अपने को जितनी मात्रा में हानि पहुँचा सकते हैं, उतनी तो उसके शत्रु भी नहीं पहुँचा सकते ।। ३ ।।

वॆण्मै ऎनप्पडुवदु यादॆनिन् ऒण्मै
उडैयम्याम् ऎन्नुम् चॆरुक्कु ।। ४ ।।

"बुद्धिमान् हूँ"—अहम्मन्यता[6]—कथनी-करनी में यह भाव;
स्वयं प्रशंसा का बखान हो, यही मूर्ख का सहज[7] स्वभाव ।। ४ ।।

---

१ तुच्छ २ बुद्धिबल ३ तारीफ़, यश ४ अनिष्ट ५ (उनके) शत्रु
६ मैं ही सब कुछ हूं, यह भावना ७ स्वाभाविक।

तुच्छ बुद्धि किसे कहा जाये ? तो उत्तर यही है कि "हम बुद्धिमान् हैं"—यों कोई स्वयं अपनी ही प्रशंसा कर गर्व करे ॥ ४ ॥

कल्लाद मेऱ्कॊण्डु ऒऴुकल् कशडऱ
वल्लदूउम् ऐयम् तरुम् ॥ ५ ॥

पढ़े बिना बनते पढ़ीस[1], अज्ञानी दरसाते हैं ज्ञान।
यदि सचमुच कुछ ज्ञान उन्हें है, खो देते उसका भी मान[2] ॥ ५ ॥

बुद्धिहीनों द्वारा अपठित ग्रन्थों को भी पठित-सा दिखाने का प्रयत्न, उनके द्वारा सचमुच प्राप्त किये तथा अधिकृत ज्ञान के प्रति भी लोगों के मन में संशय उत्पन्न करा देता है ॥ ५ ॥

अट्ऱम् मऱैत्तलो पुल्लऱिवु तम्वयिन्
कुट्ऱम् मऱैया वऴि ॥ ६ ॥

यदि चरित्र के दोष त्यागकर, पा न सके जग में मर्याद[3]।
वस्त्रमात्र से तन ढकने पर, कैसे बच सकता अपवाद[4] ॥ ६ ॥

अपने (स्वभाव में स्थित) दोषों को पूरी तरह मिटाये, और लोगों की आँखों में निर्दोष हुए बिना, देह के गुह्य भागों-मात्र को वस्त्र द्वारा ढक कर आँखों की ओट करना बुद्धिहीनता ही होगी ॥ ६ ॥

अरुमऱै शोरुम् अऱिविलान् चॆय्युम्
पॆरुमिऱै तानै तनक्कु ॥ ७ ॥

पचा न सकते गोपनीय[5], कर देते हैं चौतरफ़ बखान।
हल्केपन[6] से स्वयं निमंत्रित करते हैं विपत्ति नादान[7] ॥ ७ ॥

अत्यन्त गोपनीय बात को मन में सुरक्षित न रख, व्यग्रता से उद्घाटित कर देने वाला बुद्धिहीन स्वयं अपनी बहुत बड़ी हानि कर बैठेगा ॥ ७ ॥

एववुम् शॆय्हलान् तान्तेऱान् अव्वुयिर्
पोओम् अळवुमोर् नोय् ॥ ८ ॥

समझाने पर ध्यान न देते, स्वयं न हित की है पहचान।
अन्तकाल तक जीवन उनका सदा दुःखमय रोग-निदान[8] ॥ ८ ॥

---

१ अध्ययनशील विद्वान्   २ मूल्य, प्रतिष्ठा   ३ इज़्ज़त, प्रतिष्ठा   ४ उनका नंगापन, बुद्धि का खोखलापन   ५ गुप्त बातें   ६ मन में बात न रख सकने का हल्कापन   ७ मूर्ख, नासमझ   ८ रोग का कारण।

जो अपने लिए हितकर कार्य को दूसरों द्वारा समझाने पर भी न करे और न स्वयं अपने आप भी अपना हित समझ सके, तो ऐसे व्यक्ति के प्राण मृत्यु-पर्यन्त एक रोग-रूप ही रहेंगे ॥ ८ ॥

काणादान् काट्टुवान् तान्काणान्; काणादान्
कण्डानाम् तान्कण्ड वारु ॥ ९ ॥

नादानों को ज्ञान सिखाकर, ज्ञानी बनता है नादान।
अज्ञानी, वह ज्ञान प्राप्त कर बन जाता है स्वयं सुजान[1] ॥ ९ ॥

नासमझ को मार्ग दिखानेवाला स्वयं नासमझ सिद्ध किया जायेगा; और नासमझ अब उस बात को जान चुकने के कारण समझदार समझा जायेगा। (बुद्धिहीन व्यक्ति समझाने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को पहले तो मूर्ख ठहरायेगा, और फिर उसी बात को अब जान चुकने के कारण, लोगों के सम्मुख यों प्रस्तुत करेगा कि लोग उसे समझदार समझने लग जायेंगे।) ॥ ९ ॥

उलहत्तार् उण्डॆन्बदु इल्लॆन्बान् वैयत्तु
अलहैया वैक्कप् पडुम् ॥ १० ॥

तथ्य-मान्यताएँ[2] बुधजन की, विमुख सदा उनसे इन्कार।
उसे प्रेतवत घृणित समझकर तजता है सारा संसार ॥ १० ॥

जगवाले, जिसके अस्तित्व को (अर्थात् जिन बातों, वस्तुओं के अस्तित्व को) "है" कहकर स्वीकार करते हैं, उसे "नहीं" कहकर अस्वीकार करनेवाला व्यक्ति, संसार में प्रेत की तरह अलगाकर रख दिया जाता है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८६

इहल् (विभेद-भाव, परायेपन की भावना)

इहलॆन्ब ऎल्ला उयिर्क्कुम् पहलॆन्नुम्
पण्बिन्मै पारिक्कुम् नोय् ॥ १ ॥

यह अपना, यह ग़ैर —ग़ैरियत[3] का जीवों में सहज स्वभाव।
विज्ञ-कथन[4]—इस विषम व्याधि[5] से ही उगता नफ़रत[6] का भाव ॥ १ ॥

---

१ समझदार २ बुद्धिमान के अनुभव और उपदेश ३ विरानापन ४ विद्वानों का मत है ५ कठिन बीमारी ६ घृणा।

ज्ञानियों का मत है कि विभेद-भावना ही वह रोग है जो सभी जीवों में अन्य जीवों के प्रति अनमिल-भाव (परायेपन का भाव) जैसे बुरे गुण को बढ़ाती है ॥ १ ॥

पहल्करुदिप् पट्रा शैयिनुम् इहल्करुदि
इन्नाशेय् यामै तलै ॥ २ ॥

कलह-द्वेष से प्रेरित-परवश करता अगर शत्रु-आचार।
स्वजन समझकर क्षमा उचित है, कभी न समुचित है प्रतिकार [1] ॥ २ ॥

यदि कोई व्यक्ति हमसे मेल न रख, अलग हो जाने के विचार से प्रेम-रहित व्यवहार करे तो भी, हम विभेद-भावना त्याग कर, उसे पीड़ा न पहुँचायें, यही श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

इहलॆन्नुम् ऎव्वनोय् नीक्किन् तवलिल्लात्
ताविल् विळक्कम् तरुम् ॥ ३ ॥

रिपु-भावना किसी के भी प्रति—यह संघातक रोग महान्।
इससे मुक्ति [2] अमर यशदायिनि करती अक्षय कीर्ति प्रदान ॥ ३ ॥

कोई व्यक्ति विभेद-भावना नामक दुखदायी रोग से मुक्ति पा ले, तो वह अनश्वर स्थिर कीर्ति प्राप्त कर लेगा ॥ ३ ॥

इन्बत्तुळ् इन्बम् पयक्कुम् इहलॆन्नुम्
तुन्बत्तुळ् तुन्बम् कॆडिन् ॥ ४ ॥

घृणा-ग्रंथियत के छुटकारे से मिट जाते दुःख अपार।
घृणा-कपाट [3] बन्द होते ही, मानो खुला सुक्ख-संसार ॥ ४ ॥

किसी व्यक्ति के हृदय में स्थित विभेद-भावना नामक 'पीड़ाओं में सबसे बड़ी पीड़ा' समाप्त हो जाये तो वह आनन्दों में सबसे बड़ा आनन्द प्राप्त कर लेगा ॥ ४ ॥

इहलॆदिर् शाय्न्दॊळुह वल्लारै यारे
मिहलूक्कुम् तन्मै यवर् ? ॥ ५ ॥

अनात्मीयता [4] पर विजयी है, मन में कोई शत्रु न मित्र।
शत्रुञ्जय [5] संयमी वही है, जो सबके प्रति सदा पवित्र ॥ ५ ॥

'विभेद' और विरानेपन के भाव पर विजय पा जाने वाले सामर्थ्य-वान व्यक्ति को जीतने में भला कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ५ ॥

१ बदले में बुराई करना २ छुटकारा, बचाव ३ घृणा के दरवाज़े ४ विरानापन ५ शत्रुओं पर सदा विजयी।

इहलिन् मिहलिनि़दु ऄऩ्बवऩ् वाऴ्क्कै
तवलुम् कॆडलुम् नणित्तु ॥ ६ ॥

वैर, विरोध, कलह के प्रेमी, जिनको इनमें सुक्ख अपार।
निज करनी से नित डगमग[1] का एक दिवस निश्चित संहार ॥ ६ ॥

विभेद-भावना से अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति होगी, यों माननेवाले व्यक्ति का जीवन शीघ्र ही पथभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त होगा ॥ ६ ॥

मिहल्मेवल् मॆय्प्पॊरुळ् काणार् इहल्मेवल्
इऩ्ऩा अरि़वि ऩवर् ॥ ७ ॥

द्वेषयुक्त करुणाविहीन, सुख की तलाश में नित लवलीन।
'सत्य-ज्योति' के अक्षय सुख की झलक न पाते प्रेमविहीन ॥ ७ ॥

विभेद-भावना को चाहनेवाले दुर्बुद्धि-युक्त व्यक्ति नहीं जानते कि सत्य तत्व ही वह मूल कारण है जो विजय दिलाती है ॥ ७ ॥

इहलिऱ् कॆदिर्शाय्दल् आक्कम्; अदऩै
मिहलूक्किऩ् ऊक्कुमाम् केडु ॥ ८ ॥

अगर घृणा से प्रीति! अपरबल[2] अर्जित[3] धन भी होता नष्ट।
घृणारहित करुणामय प्राणी पर सब ऋद्धि-सिद्धि आकृष्ट[4] ॥ ८ ॥

विभेद से कोई व्यक्ति बचकर परे हट जाय तो वह उसकी समृद्धि का कारण बनेगा, अड़कर उसे जीतने का प्रयत्न करना विनाश को निमंत्रण देगा ॥ ८ ॥

इहल्काणाऩ् आक्कम् वरुङ्गाल्; अदऩै
मिहल्काणुम् केडु तरऱ्कु ॥ ९ ॥

द्वेष-कलह से प्रीति हुई, बस मानो जगा भाग्य विपरीत[5]।
उदय हुआ सौभाग्य, आत्ममय करुणा की जब होती जीत ॥ ९ ॥

जब कोई व्यक्ति समृद्ध रहता है तब वह विभेद-भाव की परवाह नहीं करता; जब विभेद-भाव उस पर विपत्तियाँ ढाने लगता है तब उसका सामना कर उसे जीतने का प्रयत्न करता है ॥ ९ ॥

इहलाऩाम् इऩ्ऩाद ऄल्लाम्; नहलाऩाम्
नऩ्ऩयम् ऄऩ्ऩुम् शॆरुक्कु ॥ १० ॥

---

१ रोज हानि-लाभ में झूलनेवाला २ अपरिमित, अपार ३ पैदा किया हुआ ४ खिंचे चले आते हैं ५ उलटा, दुर्भाग्य।

द्वेष-कलह-वैरियत, स्वयं के लिए दुसह दुःखों का मूल ।
सुख-समृद्धि-यश सकल प्रेममय जगन्मित्र के हैं अनुकूल ।। १० ।।

विभेद-भावना से सब प्रकार के दुख प्राप्त होते हैं; और इसके ठीक विपरीत मैत्री-भावना से अक्षयगुणों की आनन्दप्रद स्थिति प्राप्त होती है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ८७
पहैमाट्शि (शत्रुता का मापदण्ड)

वलियार्क्कु माऱेट्ऱल् ओम्बुह; ओम्बा
मॆलियार्मेल् मेह पहै ।। १ ।।

प्रबल सशक्त शत्रु से रिपुता[1] तजो—नीति का वचन प्रमान ।
निर्बल रिपु के दमन-दलन में शिथिल नहीं होते मतिमान ।। १ ।।

अपने से बलवानों के प्रति शत्रुता रख कर उनका विरोध करना छोड़ देना चाहिये; अपने से बलहीनों के प्रति शत्रुता को न छोड़, चाव के साथ उसका लाभ उठाना चाहिये ।। १ ।।

अन्बिलन् आन्ऱ तुणैयिलन्; तान्तुव्वान्
ऍन्बरियुम् एदिलान् तुप्पु ? ।। २ ।।

स्वयं अशक्त[2], न प्रेमपात्र[3] है, आता नहीं किसी के काम ।
कुशल-मित्र से हीन ! शत्रु से कैसे करे सफल संग्राम ।। २ ।।

यदि कोई व्यक्ति स्नेह-रहित, योग्य सहायक-रहित, स्वयं की शक्ति से भी रहित हो तो वह शत्रु की शक्तियों का नाश किस प्रकार कर सकेगा ? ।। २ ।।

अञ्जुम् अऱियान् अमैविलन् ईहलान्
तञ्जम् ऍळियन् पहैक्कु ।। ३ ।।

कायर, कृपण, कुबुद्ध, कलह-प्रिय, कभी न परस्वारथ के पास ।
कहाँ कुशल इन बलहीनों की ? ये तो सरल शत्रु के ग्रास[4] ।। ३ ।।

यदि कोई व्यक्ति डरपोक, बुद्धिहीन, मेल-जोल न रखनेवाला, अन्य व्यक्तियों को कुछ भी न देनेवाला हो, तो वह (अर्थात् उसे हराना) शत्रुओं के लिए अत्यन्त सुलभ है ।। ३ ।।

---

१ शत्रुता २ निर्बल ३ स्नेह प्राप्त न कर सकनेवाला ४ कौर, निवाला ।

नीङ्गात् वेंहुळि निऱैयिलन् ऍञ्ञान्ऱुम्
याङ्गणुम् यार्क्कुम् ऍळिदु ।। ४ ।।

क्रोध न वश में, गुप्तभेद तक कर देता चौतरफ़ प्रकाश।
असंयमी[1] का साधारन रिपु से भी संभव सदा विनाश ।। ४ ।।

यदि कोई व्यक्ति क्रोध को दूर न कर सकने वाला, मन पर संयम न रखनेवाला हो तो उससे शत्रुता करना किसी भी समय पर, किसी भी स्थान पर, किसी भी व्यक्ति के लिए सहज है ।। ४ ।।

वऴिनोक्कान् वाय्प्पन शॆय्यान् पऴिनोक्कान्
पण्बिलन् पट्ऱार्क्कु इनिदु ।। ५ ।।

धर्म-अधर्म, अनीति-नीति का, शील न लज्जा का सञ्चार।
ऐसे रिपु की मधुर शत्रुता से किस रिपु को भला न प्यार ।। ५ ।।

यदि कोई व्यक्ति सही मार्ग न देखे (अर्थात् नीतिग्रंथों में जिन मार्गों को सही मार्ग कहा गया है, उन्हें देखकर उनका अनुसरण न करे), उचित कार्य न करे, निन्दा-आरोप की चिन्ता न करे, सुन्दर शील-युक्त भी न हो, तो उसकी शत्रुता उसके शत्रुओं को मधुर (प्रिय) लगती है (क्योंकि ऐसे व्यक्ति का विनाश अवश्यंभावी है।) ।। ५ ।।

काणाच् चिनत्तान् कऴिपॆरुङ् कामत्तान्
पेणामै पेणप् पडुम् ।। ६ ।।

अतुल क्रोध-उन्माद वासनाओं में जो लोलुप है ग्रस्त।
सहज ध्वस्त[2] होनेवाले की रिपुता किसे न करती मस्त ? ।। ६ ।।

यदि कोई सत्य को न देख सकने जितना क्रोध-युक्त हो, अदम्य लालसा-युक्त हो, तो उसकी शत्रुता बड़ी चाहत के साथ लोग स्वीकार करेंगे (क्योंकि ऐसे व्यक्ति का विनाश अवश्यंभावी है।) ।। ६ ।।

कॊडुत्तुम् कॊळल्वेण्डुम् मन्ऱ अडुत्तिरुन्दु
माणाद शॆय्वान् पहै ।। ७ ।।

मिल कर भी अनमिला[3], मित्र बनकर भी जो करता अपघात[4]।
कपटमित्र को त्याग, शत्रुता अपनाना भी हित की बात ।। ७ ।।

पास रहकर (मित्रता का दावा कर) और फिर प्रतिकूल कार्य करने वाले व्यक्ति की शत्रुता को मूल्य देकर भी प्राप्त कर लेना ही अधिक मूल्यवान् है ।। ७ ।।

---

१ मन पर क़ाबू नहीं २ विनष्ट ३ पृथ्क् ४ विश्वासघात।

गुणन्निलनाय्क् कुट्रम् पलवायित् माट्रार्क्कु
इन्तन्निलन्नाम् एमाप्पु उडैत्तु ॥ ८ ॥

संग न साथी, गुणविहीन, जो व्यक्ति विविध दोषों की खान।
उसकी कमी, उसी के रिपु को, कर देती सशक्त बलवान ॥ ८ ॥

यदि कोई व्यक्ति गुणहीन हो, कई दोषों से युक्त हो, तो वह सहायकों से रहित हो जायेगा; वह स्थिति ही उसके शत्रुओं के लिये हितकारी सिद्ध हो जायेगी ॥ ८ ॥

शेरुवार्क्कुच् चेणिहवा इन्बम् अरिविला
अञ्जुम् पहैवर्प् पॆरिन् ॥ ९ ॥

निपट बुद्धि का है अभाव, रिपु में यदि देखा भीरु स्वभाव।
ऐसे को विरोध में पाकर, जयी शत्रु[1] का बढ़ता चाव[2] ॥ ९ ॥

यदि बुद्धिहीन तथा भीरु स्वभाव का शत्रु प्राप्त हो तो उससे शत्रुता कर विरोध करनेवालों का सुख दूर न जाकर पास ही रहता है ॥ ९ ॥

कल्लान् वॆहुळुम् शिरुपॊरुळ् ऎञ्ञान्रुम्
ऒल्लानै ऒल्लादु ऒळि ॥ १० ॥

अपटु[3] शत्रु को भी पाकर यदि कोई ले न सका जय-कीर्ति।
आजीवन वह विफल रहेगा, उसको सदा लिखी अपकीर्ति ॥ १० ॥

अनपढ़ (अज्ञानी-अकुशल) से शत्रुता कर (विजय-लाभ करने) जैसे सुलभ कार्य को करने में जो असमर्थ होगा, तो उसके पास किसी भी काल में यश आकर नहीं जुटेगा ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८८
पहैत्तिरन्तॆरिदल् (शत्रु-शक्ति का अंकन)

पहैयॆन्नुम् पण्बि लदनै ऒरुवन्
नहैयेयुम् वेण्डर्पाट् ट्रन्रु ॥ १ ॥

रिपु उपजाने का अंकुर, यद्यपि हो सहज हास-परिहास।
सदा विघातक शत्रुभाव है, कभी न आने देना पास ॥ १ ॥

'शत्रुता' कहलानेवाली शीलहीन बुराई की कोई हास-परिहास में भी इच्छा न करे ॥ १ ॥

---

१ विजय चाहनेवाला २ रुचि, अनुराग ३ कौशलहीन।

विल्लेर् उऴवर् पहैकॊळिनुम् कॊळ्ळऱ्क
शॊल्लेर् उऴवर् पहै ॥ २ ॥

धनुधारी सशस्त्र बैरी से नहीं असंभव है निर्वाण[1] ।
किन्तु बाणधर जो वाणी का, उस रिपु से न जगत् में त्राण[2] ॥ २ ॥

धनुष (रूपी) हल को धारण करनेवाले वीर (रूपी) कृषक से चाहे शत्रुता कर लो, परन्तु वाणी (रूपी) हल को धारण करने वाले विद्वान् (रूपी) कृषक से कभी शत्रुता न करना। (कृषक की समृद्धि का साधन उसका हल है, सो वीर और विद्वान् की तुलना कृषक से की गई है जिनकी समृद्धि के साधन क्रमशः धनुष तथा वाणी हैं। कवि का कथन है कि धनुषधारी वीर की शत्रुता करने से शायद व्यक्ति को उतनी हानि नहीं पहुँचेगी जितनी वाणीधारी विद्वान् की शत्रुता से; क्योंकि वीर तो देह-मात्र पर घाव कर सकेगा, पर विद्वान् मन, बुद्धि सभी को प्रभावित कर व्यक्ति की देह को भी हानि पहुँचायेगा और उसके वर्तमान तथा भविष्य के जीवन को भी !) ॥ २ ॥

एमुट्ऱविरिनुम् एऴै तमियनाय्प्
पल्लार् पहैकॊळ् बवन् ॥ ३ ॥

मित्रहीन एकाकी[3], फिर शत्रुता मोल लेता सब ओर ।
वह सर्वदा अरक्षित ! पागल से भी अधिक मूर्ख घनघोर ॥ ३ ॥

जो स्वयं अकेले होते हुए अनेक जनों की शत्रुता प्राप्त करे वह पागल व्यक्ति से भी ज़्यादा बुद्धिहीन माना जायेगा ॥ ३ ॥

पहैनट्पाक् कॊण्डॊऴुहुम् पण्बुडै याळन्
तहैमैक्कण् तङ्गिट्ऱुलहु ॥ ४ ॥

रिपुओं को भी मित्र बना ले, जिसमें इतना पटु-आचार ।
उस विशाल-मन शीलवान पर ही है टिका जगत् का भार ॥ ४ ॥

शत्रुता को भी मित्रता में परिवर्तित कर व्यवहार करने वाले शीलवान व्यक्ति की [दूरदर्शिता और] विशाल-हृदयता से (ही) यह धरती टिकी हुई है ॥ ४ ॥

तन्तुणै इन्ऱाल्; पहैइरण्डाल्; तान् ऒरुवन्
इन्तुणैयाक् कॊळ्हवट्रिन् ऒन्ऱु ॥ ५ ॥

दो रिपुओं से अगर सामना, अपना कोई नहीं सहाय ।
एक शत्रु को किसी भाँति अनुकूल बनालो —यही उपाय ॥ ५ ॥

---

१ छुटकारा २ शरण, रक्षा ३ अकेला ।

स्वयं का सहायक तो एक भी न हो, और स्वयं के शत्रु हों दो; और स्वयं हो एकाकी। इस स्थिति में उन (दो) शत्रुओं में से एक को प्रिय सहायक बना लेना चाहिये ॥ ५ ॥

तेऱ्ऱिनुम् तेऱा विडिनुम् अऴिविन्कण्
तेऱान् पहाअन् विडल् ॥ ६ ॥

विश्वासी; विश्वासपात्र जो नहीं; सभी से करो प्रणाम[1]।
बुरे दिनों में निपट अकेले रहने ही में है आराम ॥ ६ ॥

जब अपने दिन अनुकूल न हों, भाग्य विपरीत हो, उस समय किसी को न मित्र बनाओ, न शत्रु। भले ही तुम्हारी जानकारी में वे भरोसे के योग्य हों अथवा न हों, उनसे मित्रता या विरोध न करके तटस्थ रहना दुर्दैवकाल में बुद्धिमानी है ॥ ६ ॥

नोवऱ्क नोन्द दऱियाऱ्क्कु मेवऱ्क
मेन्मै पहैवर् अहत्तु ॥ ७ ॥

मित्रों से भी दर्द न कहना, स्वयं न उनको है यदि ज्ञान।
रिपु से तो न भूलकर भी दुर्बलता अपनी करो बखान ॥ ७ ॥

मित्र को स्वयं ही यदि ज्ञात न हो जाये तो उससे भी अपनी पीड़ा कहनी नहीं चाहिए; शत्रुओं के सम्मुख तो अपनी दुर्बलता-सूचक बात कभी प्रकट न करनी चाहिए ॥ ७ ॥

वहैयऱिन्दु तऱ्शॆय्दु तऱ्काप्प मायुम्
पहैवर्कण् पट्ट शॆरुक्कु ॥ ८ ॥

सूझबूझ, पूरा बचाव, अवसर पर करो घात-प्रतिघात।
गर्व खर्व[2]! सन्देह न रिपु का निश्चय होगा दर्प-निपात[2] ॥ ८ ॥

कार्य को पूरी तरह समझकर पूर्ण कर, अपने को बल-युक्त बनाकर स्व-रक्षण प्राप्त किया जाये तो शत्रुओं में निहित गर्व स्वयं नष्ट हो जायेगा ॥ ८ ॥

इळैदाह मुळ्मरम् कॊल्ह; कळैयुनर्
कैकॊल्लुम् काऴ्त्त विडत्तु ॥ ९ ॥

उगते ही कण्टकमय[3] पौधे को समुचित करना निर्मूल।
दृढ़ काटों को कठिन काटना, उलटे वे हाथों को शूल ॥ ९ ॥

---

१ उनसे दूर रहो २ घमण्ड का विनाश ३ काँटेदार।

कटीले वृक्ष को पौधे की अवस्था में ही काट डालना चाहिये; फल-फूलकर बढ़ जाने के बाद तो वह काटनेवालों के हाथों को ही (चुभ-चुभ कर) पीड़ा देगा ॥ ९ ॥

उयिर्प्प उळरल्लर् मन्र् शॆयिर्प्पवर्
शॆम्मल् शिदैक्कला दार् ॥ १० ॥

रहे विफल जीवन में वे जन, शत्रु-दलन में जो असमर्थ ।
लेते हैं निःश्वास, श्वास लेकर भी उनका जीवन व्यर्थ ॥ १० ॥

शत्रु के दर्प का जो नाश नहीं कर सकते, वे पूरी तरह से साँस लेते रहने पर भी जीवधारी नहीं कहे जा सकते। (कवि ने ऐसे लोगों को धिक्कार दिया है जो अपने शत्रु के दर्प का नाश नहीं करते; ऐसे व्यक्ति सांस लेते रहने मात्र से जीवित नहीं कहे जा सकते, वे तो मृतक हैं!) ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ८९
उट्पहै (आन्तरिक शत्रु—आस्तीन का साँप)

निऴल्नीरुम् इन्नाद इन्ना; तमर्नीरुम्
इन्नावाम् इन्ना शॆयिन् ॥ १ ॥

छाया-सघन कभी जल-शीतल से भी होता है नुकसान ।
उसी भांति कपटी मित्रों के मित्रभाव से दुःख महान ॥ १ ॥

(सामान्यतः) आनन्द प्रदान करनेवाली [सघन] छाया और [शीतल] जल भी यदि रोग उत्पन्न करने का कारण बनें तो बुरे [और त्याज्य] ही हैं; उसी प्रकार [सामान्यतः आनन्द के कारण रूप] स्वजन यदि मन में छल रखते हैं तो हानि की जड़ [और त्याज्य] हैं ॥ १ ॥

वाळ्पोल् पहैवरै अञ्जर्क; अञ्जुह
केळ्पोल् पहैवर् तॊडर्पु ॥ २ ॥

खुली कृपाण, खुले रिपु से, संभावित कभी न उतनी भीति[1] ।
दुखद छली सुहृदों की जितनी घुली-मिली छलकारी प्रीति ॥ २ ॥

(नंगी) तलवार की तरह स्पष्ट शत्रुओं से भय की आवश्यकता नहीं, परन्तु स्वजनों की तरह रहकर भीतर ही भीतर शत्रुता माननेवालों के मेल से भयभीत रहना चाहिये ॥ २ ॥

---

१ भय, आशंका ।

उट्पहै अञ्जित्तर् काक्क; उलैविडत्तु
मट्पहैयिन् माणत् तेरुम् ।। ३ ।।

प्रकट मित्र ! पर मन के बैरी ! इनसे रहना सदा सतर्क ।
ज्यों कुम्हार की 'छेन'[1] चूकते ही करती विपरीत कुतर्क[2] ।। ३ ।।

व्यक्ति को चाहिए कि आंतरिक शत्रुता से सावधान रहकर अपनी सुरक्षा करे; (क्योंकि) ढीलापन [अर्थात् असावधानी या शिथिलता] आते ही आंतरिक शत्रुता कुम्हार की छेन की तरह निश्चय ही काट करेगी ।। ३ ।।

मन्नमाणा उट्पहै तोन्ऱिन् इन्नमाणा
एदम् पलवुम् तरुम् ।। ४ ।।

मित्र रूप में छली शत्रुओं का यदि कहीं हुआ सञ्चार ।
विषमय उनसे हो जायेगा सारा सुहृद-राज्य-परिवार ।। ४ ।।

(ऊपर-ऊपर से भाव-परिवर्तन दिखाते हुए भी) मन जिनका परिवर्तित नहीं है, यदि ऐसे आंतरिक शत्रु किसी (शासक इत्यादि) के हों तो वह उसके निकटस्थ मित्रों का भी मन बिगाड़ देने जैसे कई दोषों का कारण बनेंगे ।। ४ ।।

उऱल्मुऱैयान् उट्पहै तोन्ऱिन् इऱल्मुऱैयान्
एदम् पलवुम् तरुम् ।। ५ ।।

सगे, सनेही, स्वजनों में रिपु-अंकुर का हो गया विकास ।
विविध सन्धि-अभिसन्धि[3], किसी दिन निश्चित् उनसे पूर्ण विनाश ।। ५ ।।

यदि किसी व्यक्ति की आंतरिक शत्रुता संबंधियों से हो जाये तो वह ऐसे कई दोषों को प्रदान करेगी जो मृत्यु (तक) का कारण बन जायेगी ।। ५ ।।

ऒन्ऱामै ऒन्ऱियार् कट्पडिन् ऎञ्ञान्ऱुम्
पॊन्ऱामै ऒन्ऱल् अरिदु ।। ६ ।।

घर, परिवार, वृन्द— आपस में उपज गया यदि अन्तर-वैर ।
नित्य सुलगती उस अगिनी से, कभी न रक्षा, कभी न खैर[4] ।। ६ ।।

यदि किसी के विरुद्ध, स्वजनों में ही आंतरिक शत्रुता उत्पन्न हो जाये, तो उस अन्तर्वैर से अपना विनाश न होना असंभव ही है ।। ६ ।।

शॆप्पिन् पुणर्च्चिबोल् कूडित्तुम् कूडादे
उट्पहै उट्ऱ कुडि ।। ७ ।।

---

१ वह धागा, जो कुम्हार बर्तन को चाक पर से काटने के काम में लाता है
२ उलटी हानि ३ कपट का मेल और षड्यंत्र ४ कल्याण ।

डिबिया-ढक्कन, एक साथ में, एक वस्तु हैं, यही प्रतीति[1] ।
अन्तर-कलह-ग्रसित घर की भी यही रीति, ऐसी ही प्रीति ॥ ७ ॥

डिबिया और (उसके) ढक्कन की तरह ऊपर से जुड़े हुए दिखने पर भी, जिस गृह में आंतरिक वैर है वहाँ के लोग भीतर से अलग-अलग ही होते हैं ॥ ७ ॥

अरम्पॊरुद पॊन्बोलत् तेयुम् उरम्पॊरुद्
उट्पहै उट्ऱ कुडि ॥ ८ ॥

घृणा परस्पर छाई है, वह भले एक ही है परिवार ।
निश्चय उसका नाश ! भले घर में हो भरा स्वर्णभण्डार ॥ ८ ॥

जिस घर (के लोगों) में परस्पर घृणा मनों के भीतर छाई है, वह घर, सुवर्ण से भरा हुआ—स्वर्णभण्डार होता हुआ भी विनष्ट हो जायगा ॥ ८ ॥

ऎट्पह वन्न शिरुमैत्ते आयिनुम्
उट्पहै उळ्ळदाम् केडु ॥ ९ ॥

तिल से क्षीण, [केश से पतली], यदि मन में पड़ गई दरार ।
ताड़ उसी तिल से बनकर, कर देगा नष्ट कुटुम-परिवार ॥ ९ ॥

तिल में दरार जितनी छोटी मात्रा में भी यदि मन में ग़ैरियत आ जाय तो (एक कुटुम्ब का विनाश करने जितनी) बुराई उस अन्तर्वैर में है ॥ ९ ॥

उडम्पाडु इलादवर् वाऴ्क्कै कुडङ्गरुळ्
पाम्बोडु उडनुऱैन् दट्रु ॥ १० ॥

आपस में मन-मेल नहीं, तन से मिलान, उर-अन्तर्दाह[2] ।
एक साथ इनका, ज्यों कुटिया में है सर्प सहित निर्वाह ॥ १० ॥

जिनसे मन का मेल नहीं, ऐसे व्यक्तियों के साथ रहकर जीवन बिताना वैसा ही है, जैसे एक कुटिया में साँप के साथ निवास करना॥१०॥

अदिहारम् (अध्याय) ९०

पॆरियारैप् पिऴैयामै (प्रबलों को असंतुष्ट न करना)

आट्रुवार् आट्रल् इहऴामै पोट्रुवार्
पोट्रलुळ् ऎल्लाम् तलै ॥ १ ॥

---

१ मालूम होता है २ हृदय में वैर या जलन

प्रबल समर्थ व्यक्तियों से है उचित न लेना कभी विरोध।
सबसे बड़ी सुरक्षा है यह, सबसे बड़ा विपत्ति-निरोध[1] ॥ १ ॥

समर्थ और प्रबल व्यक्तियों का अपमान न करे, यह कार्य रक्षकों द्वारा रक्षा के लिए किये जाने वाले सभी कार्यों में से सबसे महान् सुरक्षा-कार्य है ॥ १ ॥

पॅरियारैप् पेणादु ऑऴुहिऩ् पॅरियाराल्
पेरा इडुम्बै तरुम् ॥ २ ॥

प्रबलों का सम्मान न करना, उनकी ओर न देना ध्यान।
नानाविधि के लगातार यह कर सकता है दुःख प्रदान ॥ २ ॥

यदि (सक्षम) बड़ों से उपेक्षा के साथ व्यवहार किया जायेगा तो वह (व्यवहार) उस सशक्त व्यक्ति की ओर से दारुण दुख प्रदान करनेवाला होगा ॥ २ ॥

कॅडल्वेण्डिऩ् केळादु शॅय्ह अडल्वेण्डिऩ्
आट्ऱु बवर्कण् इऴुक्कु ॥ ३ ॥

निज-विनाश प्रिय ! तो सशक्त की सीख न मान, करो अपमान।
असंतोष उस प्रबल व्यक्ति का कर देगा विनाश आसान ॥ ३ ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वयं का विनाश चाहता है तो बिना पूछे ही (अर्थात् मनमाने ढंग से) उन सक्षम व्यक्तियों से दुर्व्यवहार करे जो नाश करना चाहें तो वैसा ही कर दिखाने की सामर्थ्य रखते हैं ॥ ३ ॥

कूट्ऱत्तैक् कैयाल् विळित्तट्ऱाल् आट्ऱुवार्क्कु
आट्ऱादार् इऩ्ऩा शॅयल् ॥ ४ ॥

निर्बल व्यक्ति, सबल के प्रति यदि करता, कभी हानि-अपमान।
यह दुर्नीति व 'अपने हाथों मौत बुलाना' एक समान ॥ ४ ॥

असमर्थ व्यक्ति द्वारा, समर्थ व्यक्ति को हानि पहुँचाना वैसा ही है जैसे (स्वयं ही आकर विनाश करने में समर्थ) यमराज को हाथ से संकेत कर बुलाना ॥ ४ ॥

याण्डुच्चॅऩ्ऱु याण्डुम् उळराहार् वॅन्दुप्पिऩ्
वेन्दु शॅऱ्प्पट् टवर् ॥ ५ ॥

अधिनायक अधीश बलशाली के प्रकोप के हुए शिकार।
निरालम्ब[2] बस कहीं न जग में उसका संभव फिर निस्तार[3] ॥ ५ ॥

१ आपदा-निवारण २ बेसहारा ३ कल्याण, बचाव।

जो बहुत ही शक्तिशाली राजा के कोप-भाजन बन गये, वे उससे बचने के लिए चाहे कहीं भी जायें, परित्राण नहीं पा सकेंगे ॥ ५ ॥

ऍरियाऱ् शुडप्पडिनुम् उय्वुण्डाम्; उय्याऱ्
पॆरियार्प् पिळैत्तॊळुहु वाऱ् ॥ ६ ॥

दावानल[1] में फसा, दाह से बचकर पा सकता है त्राण।
किन्तु प्रबल के कोपानल से कभी न संभव बचना प्राण ॥ ६ ॥

अग्नि से जल जाने के बाद भी संभव है कि प्राण बच जायें और जीवित रहा जा सके, परन्तु सक्षम बड़े लोगों का अपराध करनेवाले का बचकर जीना संभव नहीं ॥ ६ ॥

वहैमाण्ड वाऴ्क्कैयुम् वान्पॊरुळुम् ऍन्नाम्
तहैमाण्ड तक्काऱ् शॆरिऩ् ? ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ महानों को प्रकुप्त कर गवाँ दिया उनका सहयोग।
धन-वैभव सब व्यर्थ ! न सम्भव उनका किसी भाँति उपयोग ! ॥ ७ ॥

(अपनी) योग्यता से श्रेष्ठत्व प्राप्त किये हुए महान् व्यक्ति को किसी ने यदि कुपित कर दिया तो उसके (अर्थात् कुपित करनेवाले) विविध शोभा-युक्त जीवन और विशाल वैभव का क्या उपयोग ? ॥ ७ ॥

कुन्ऱऩ्ऩार् कुन्ऱ मदिप्पिन् कुडियॊडु
निन्ऱऩ्ऩार् माय्वर् निलत्तु ॥ ८ ॥

तपसी श्रेष्ठ महान् व्यक्तियों की भृकुटी किञ्चित् भी वाम[2]।
जग में अतुल विभव के प्राणी भी समूल जाते यमधाम ॥ ८ ॥

पर्वत के समान (अटल, सर्वसहनशील) श्रेष्ठ व्यक्ति यदि सोचें तो जगत में अविनश्वर शाश्वत-सम लगनेवाले लोग भी वंश-सहित उसी क्षण नष्ट हो जायेंगे ॥ ८ ॥

एन्दिय कॊळ्हैयार् शीऱिन् इडैमुरिन्दु
वेन्दनुम् वेन्दु कॆडुम् ॥ ९ ॥

सन्त पवित्र परंतप जन का यदि जागरित कर दिया कोप।
राज्य, विभव, सम्राट्—सकल का निश्चित समझो जग से लोप ॥ ९ ॥

श्रेष्ठ उद्देश्यों से प्रेरित महान् व्यक्ति यदि क्रुद्ध हो जायें तो, सम्राट् की भी कमर टूट जायेगी, वह अपना साम्राज्य खो देगा और विनाश को प्राप्त हो जायेगा ॥ ९ ॥

---

१ वन की अग्नि २ उलटी, टेढ़ी।

इरन्दमैन्द शार्पुडैयर् आयिनुम् उय्यार्
शिरन्दमैन्द शीरार् शॆरिन् ।। १० ।।

सन्त, सिद्धजन, परस्वारथ में लीन जनों का कोप महान् ।
अगर सहायक सकल शक्तियाँ जग की, अपितु[1] नहीं कल्यान ।। १० ।।

अपनी साधना में श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त महिमावान् व्यक्ति यदि क्रुद्ध हो जायें तो, सीमाहीन प्रभावयुक्त सहायकों-सहित व्यक्ति भी छूटकर बच नहीं सकते ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ९१
पॆण्वऴिच्चेरल् (पत्नी-वशीभूत)

[इस अध्याय में, पाठकों को यह भ्रम न उत्पन्न हो जाय कि महर्षि तिरुवल्लुकर ने नारी की महत्ता को गिराया है। 'तिरुक्कुरळ' में नारी के प्रति सर्वत्र महान् आदर है। यहाँ संकेत है पुरुष के पौरुष पर नारी का आधिपत्य, न कि नारी का सहयोग ! इसमें तो तथा-कथित प्रगतिशील नवीनतावादी भी मतभेद नहीं रखते, यदि वे साथ ही कर्मठ और पुरुषार्थी हैं तो !]

मनैविऴैवार् माण्बयन् ऎय्दार्; विनैविऴैवार्
वेण्डाप् पॊरुळुम् अदु ।। १ ।।

जन-मुरीद[2], नारी-अनुशासित[2] को कदापि है सुलभ न सिद्धि।
कर्ममार्ग के व्रती पुरुष को त्याज्य सदा नारी की बुद्धि ।। १ ।।

पत्नी पर आसक्त हो, उसके कथनानुसार ही चलनेवाले व्यक्ति, उत्तम सिद्धियों को प्राप्त नहीं कर सकते; कर्तव्य का पालन करने की इच्छा करनेवाले के लिए [पत्नी के प्रति पूरा प्रेम और आदर रखते हुए भी] पत्नी की दासता से अरुचि होनी चाहिए ।। १ ।।

पेणादु पॆण्विऴैवान् आक्कम् पॆरियदोर्
नाणाह नाणुत् तरुम् ।। २ ।।

कर्तव्यों के प्रति विराग है पत्नी पर अतुलित अनुराग ।
धन-सम्पति सब व्यर्थ, लोक में, निन्दित होगा वह दुर्भाग[3] ।। २ ।।

कर्तव्य के प्रति आसक्ति न रखकर, पत्नी के स्त्रीत्व के प्रति आसक्ति रखनेवाले की संपदा और उसका सर्वस्व बहुत बड़ी लज्जा का हेतु साबित होगी ।। २ ।।

---

१ फिर भी २ पत्नी का दास ३ अभागा, भाग्यहीन ।

इल्लाळ्कण् ताळ्न्द इयल्पिन्मै ऍन्ञान्रुम्
नल्लारुळ् नाणुत् तरुम् ॥ ३ ॥

भीरु[१], सदा सब कामों में अनुवर्ती[२] जो पत्नी का दास।
भद्रजनों के बीच सदा निश्चित उसको लज्जा-उपहास ॥ ३ ॥

यदि कोई व्यक्ति स्त्री से दबकर भीरु बना रहनेवाला है, तो वह [अवाञ्छनीय स्वभाव] समझदार समाज में उसके लिए लज्जा और अपमानजनक सिद्ध होगा ॥ ३ ॥

मनैयाळै यञ्जुम् मरुमैयि लाळन्
विनैयाण्मै वीऱॆय्दल् इन्रु ॥ ४ ॥

नारी के अंकुश में रहकर, अस्थिर होते हैं सब कर्म।
लोक और परलोक विनसते, दोनों उस कायर के धर्म ॥ ४ ॥

जो पत्नी से डरकर (अर्थात् उसके दबाव में रहकर) आचरण करता है उसको कभी मोक्ष की सिद्धि तो नहीं ही है; वरन् ऐसे व्यक्ति के सांसारिक कर्मों में भी सफलता और यश सुलभ नहीं। [उसका लोक-परलोक दोनों ही निष्फल होगा।] ॥ ४ ॥

इल्लाळै यञ्जुवान् अञ्जुमट् ऱॆञ्ञान्रुम्
नल्लार्क्कु नल्ल शॆयल् ॥ ५ ॥

पत्नी से भयभीत व्यक्ति की विपुल सम्पदा भी बेकार।
भय के मारे कर न सकेगा, वह, सत्कर्म न पर-उपकार ॥ ५ ॥

पत्नी से डरकर रहनेवाला व्यक्ति [अपनी कमाई हुई] संपत्ति को [इच्छा रहते] भी भली राह में खर्च करने और सुपात्र सज्जनों का उससे उपकार करने में भयभीत रहता है। [वह उसका सदुपयोग भय के मारे न कर सकेगा।] ॥ ५ ॥

इमैयारिन् वाऴिनुम् पाडिलरे इल्लाळ्
अमैयार्तो ळञ्जु पवर् ॥ ६ ॥

पत्नी के सुकुमार बाहु, जिन कापुरुषों[३] के हैं आधार।
दैवी सुख से युक्त! न फिर भी सुलभ उन्हें जग में सत्कार ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति बाँस की तरह (चिकने, लचीले और अस्थिर) 'पत्नी के कंधों' से डरते हैं [अर्थात् निर्भर रहते हैं], वे इस संसार में चाहे देवताओं

---

१ डरपोक, दब्बू २ आज्ञा में चलनेवाला ३ कायरों।

की तरह (ऐश्वर्य, सुख में) रहते हों, पर [समाज में] सम्मान के भागी नहीं हो सकते ।। ६ ।।

पॆण्णेवल् शॆय्दॊऴुहुम् आण्मैयिऩ् नाणुडैप्
पॆण्णे पॆरुमै उडैत्तु ।। ७ ।।

निज पौरुष की लाज न जिसको, नारी-सञ्चालित[1] इन्सान ।
उससे, सहज सलज्ज शीलवन्ती नारी है अधिक महान् ।। ७ ।।

जो पुरुष, स्त्री के अनुशासन पर चलता है, उसके निर्लज्ज पौरुष से तो स्त्री का सहज सलज्ज स्त्रीत्व [नारी-आचरण] श्रेष्ठतर है ।। ७ ।।

नट्टार् कुऱैमुडियार् नऩ्ऱाट्ऱार् नऩ्नुदलाळ्
पॆट्टाङ्‌ कॊऴुहु पवर् ।। ८ ।।

रमणी की सुरम्य भृकुटी के संकेतों पर जिनके काम ।
सगे, सनेही, या समाज-हित ऐसे पुरुष सदा बेकाम[2] ।। ८ ।।

अपना इच्छित कार्य न कर, पत्नी की इच्छा के अनुसार कार्य करने-वाला न तो अपने स्नेहीजनों के अभावों की पूर्ति करेगा और न ही कोई सुधर्म ही करेगा ।। ८ ।।

अऱविऩैयुम् आऩ्ऱ पॊरुळुम् पिऱविऩैयुम्
पॆण्णेवल् शॆय्वार्कण् इल् ।। ९ ।।

पत्नी के अनुवर्ती जन, पत्नी ही में रहते लवलीन ।
धर्म, अर्थ, कामना— सुक्ख सब, रहते इनसे सदा विहीन ।। ९ ।।

धर्म-कर्म तथा उसके लिए आवश्यक धन और उसके अतिरिक्त अन्य अच्छे काम, स्त्री की आज्ञा पर चलनेवाले के पास नहीं फटकते ।। ९ ।।

ऎण्शेर्न्द नॆञ्जत्तु इडऩुडैयार्क्कु ऎञ्ञऩ्ऱुम्
पॆण्शेर्न्दाम् पेदैमै इल् ।। १० ।।

बुद्धि-विवेक-समृद्धि-युक्त, संयमी पुरुष ही है बलवान् ।
विवश न उसको कर पाता है नारि-दासता का अज्ञान ।। १० ।।

जिनका मन, सुविचारों से युक्त है और जो उपयुक्त ऐश्वर्य से युक्त हैं, ऐसे व्यक्ति में स्त्री के आज्ञा-पालन से उत्पन्न अज्ञान नहीं होता ।। १० ।।

---

1 पत्नी के आदेश पर चलनेवाला 2 कोई भला न कर सकनेवाले ।

अदिहारम् (अध्याय) ९२
वरैविन् महळिर् (वार-वनिता)

अन्बिन् विऴैयार् पॊरुळ्विऴैयुम् आय्तॊडियार्
इन्शॊल् इऴुक्कुत् तरुम् ॥ १ ॥

धन-लोलुप, शृंगार-सजी वनिताओं[1] का वह कृत्रिम[2] प्यार ।
प्रेम नहीं, वह मोह-पाश कर देता मानव का संहार ॥ १ ॥

प्रेम के कारण स्नेह न कर, धन के कारण स्नेह करनेवाली वेश्याओं के मधुर वचन व्यक्ति के मन को पीड़ा ही देते हैं ॥ १ ॥

पयन्तूक्किप् पण्बुरैक्कुम् पण्बिन् महळिर्
नयन्तूक्कि नळ्ळा विडल् ॥ २ ॥

धन की घटती-बढ़ती से घटता-बढ़ता जिनका अनुराग ।
मधुवयनी[3] छलभरी[4] नारि ये— करो सर्वथा इनका त्याग ॥ २ ॥

लाभ को तोलकर उसके अनुरूप ही मधुर वचन बोलनेवाली [और प्रेमदान करनेवाली] वेश्याओं के व्यवहार को परखकर [उनसे बचना और] उनका संपर्क छोड़ देना चाहिये ॥ २ ॥

पॊरुट्पॆण्डिर् पॊय्म्मै मुयक्कम् इरुट्टरैयिल्
ऎदिल् पिणन्दऴीइ यट्रु ॥ ३ ॥

धन-लोलुप[5] वनिता-आलिङ्गन का वस्तुतः एक ही अर्थ ।
अन्धकार में भ्रमवश[6], जैसे शव[7] का आलिङ्गन है व्यर्थ ॥ ३ ॥

धन को चाहनेवाली वेश्या का झूठा आलिंगन, अंधेरे कमरे में एक अनजान शव को आलिंगन करने जैसा है । [अंधकार में वह शव जीवित प्राणी का भ्रम देता है, उसी प्रकार वेश्या का धन के प्रति प्रेम, हमको अपने प्रति प्रेम होने का धोखा देता है ।] ॥ ३ ॥

पॊरुट्पॊरुळार् पुन्नलम् तोयार् अरुट्पॊरुळ्
आयुम् अऱिवि नवर् ॥ ४ ॥

परमारथ प्रिय जिन्हें, विवेकी जन को धर्म प्रमुख है अर्थ[8] ।
धन-सुवर्ण पर बिकनेवाली वर-वनिताएँ[9] उनको व्यर्थ ॥ ४ ॥

धन ही जिनकी एकमात्र संपदा है, ऐसी वेश्याओं से प्राप्त तुच्छ सुख को, परमार्थ जैसी श्रेष्ठ वस्तु का संधान करनेवाले बुद्धिमान् व्यक्ति, नहीं पसंद करते ॥ ४ ॥

---

१ दुश्चरित्र नारियों, वेश्याओं २ बनावटी ३ मीठा बोलनेवाली ४ ठगनेवाली ५ धन की चहेती ६ धोखे में ७ मुर्दा शरीर ८ प्रयोजन, अभीष्ट ९ वेश्याएँ ।

पोंदुनलत्तार् पुऩ्ऩलम् तोयार् मदिनलत्तिऩ्
माण्ड अऱिवि ऩवर् ।। ५ ।।

धन के बल पर अंग सुलभ हैं जिनके सब को एक समान[1] ।
विज्ञ-प्रबुद्ध[2] न मोहित होते, उन पर देते कभी न ध्यान ।। ५ ।।

सद्बुद्धि और विवेकपूर्ण ज्ञानवान्, धन देनेवाले सभी (व्यक्तियों) को समान रूप से शरीर (प्रेम) दान करनेवाली वेश्याओं के मोह में कभी नहीं फँसते ।। ५ ।।

तन्नलम् पारिप्पार् तोयार् तहैशेरुक्किप्
पुऩ्ऩलम् पारिप्पार् तोळ् ।। ६ ।।

सुयश जिन्हें प्रिय [अपयश से भय], जग में जो ऐसे नररत्न ।
हाव-भाव-शृंगार विलासिनि के, उन पर सब विफल प्रयत्न ।। ६ ।।

अपने धर्म और सुयश को बनाये रखनेवाले श्रेष्ठजन, नृत्य, संगीत और रूप के बल पर विमुग्ध करनेवाली [धनलोलुपा] स्त्रियों के हाव-भाव से, सदैव अपने को बचाये रखते हैं ।। ६ ।।

निऱैनेञ्जम् इल्लवर् तोय्वर् पिऱनेञ्जिर्
पेणिप् पुणर्पवर् तोळ् ।। ७ ।।

मन में धन का ध्यान, किन्तु तन से दर्शातीं प्रेम अनन्त ।
उनमें भ्रमित वही होते हैं, जो असंयमी निपट असन्त ।। ७ ।।

अन्यत्र [धन अथवा अन्य धनी में] चित्त लगाकर [दूसरे व्यक्ति से] रमण करनेवाली वेश्याओं के कंधों को वे ही छूते हैं, जिनमें अपने मन को नियंत्रित और संतुलित करने की शक्ति नहीं है ।। ७ ।।

आयुम् अऱिविऩर् अल्लार्क् कणङ्गेऩ्ब
माय महळिर् मुयक्कु ।। ८ ।।

'प्रीति' और 'छलप्रीति'—न जिनको इनके अन्तर का है भास[3] ।
फन्द पिशाचिन के समान कुलटा प्रेमी का करती नास ।। ८ ।।

वेश्याओं के वंचकतापूर्ण कार्यों को परखने और समझने की बुद्धि जिनमें नहीं है, उनके लिए वेश्या का भोग-विलास मोहिनीपाश के समान है । [वेश्या उस दुष्टा देवी के समान होती है जो कामी व्यक्ति के प्राण हर लेती है ।] ।। ८ ।।

१ धन पाकर सबको प्रेम देनेवाली २ ज्ञानी बुद्धिमान्‌जन ३ ज्ञान, पहचान ।

वरैविला माणिळैयार् मॆन्ऱोळ् पुरैयिलाप्
पुरियर्कळ् आळुम् अळरु ॥ ९ ॥

वर-वनिता[१] के रत्नजटित युगबाहु-पाश[२] हैं रौरव नर्क।
पतित और अज्ञानी जन उसमें निमग्न होते हैं ग़र्क़[३] ॥ ९ ॥

वेश्याओं की सुरम्य आभूषित बाहु, अज्ञानी पतितों के लिए डूब मरने के लिए नरक-स्थल के समान हैं ॥ ९ ॥

इरुमनप् पॆण्डिरुम् कळ्ळुम् कवरुम्
तिरुनीक्कप् पट्टार् तॊडर्पु ॥ १० ॥

मदिरा, द्यूत[४] और हरजाई[५] [हैं तीनों समान अपवित्र]।
लक्ष्मी जिन पर कुपित, निर्धनी भाग्यहीन के तीनों मित्र ॥ १० ॥

द्वैध-मना [अनेकजनों को प्रेम देनेवाली] वेश्या, मद्य और जुए का खेल, इन तीनों का लक्ष्मी द्वारा त्यक्त [निर्धन-भाग्यहीन] व्यक्तियों से ही मेल रहता है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ९३

कळ्ळुण्णामै—(मद्य-निषेध)

उट्कप् पडाअर् ऒळियिऴ्प्पर् ऎञ्ञान्ऱुम्
कट्कादल् कॊण्डॊऴुहु वार् ॥ १ ॥

ताड़ी-मद्य नित्य प्रिय जिनको, उनके रिपु होते भय-हीन।
और पुरातन[६] कीर्ति गवाँ कर हो जाते सम्मान-विहीन[७] ॥ १ ॥

जो मद्य पर आसक्त रहते हैं, उनसे उनके शत्रुओं को भय नहीं लगता; साथ ही वे अपने पूर्व अर्जित सम्मान को भी खो देते हैं ॥ १ ॥

उण्णऱ्क कळ्ळै; उणिलुण्ह शान्ऱोरान्
ऎण्णप् पडवेण्डा दार् ॥ २ ॥

नशा हराम[८] सदैव, न फिर भी यदि सम्भव मदिरा का त्याग।
भद्रजनों में आदर पाने का उपजे न तुम्हें अनुराग[९] ॥ २ ॥

---

१ वेश्या २ रत्नाभूषण से सजी बाहुओं में आलिंगित ३ डूबते हैं ४ जुआ ५ हर एक पास रहनेवाली, व्यभिचारिणी ६ पुरानी ७ प्रतिष्ठा गवाँ बैठते हैं ८ निषिद्ध ९ चाव, लालसा।

मद्य का पान नहीं करना चाहिये; पर यदि किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ व्यक्तियों से सम्मान पाने की इच्छा न हो तो वह भले ही मद्य-पान करे! ॥ २ ॥

ईन्ड्राळ् मुहत्तेयुम् इन्नादल् ऎन्मट्रुच्
चान्ड्रोर् मुहत्तुक् कळि ? ॥ ३ ॥

ममतामयी मातृ दुख पाती, लखती जब तुमको मदमत्त[1]।
किस निगाह से अन्य भद्रजन तुम्हें लखेंगे, हे उन्मत्त[2]! ॥ ३ ॥

जन्म-दात्री माँ के सम्मुख भी मदमत्त होना [अनुचित बात है] उसको दुखदाई होता है। फिर श्रेष्ठ व्यक्तियों के सम्मुख तो कहना ही क्या ? ॥ ३ ॥

नाणॆन्नुम् नल्लाळ् पुरङ्कॊडुक्कुम् कळ्ळॆन्नुम्
पेणाप् पॆरुङ्कुट्रत् तार्क्कु ॥ ४ ॥

सकल-विनिन्दित[3] सुरापान पर भी, जिन असुरों को अनुराग।
लाज त्याग कर कमनीया 'लज्जा' भी उनका करती त्याग ॥ ४ ॥

लज्जा नामक सुशील नारी, सब ओर से निन्दित सुरा का पान करनेवाले व्यक्तियों से विमुख होकर चली जाती है ॥ ४ ॥

कैयरि यामै उडैत्ते पॊरुळ्कोडुत्तु
मॆय्यरि यामै कॊळल् ॥ ५ ॥

अर्थ[4] गवाँया[5], सुरा खरीदी, पीकर सुध-बुध[6] हुए विहीन।
दुष्परिणति[7] का ज्ञान नहीं, वे ही जन करते कर्म-मलीन[8] ॥ ५ ॥

मूल्य देकर मद्य-पान करके, अपने शरीर को भूल जाना, होशहवास खो देना, उसके [विनाशकारी] परिणाम को न जानना और निपट अज्ञान ही तो है ॥ ५ ॥

तुञ्जिनार् शॆत्तारिन् वेऱल्लर् ऎञ्ञान्ऱुम्
ऎञ्जुण्बार् कळ्ळुण् बवर् ॥ ६ ॥

निद्राग्रस्त[9] और मृत[10]— दोनों की जैसे है दशा समान।
वैसे ही ताड़ी-शराब से करते हैं प्रतक्ष[11] विषपान ॥ ६ ॥

जिस प्रकार, सोया हुआ आदमी मृतक से भिन्न नहीं होता, उसी

---

१ नशे में डूबा २ हे बावले ! ३ सब ओर से निन्दित, धिक्कारी हुई ४ धन ५ खोया ६ होश हवास ७ बुरा परिणाम ८ नशा पीने का बुरा काम ९ सोया हुआ १० मरा हुआ ११ प्रत्यक्ष, बिलकुल।

प्रकार, मद्य-पान किया हुआ व्यक्ति भी (चेतना लुप्त होने के कारण) विष-पान किये हुए के समान होता है ।। ६ ।।

उळ्ळॊट्ट्रि उळ्ळूर् नहप्पडुवर् ऎञ्ञान्ऱुम्
कळ्ळॊट्ट्रिक् कण्शाय बवर् ।। ७ ।।

छिपकर पीते नशा, होश खोने पर करते हैं बकवास[1] ।
मन में छिपे भेद को सुनकर, जनता करती है उपहास ।। ७ ।।

लुक-छिपकर मद्य-पानकर, चेतना खोनेवाले व्यक्ति के आंतरिक भेद [सुध-बुध न रहने के कारण उसके मुख से निकल जाते हैं और उन-] को जानकर बस्ती के लोग परिहास करते हैं ।। ७ ।।

कळित्तऱियेन् ऎन्बदु कैविडुह; नॆञ्जत्तु
ऒळित्तदूउम् आङ्गे मिहुम् ।। ८ ।।

'नहीं नशे की लत[2] मुझको है' काम न देगा कथन-असत्य[3] ।
क्योंकि नशे की मदहोशी[4] में खुल जायेगा सही रहस्य ।। ८ ।।

मद्यप को चाहिए कि वह "मैं मद्य नहीं पीता" यह कहना छोड़ दे; [इससे बचाव नहीं, क्योंकि नशा आते ही] मन में गुप्त दोष भी मद्य पीने पर प्रगट हो जाते हैं [और यह छिपा न रहेगा कि तुम नशा पीते हो ।] ।। ८ ।।

कळित्तानैक् कारणम् काट्टुदल् कीऴ्नीर्क्
कुळित्तानैत् तीत्तुरीइ यट्ऱु ।। ९ ।।

नशेबाज को समझाने, गुण-दोष बताने का क्या अर्थ ।
जलनिमग्न[5] की खोज हेतु जैसे दीपक दिखलाना व्यर्थ ।। ९ ।।

मद्यप को [मद्य या किसी भी बुराई का] गुण-दोष समझाने का प्रयत्न करना वैसा ही है, जैसे गहरे पानी में डूब चुके व्यक्ति को दीपक लेकर ढूंढ़ना ।। ९ ।।

कळ्ळुण्णाप् पोऴ्तील् कळित्तानैक् काणुङ्गल्
उळ्ळान्कॊल् उण्डदन् शोर्वु ? ।। १० ।।

नहीं नशा, तब अन्य[6] नसेड़ी[7] की दुर्गति लख, नहीं सम्हार[8] ।
यही कुगति अपनी भी बनती, जब निज पर है नशा सवार ।। १० ।।

(सामान्यत: मद्य पीने की आदतवाला) व्यक्ति जब स्वयं मद्य पिये

---

१ बहुत बकना २ आदत, बान ३ सेवन करते हुए भी इन्कार ४ नशे की बेसुध हालत ५ पानी में डूबा हुआ ६ कोई दूसरा व्यक्ति ७ नशा सेवन करने-वाला ८ होश, चेतना ।

नहीं होता, और वह अपनी सही हालत के समय किसी अन्य मदमत्त को देखता है, तो क्या वह मद्य-पान से उत्पन्न कुगति की कल्पना नहीं कर पाता ? [अर्थात् क्या उसके मन में यह विचार नहीं आता कि जब वह स्वयं मदमत्त होता होगा तो उसकी भी दुर्गति यही होती होगी ?] ॥१० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ९४

शूदु (द्यूत—जुआ)

वेण्डऱ्क वॆन्ऱिडिनुम् शूदिनै वॆन्ऱदूउम्
तूण्डिऱ्पॊन् मीन्विऴुङ्गि यट्ऱु ॥ १ ॥

विजय-लाभ हो, किन्तु लोभवश जाना नहीं जुए के पास ।
मछली की कटिया का चारा-सदृश, विजय करती है नाश ॥ १ ॥

जुआ (खेलने) की इच्छा नहीं रखनी चाहिये, चाहे उसमें स्वयं को विजय ही क्यों न प्राप्त होती हो; (क्योंकि) प्राप्त विजय भी उस काँटे के समान होती है जिसे (चारा समझकर) मछली निगल जाती है ॥ १ ॥

ऒन्ऱॆय्दि नूऱिऴक्कुम् शूदर्क्कुम् उण्डाङ्कॊल्
नन्ऱॆय्दि वाऴ्वदोर् आऱु ॥ २ ॥

पाते एक, गवाँते सौ-सौ, घातक अमित जुए की चाह ।
द्यूत-कमाई के बल पर सुख से कैसे जीवन-निर्वाह ॥ २ ॥

एक (गुना धन) पाकर सौ (गुना) खो देनेवाले जुआरी को, क्या कल्याणकारी जीवन-मार्ग प्राप्त हो पायेगा ? ॥ २ ॥

उरुळायम् ओवादु कूऱिन् पॊरुळायम्
पोऒय्प् पुऱमे पडुम् ॥ ३ ॥

पाँसे ही की बात सर्वदा, जुआ रात-दिन का है खेल ।
सकल सम्पदा उसको तज कर, उसके रिपु से करती मेल ॥ ३ ॥

यदि कोई व्यक्ति लुढ़कते हुए साधन (जुए के पाँसे) द्वारा प्राप्त होनेवाले धन की आशा रखकर, लगातार जुआ खेलता रहेगा तो उसका धन व आय उसे छोड़कर (उसके) शत्रुओं के पास पहुँच जायेंगे ॥ ३ ॥

शिऱुमै पलशॆय्दु शीरऴिक्कुम् शूदिऩ्
वऱुमै तरुवदॊऩ्ऱिल् ।। ४ ।।

नाना क्लेश जुआ उपजाता, जुआ अतुल अपयश का द्वार।
इससे बढ़कर कौन दुर्व्यसन निर्धनता का सिरजनहार ? ।। ४ ।।

कई प्रकार के दु:ख देकर, और (पहले से अर्जित) यश का नाशकर, कंगाल-स्थिति प्रदान करने के लिए, जुए जैसा (दुर्व्यसन) और कुछ नहीं है ।। ४ ।।

कवऱुम् कऴहमुम् कैयुम् तरुक्कि
इवऱियार् इल्लाहि यार् ।। ५ ।।

द्यूतस्थली, बनन पाँसे की, उसे फेंकने का फिर गर्व।
इनमें फँसे जुआरी का धीरे-धीरे मिट जाता सर्व ।। ५ ।।

जुए का पाँसा, जुआ खेलने का स्थान और हाथ की सफाई (पाँसा फेंकने में नैपुण्य) इन सब पर विश्वास कर, उसे ही पकड़ रखनेवाले व्यक्ति (सब कुछ रहते हुए भी) अन्ततोगत्वा निर्धन हो जाते हैं ।। ५ ।।

अहडारार् अल्लल् उऴप्परॣशू दॆऩ्ऩुम्
मुहडियाल् मूडप्पट् टार् ।। ६ ।।

जुआ-पिशाचिन के फन्दे में यदि मानव का हुआ प्रवेश।
भोजन के लाले ! जीवन में नित्य उपजते नाना क्लेश ।। ६ ।।

जुआ रूपी दुष्ट देवी [तमिऴभाषियों में मूदेवी और श्रीदेवी दो बहनें मानी जाती हैं, जिसमें मूदेवी-बड़ी बहन, दुष्टप्रवृत्ति और विनाशमार्ग पर ले जाती है और श्रीदेवी धन, संपन्नता और उन्नति के मार्ग पर ले जाती है।] जिन्हें ग्रसित कर लेती है, उन्हें पेट-भर खाने तक का अभाव हो जाता है और साथ ही वे अन्य नाना दु:खों से पीड़ित होते हैं ।। ६ ।।

पऴहिय शॆल्वमुम् पण्बुम् कॆडुक्कुम्
कऴहत्तुक् कालै पुहिऩ् ।। ७ ।।

पाल लिया दुर्व्यसन, रात दिन, यदि पड़ गई जुए की बान[1] ।
पुश्तैनी[2] सम्पदा विनसती, मिटता मान और सम्मान ।। ७ ।।

यदि कोई व्यक्ति जुआ खेलने की जगह पर ही अपना सारा समय बिताता होगा, तो वह (आदत) उसकी परंपरागत संपत्ति और श्रेष्ठ गुणों का नाश कर देगी ।। ७ ।।

---

१ आदत २ परम्परा की सञ्चित सम्पत्ति ।

पोरुळ्कॅडुत्तुप् पोय्मेर् कोळीइ अरुळ्कॅडुत्तु
अल्लल् उळप्पिक्कुम् शूदु ॥ ८ ॥

धन-वैभव, गुण, सुयश, जुआरी का मिट जाता है संसार।
निराधार[1] लाचार[2] पकड़ता दिन-दिन वह असत्य-आचार[3] ॥ ८ ॥

जुआ, संपत्ति को नष्टकर, असत्य का आश्रय लेने को बाध्यकर, श्रेष्ठ गुणों को बिगाड़कर, विविध प्रकार के दुःखों को प्रदानकर, पीड़ित करता है ॥ ८ ॥

उडैशॅल्वम् ऊणॉळि कल्वियॅन् रैन्दुम्
अडैयावाम् आयम् कॊळिन् ॥ ९ ॥

द्यूत दुर्व्यसन के चक्कर में यदि फँस गया कहीं इन्सान।
अन्न, वस्त्र, धन, कीर्ति, ज्ञान—सबका मिट जाता नाम-निशान ॥ ९ ॥

यदि किसी को जुए का व्यसन हो जाये तो कीर्ति, विद्या, संपत्ति, अन्न, वस्त्र ये पाँचों उसके निकट न रहकर दूर चले जाएँगे ॥ ९ ॥

इळत्तॊरुउम् कादलिक्कुम् शूदेपोल् तुन्बम्
उळत्तॊरुउम् कादट्रु उयिर् ॥ १० ॥

नहीं हार[4] से हार मानता[5], नित्य जुए में बढ़ता चाव[6]।
दुख पर दुःख बढ़ाते ज्यों तन से प्राणों का नित्य लगाव[7] ॥ १० ॥

जिस प्रकार धन दाँव पर रखकर खोते-खोते जुए से मोह बढ़ता जाता है, उसी प्रकार पीड़ा सहते-सहते प्राणों का शरीर से मोह बढ़ता जाता है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ९५
मरुन्दु (औषध)

मिहिनुम् कुरैयिनुम् नोय्शॅय्युम् नूलोर्
वळिमुदला ऍण्णिय् मून्रु ॥ १ ॥

वात, पित्त, कफ—दोषादिक में यदि संतुलन[8] नहीं अनुकूल।
तभी उपजते हैं शरीर में नाना भाँति व्याधि[9] के शूल[10] ॥ १ ॥

अथवा

कुपित त्रिदोष[11] तभी होते हैं, असंतुलित आहार-विहार[12]।
भोजन-श्रम-अनुपात[12] ठीक, फिर व्यर्थ दवा-दारू-उपचार[13]॥ १ ॥

---

१ बेसहारा　२ विवश　३ झूठ का आचरण　४ दाँव हारना　५ पीछे हटता　६ चस्का, लत, चाट　७ मोह　८ उचित या बराबर तौल　९ बीमारी　१० पीड़ा　११ वात-पित्त-कफ　१२ भोजन और श्रम　१३ उपाय, इलाज।

एक व्याख्याकार के अनुसार : औषध-शास्त्रियों ने (वात, पित्त, कफ) जिन रोग के तीन मूल कारणों का उल्लेख किया है, वे यदि संतुलित मात्रा से कम या अधिक हो जाते हैं, तो रोग उत्पन्न होते हैं ।। १ ।।

अथवा.

दूसरे व्याख्याकार के अनुसार : (आहार और क्रिया) यदि मात्रा से कम या अधिक हो जाते हैं तो औषध-शास्त्रियों ने (वात, पित्त, कफ) जिन तीन मूल कारणों का उल्लेख किया है, वे नाना रोग उत्पन्न करते हैं ।। १ ।।

मरुन्देऩ वेण्डावाम् याक्कैक्कु अरुन्दियदु
अट्ऱदु पोट्ऱि उणिऩ् ।। २ ।।

पहुँच चुका है भली भाँति पाचन को प्रथम किया आहार[1] ।
तभी पुनः भोजन करने पर ' औषध ' नाम वस्तु निस्सार[2] ।। २ ।।

पहले खाये हुए भोजन की पाचन-स्थिति [अर्थात् वह पच चुका है या नहीं] को परखकर, जानकर, उसके पश्चात् अगला भोजन, उचित मात्रा में किया जाय, तो शरीर को ' औषध ' नामक वस्तु की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी ।। २ ।।

अट्ऱाल् अळवऱिन् दुण्ह; अःदुडम्बु
पॆट्ऱाऩ् नॆडिदुय्क्कुम् आऱु ।। ३ ।।

पच जाने पर भोजन के, सीमित[3] ही फिर करना आहार ।
सुखद, स्वस्थ, पूर्णायु प्राप्त करने का निस्संदेह प्रकार ।। ३ ।।

पहले खाया हुआ भोजन जीर्ण हो चुका हो तो उसके पश्चात् आवश्यक मात्रा में, विवेक-पूर्वक भोजन करना चाहिये; यही शरीर-धारी के लिए [अपने शरीर को] लंबी अवधि तक चलाने का उपाय है ।। ३ ।।

अट्ऱदु दऱिन्दु कडैप्पिडित्तु माऱल्ल
तुयक्क तुवरप् पशित्तु ।। ४ ।।

भोजन पचे, क्षुधा जाग्रत हो, करो विचार खाद्य अनुकूल ।
तजो खाद्य बेमेल, यही भोजन विधि और स्वास्थ्य का मूल ।। ४ ।।

पहले खाया हुआ भोजन जीर्ण हो चुका है, यह अच्छी तरह जानकर, खूब भूख लगने के पश्चात्, जिसमें विपरीत गुण नहीं है (अर्थात् जो शरीर-गुणों पर विपरीत प्रभाव नहीं डालते) ऐसा भोजन करना चाहिये ।। ४ ।।

---

१ भोजन २ व्यर्थ ३ न अधिक, न कम ।

मारुपा डिल्लाद उण्डि मरुत्तुण्णिन्
ऊरुपा डिल्लै उयिर्क्कु ॥ ५ ॥

प्रकृति-विरुद्ध न भोजन हो, फिर समुचित हो उसका परिमाण[1] ।
ऐसे संयम के भोजन में सकल व्याधियों का निर्वाण[2] ॥ ५ ॥

प्रकृति के विपरीत न होनेवाले आहार का, उचित मात्रा में, यदि संयम से भोग किया जाये तो, प्राणों के शरीर में वास करने के मार्ग में बाधा-स्वरूप जो रोग होते हैं, वे नहीं होंगे ॥ ५ ॥

इ‌ळिवऱिन् दुण्बान्कण् इन्बम्बोल् निऱ्कुम्
क‌ळिबेर इरैयान्कण् नोय् ॥ ६ ॥

सीमित और नियंत्रित भोजन है जैसे सुख का आगार।
अतिभोजी[3] पर उसी भाँति रहती है सदा व्याधि की मार ॥ ६ ॥

जिस प्रकार सीमित मात्रा का ध्यान रखकर भोजन करनेवाले के पास सुख आश्रय पाता है, उसी प्रकार अधिक मात्रा में करनेवाले को रोग घेरे रहते हैं ॥ ६ ॥

तीयळ वन्ऱित् तेरियान् पेरिदुण्णिन्
नोयळ विन्ऱिप् पडुम् ॥ ७ ॥

पचन-अग्नि की थाह[4] न रखना, करना भोजन किन्तु अथाह[5] ।
ऐसे को घेरे रहता है नानारोग - अनन्तप्रवाह ॥ ७ ॥

जठराग्नि की मात्रा को न जानकर, उसके अनुरूप न होकर, अत्यधिक मात्रा में खाने पर, उससे अनगिनत रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

नोय्नाडि नोय्मुदल् नाडि अदुतणिक्कुम्
वाय्नाडि वाय्प्पच् चेयल् ॥ ८ ॥

तनकीपीड़ा समझ-बूझ कर, फिर दोषों का करो निदान[6] ।
उचित चिकित्सा का तब करना— यही क्रमिक[7] आरोग्य-विधान[8] ॥ ८ ॥

रोग क्या है उसकी जाँचकर, रोग के कारणों की परखकर, उसके निदान को समझने के बाद शरीर के रोगों के शमन का विधान करना चाहिये ॥ ८ ॥

उट्ऱान् अळवुम् पिणियळवुम् कालमुम्
कट्ऱान् करुदिच् चेयल् ॥ ९ ॥

---

१ मात्रा २ मोक्ष, छुटकारा ३ पेटू, बहुत खानेवाला ४ सीमा, नाप
५ असीम, शक्ति से अधिक ६ कारण जानना ७ क्रम से ८ स्वास्थ्य-उपचार-नियम ।

रोगी का बल, दशा, और मौसम, फिर करना व्याधि-निदान।
उचित चिकित्सा तब करना, यह कुशल वैद्य की है पहचान ॥ ९ ॥

रोगी की दशा और शक्ति, रोग की ऋतु तथा रोग का रूप आदि पहले समझकर, तब उपचार करना कुशल वैद्य का लक्षण है ॥ ९ ॥

उट्र्वन् तीर्प्पात् मरुन्दुऴैच् चॆल्वानॆन्ऱु
अप्पाल्नार् कूट्रे मरुन्दु ॥ १० ॥

रोगी, वैद्य, औषधी, परिचारक— इलाज के चारो अंग।
चारों हैं यदि शुद्ध, विफलता[1] का फिर कहिये कहाँ प्रसंग[2] ? ॥ १० ॥

रोगी, रोग का शमन करनेवाला (वैद्य), औषधि, संग बैठकर औषधि देनेवाला (अर्थात् तीमारदार)— इस प्रकार वैद्य-शास्त्र के चार अंग होते हैं ॥ १० ॥

(अंग-प्रकरण समाप्त)

अदिहारम् (अध्याय) ९६

कुडिमै (कुलीनता)

इऱ्पिऱन्दार् कण्णल्ल दिल्लै इयल्बाहच्
चॆप्पमुम् नाणुम् ऒरुङ्गु ॥ १ ॥

सदाचार, [अपयश से] लज्जा— जन्मजात ये सुन्दर भाव।
नहीं सुलभ अन्यत्र, मात्र ये कुलीनता के सहज स्वभाव ॥ १ ॥

सदाचार तथा लज्जा-विनय इन दो अपूर्व भावों का मेल, कुलीन व्यक्तियों को छोड़कर अन्य में, स्वाभाविकता से प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

ऒऴुक्कमुम् वाय्मैयुम् नाणुमिम् मून्ऱुम्
इऴुक्कार् कुडिप्पिऱन् दार् ॥ २ ॥

सत्यशील, अति विनयशील, पुनि सदाचरण— ये लक्षण तीन।
कभी सद्गुणों से, कुलीन वंशज होते हैं नहीं विहीन ॥ २ ॥

कुलीन व्यक्ति सदाचार, सत्य तथा विनम्रता, इन तीनों से कभी स्खलित नहीं होते ॥ २ ॥

नहैईहै इन्शॊल् इहऴामै नान्गुम्
वहैऎन्ब वाय्मैक् कुडिक्कु ॥ ३ ॥

---

1 बीमारी न दूर होने 2 चर्चा, अवसर।

सदा प्रसन्न, विनम्र-शिष्ट, मृदुवचन, सर्वथा सहज उदार।
सत्कुल में जन्मे कुलवानों में निश्चित ये लक्षण चार ॥ ३ ॥

प्रसन्न-मुद्रा, दान, मधुर वचन, निंदा-वर्जन, ये चारों कुलीनों के श्रेष्ठ गुण हैं ॥ ३ ॥

अडुक्किय कोडि पॆऱित्तुम् कुडिप्पिऱन्दार्
कुऩ्ऱुव शॆय्दल् इलर् ॥ ४ ॥

कोटि-कोटि धन के लालच का है कुलीन पर नहीं प्रभाव।
कभी पतन की ओर न उन्मुख[1], मर्यादिक[2] का सहज स्वभाव ॥ ४ ॥

चाहे कोटि-कोटि राशि की प्राप्ति क्यों न होती हो, पर कुलीन व्यक्ति कुल की मर्यादा को हानि पहुँचानेवाले कार्य नहीं करते ॥ ४ ॥

वऴङ्गुव तूऴ्वीऴ्न्दक् कण्णुम् पऴङ्कुडि
पण्बिऱ् ऱलैप्पिरिदल् इऩ्ऱु ॥ ५ ॥

धनाभाव से दानादिक में दैवयोग से यदि असमर्थ।
फिर भी सहज उदार सर्वदा, यह कुलीनता का है अर्थ[3] ॥ ५ ॥

धनाभाव के कारण, दान देकर दूसरों की सहायता करने में भले ही असमर्थ हों, तो भी, परंपरागत महिमावान् कुल में उत्पन्न व्यक्ति अपने उदार स्वभाव से पीछे नहीं हटते ॥ ५ ॥

शलम्पट्ट्रिच् चालुबिल शॆय्यार्मा शट्ट्र
कुलम्पट्ट्रि वाऴ्दुमॆन् बार् ॥ ६ ॥

परम्परा[4] की विमल कीर्ति की रक्षा से है जिनको प्यार।
दीन दशा में भी न पतित आचरणों का लेते आधार[5] ॥ ६ ॥

'निर्मल कुल-धर्म का पालन करेंगे' यों मानकर चलनेवाले कुलीन व्यक्ति गिरी से गिरी दशा में भी निन्दित और अवाञ्छनीय कर्म नहीं करते ॥ ६ ॥

कुडिप्पिऱन्दार् कण्विळङ्गुम् कुट्ट्रम् विशुम्बित्
मदिक्कण् मरुप्पोल् उयर्न्दु ॥ ७ ॥

गगनासीन[6] चन्द्र के धब्बों[7] को कहते हैं लोग कलंक।
श्रेष्ठ जनों का तनिक[8] पतन भी लोक-दृष्टि में लखता पंक[9] ॥ ७ ॥

ऊँचे आकाश में परिक्रमा करनेवाले चन्द्रमा के सामान्य धब्बे जिस

---

१ प्रवृत्त, अनुरक्त २ अपनी और कुल की मर्यादा का प्रेमी ३ लक्षण ४ कुल की, वंश की ५ आश्रय, सहारा ६ ऊंचे आकाश में विचरण करनेवाला ७ दाग, चिन्ह ८ थोड़ा, स्वल्प ९ कीचड़, मलीनता।

प्रकार कलंक माने जाते हैं, उसी कलंक के समान सभी प्रकार श्रेष्ठ कुल-वालों के दोष सामान्य होने पर भी लोगों की दृष्टि में बहुत बड़े नजर आते हैं ॥ ७ ॥

नलत्तिऩ्कण् नारिऩ्मै तोऩ्ऱिऩ् अवऩैक्
कुलत्तिऩ्कण् अैयप् पडुम् ॥ ८ ॥

किसी व्यक्ति में नहीं दरसता करुणभाव या सहज सनेह।
रक्त और कुल की पवित्रता में उसकी, होता सन्देह ॥ ८ ॥

किसी व्यक्ति के श्रेष्ठ गुणों के मध्य ही स्नेहशून्यता (यह स्वभाव) दिखाई दे, तो उस व्यक्ति के कुल के बारे में संदेह उत्पन्न होगा ही ॥ ८ ॥

निलत्तिऱ् किडन्दमै काल्काट्टुम् काट्टुम्
कुलत्तिऱ् पिऱन्दार्वाय्च् चॊल् ॥ ९ ॥

अंकुर[1] से प्रतीत होती है, बीज और धरती की जाति।
'वाणी'-दर्पण[2] में मानव का वंश प्रकट होता उस भाँति ॥ ९ ॥

अंकुर भूमि के गुण को प्रकट करता है, उसी प्रकार कुल-जात की वाणी कुल के गुण को प्रकट करती है ॥ ९ ॥

नलम्वेण्डिऩ् नाणुडैमै वेण्डुम् कुलम् वेण्डिऩ्
वेण्डुह यार्क्कुम् पणिवु ॥ १० ॥

विनम्रता का भाव लोक में देता सुयश और सम्मान।
विनयशील रहकर ही सम्भव जग में है सत्कुल[3] की शान[4] ॥ १० ॥

यदि कोई व्यक्ति सुयश-सम्मान चाहता है तो उसमें विनम्रता होनी चाहिये; यदि कोई व्यक्ति कुल की मर्यादा रखना चाहता है तो उसमें सबके प्रति विनय-भाव होना चाहिये ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ९७

माऩम् (स्वाभिमान)

इऩ्ऱि यमैयाच् चिऱप्पिऩ वायिऩुम्
कुऩ्ऱ वरुब विडल् ॥ १ ॥

जीवन में उत्पन्न परिस्थिति में कितना भी हो अनिवार्य।
किन्तु आत्म-सम्मान-सुरक्षा के विपरीत त्याज्य सब कार्य ॥ १ ॥

---

१ अँखुआ २ बातचीत रूपी आईना ३ पवित्र वंश ४ प्रतिष्ठा, मर्यादा।

(अब कुलीनों के योग्य गुणों का उल्लेख आरंभ करते समय सबसे पहले स्वाभिमान [आत्म-सम्मान] का वर्णन हो रहा है।)

जीवन-यापन के लिए कोई कार्य करना कितना भी अनिवार्य हो, पर ऐसे कार्य को तज ही देना चाहिये जो कुल [की मर्यादा] को हानि पहुँचाये ॥ १ ॥

शीरिऩुम् शीरल्ल शॆय्योर शीरॊडु
पेराण्मै वेण्डु बवर् ॥ २ ॥

सुयश, आत्म-सम्मान— अगर दोनों की है कुलीन को चाह।
स्वाभिमान में बाधक है यश, तो यश की न करे परवाह ॥ २ ॥

जो व्यक्ति कीर्ति के साथ ही सम्मान भी पाना चाहते हैं, वे यश-प्राप्ति के मार्ग में भी ऐसा कार्य नहीं करते जो कुल-गरिमा के उपयुक्त न हो ॥ २ ॥

पॆरुक्कत्तु वेण्डुम् पणिदल् शिऱिय
शुरुक्कत्तु वेण्डुम् उयर्वु ॥ ३ ॥

विनयशीलता ही शोभा है, ज्यों-ज्यों होते संपतिवान्।
दुर्दिन में सब त्याग, सुरक्षित रक्खो सदा आत्म-सम्मान ॥ ३ ॥

संपत्ति के विस्तार-काल में व्यक्ति में विनय-भाव (झुकने की प्रवृत्ति) होना चाहिये; संपत्ति घटकर, विपन्नता की स्थिति में आत्म-सम्मान को बनाये रखना सबसे जरूरी है ॥ ३ ॥

तलैयिऩ् इऴिन्द मयिरऩैयर् मान्दर्
निलैयिऩ् इऴिन्दक् कडै ॥ ४ ॥

शिर-शृंगार[1] केश गिरते ही शिर से, हो जाता अस्पृश्य[2]।
गिरा आत्म-सम्मान, कि मानव हो जाता है पतित अवश्य ॥ ४ ॥

मनुष्य अपना गौरव खोकर [आत्म-सम्मान की ऊँचाई से गिरकर] पतित हो जाता है, जिस प्रकार सिर पर से नीचे गिरे हुए केश की अपवित्र दशा हो जाती है ॥ ४ ॥

कुऩ्ऱिऩ् अऩैयारुम् कुऩ्ऱुवर् कुऩ्ऱुव
कुऩ्ऱि अऩैय शॆयिऩ् ॥ ५ ॥

स्वाभिमान से उन्नत-मस्तक यदि चूके गुंजा-परिमान[3]।
उस सामान्य पतन से भी गिर जाता है उनका सम्मान ॥ ५ ॥

---

१ शिर में सुशोभित २ अपवित्र ३ घुंघची के सदृश थोड़ी मात्रा में।

पर्वत के समान गौरव प्राप्त उच्च-स्थिति में रहनेवाला श्रेष्ठ व्यक्ति, एक घुंघची की मात्रा में भी पतित कर्म कर बैठता है, तो उसका सम्मान घट जाता है ॥ ५ ॥

पुहळ्इन्ऱाल् पुत्तेळ्नाट्टु उय्यादाल् ॲन्मट्ऱु
इहऴ्वार्पिन् शॅन्ऱु निलै ? ॥ ६ ॥

उनका मुहँ ताकना वृथा, जो देते तिरस्कार-अपमान ।
जग में हँसी, स्वर्ग भी खोते, नित्य आत्मा का अवसान[1] ॥ ६ ॥

सम्मान न देकर, सदैव अपमान करनेवालों का [किसी भी झूठी आशा में] अनुचर बनकर रहने की स्थिति किसी व्यक्ति को न तो कीर्ति प्रदान करती है, न ही स्वर्गलोक की प्राप्ति कराती है [अर्थात् न तो उसका इहलोक बनता है, न परलोक क्योंकि उसकी आत्मा नित्य अपमान सहते-सहते मृत हो जाती है।] ॥ ६ ॥

ऑट्टार्पिन् शॅन्ऱोरुवन् वाऴ्दलिन् अन्निलैये
कॅट्टान् ॲन्प्पडुदल् नन्ऱु ॥ ७ ॥

उन पर जीवन निर्भर करना, जिनसे मिलता नित अपमान ।
'मर जाना अनाथ' सुन्दर! जग बोले—"मरा सहित सम्मान" ॥ ७ ॥

सम्मान न देनेवालों का अनुचर बनकर जीवन-यापन करने की स्थिति में रहने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि [वह दीन ही अवस्था में मर जाय; और तब [लोग कहें] कि वह निराश्रित मर गया ॥ ७ ॥

मरुन्दोमट्ऱु ऊन्नोम्बुम् वाऴ्क्कै पॅरुन्दहैमै
पीडऴिय वन्द विडत्तु ॥ ८ ॥

तन का पोषण मात्र, भला, क्या कर सकता अमरत्व प्रदान ?।
केवल जीवन घसिट रहा, जग में मिट गया आत्म-सम्मान ! ॥ ८ ॥

किसी व्यक्ति की कुलीनता अपने श्रेष्ठ गुणों से रहित हो जाये तो [वह गौरवहीन] केवल शरीर के ढाँचे को पोषण करनेवाला जीवन क्या उसको अमरत्व प्रदान करेगा ? [केवल शरीर बचा रह जाये और सम्मान नष्ट हो जाये, जो कुलीनता की आत्मा है, तो उस व्यक्ति को अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता। मरने के बाद उसका कौन नाम लेगा ?] ॥ ८ ॥

---

१ पतन, गिराव ।

मयिर्नीप्पिन् वाळाक् कवरिमा अन्नार्
उयिर्नीप्पर् मानम् वरिन् ।। ९ ।।

सुरा गाय जिस भाँति रोम गिरते ही तज देती है प्रान ।
गया मान तो प्रान न रखते यह है स्वाभिमान की शान ।। ९ ।।

अपनी देह के रोम विलग हो जाने पर जिस प्रकार चमरी-मृग अपने प्राण तज देता है, उसी प्रकार स्वाभिमानी पुरुष सम्मान की हानि होने पर प्राण त्याग देते हैं ।। ९ ।।

इळिवरिन् वाळाद मानम् उडैयार्
ऑळिदॊळुदु ऍत्तुम् उलहु ।। १० ।।

गया आत्म-सम्मान, मोह तन का तज, दे देते हैं प्रान ।
गुन गाता, पूजता जगत्, उनकी करता है कीर्ति बखान ।। १० ।।

जो नर, अपने सम्मान की हानि होने पर प्राण तज देते हैं, संसार उनके यश को पूजकर, उनका गुणगान करता है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) ९८
पॆरुमै (महत्ता, बड़प्पन)

ऑळिऑरुवर् कुळ्ळ वॆरुक्कै इळिऑरुवर्कु
अःदिरन्दु वाळ्दुम् ऍनल् ।। १ ।।

जीवन है संघर्ष[1], सचेतन[2] साहस ही है दिव्य प्रकाश ।
'लाचारी जीवन-निबाह में तोष[3]', यही जीवन का नाश ।। १ ।।

मानव की ख्याति का कारण, उसमें निहित (दु:साध्य कर्मों को करने के प्रति) उत्साह-भाव होता है; मानव के पतन का कारण, ' इस उत्साह के बिना ही जी लेंगे ' यह विचार है ।। १ ।।

पिऱप्पॊक्कुम् ऍल्ला उयिर्क्कुम् शिऱप्पॊव्वा
शॆय्दॊळिल् वेट्रुमै यान् ।। २ ।।

जन्मकाल में सब समान हैं, ऊँच-नीच का कहीं न भाव ।
'पतित-महान्', बनाते उनके अपने ही गुण, कर्म, स्वभाव ।। २ ।।

सभी जीवधारी (मनुष्य) जन्म से एक समान होते हैं, परन्तु कर्म-भेद के कारण उनके गुणों में विभिन्नता आ जाती है। (श्रेष्ठ कर्म से मनुष्य श्रेष्ठ और नीच कर्म से मनुष्य नीच कहलाता है।) ।। २ ।।

---

१ पुरुषार्थ २ चेतन-शक्ति रखनेवाला ३ सब्र, संतोष ।

मेलिरुन्दुम् मेलल्लार् मेलल्लर् कीऴिरुन्दुम्
कीऴल्लार् कीऴल् लवर् ।। ३ ।।

गिरि-तल[१] पर विराट्[२], गिरि पर[३] लघु[४] —ऊँच-नीच की झूठी नाप ।
पतित-महान् कर्म से मानव नीच-ऊँच बनता है आप ।। ३ ।।

उच्च स्थिति में रहने पर भी, उच्चगुणों से हीन व्यक्ति उच्च नहीं होता; निचली स्थिति में रहने पर भी नीच गुणों से हीन व्यक्ति नीच नहीं होता ।। ३ ।।

ऒरुमै महळिरे पोलप् पॆरुमैयुम्
तन्नैत्तान् कॊण्डॊऴुहिन् उण्डु ।। ४ ।।

नारी सती वही, जिसका मन-मन्दिर एक पती का वास[५] ।
पुरुष महान् वही जिसमें दृढ़ अतुलित भरा आत्म-विश्वास ।। ४ ।।

जिस प्रकार सती नारी एकनिष्ठ रहती है, उसी प्रकार महिमा-भाव भी आत्मसंयम रखनेवाले व्यक्ति को ही प्राप्त होता है ।। ४ ।।

पॆरुमै उडैयवर् आट्रुवार् आट्रिन्
अरुमै युडैय शॆयल् ।। ५ ।।

महिमामण्डित वही व्यक्ति जो अवसर पड़ने पर 'दुःसाध्य-।
कर्म', युक्ति औ' पुरुषारथ से कर लेते हैं सिद्ध असाध्य ।। ५ ।।

जो जन महान् होते हैं, वे अवसर पड़ने पर दुस्साध्य कर्म को, भी युक्तिपूर्वक साध लेने में सिद्ध-हस्त और पुरुषार्थी होते हैं ।। ५ ।।

शिऱियार् उणर्च्चियुळ् इल्लै पॆरियारैप्
पेणिक्कॊळ् वेमॆन्नुम् नोक्कु ।। ६ ।।

महत्-जनों के अनुवर्ती बन, गुण लेकर बनना गुणवान् ।
तुच्छ मनुज यह सोच न पाते, गुण-महिमा से निपट अजान ! ।। ६ ।।

' श्रेष्ठ नर के गुणों का सत्कार कर, उन गुणों को प्राप्त करें, ' ऐसा उच्च विचार, उनके गुणों को अनुभव न कर सकनेवाले नीच व्यक्तियों के मन में नहीं आता ।। ६ ।।

इऱप्पे पुरिन्द तॊऴिट्राम् शिऱप्पुन्दान्
शीरल् लवर्कण् पडिन् ।। ७ ।।

पतित कुपात्र जनों के पल्ले पड़ जाती कीरति, सम्पत्ति ।
अधिक निरंकुश-उद्धत[६] होकर, जगती उनमें दुष्ट प्रवृत्ति[७] ।। ७ ।।

---

१ पहाड़ के नीचे २ बड़े शरीरवाला ३ पहाड़ के ऊपर चढ़कर ४ छोटे शरीरवाला ५ निवास ६ उद्दण्ड ७ बहाव, झुकाव ।

सम्पन्नता, जब अयोग्य (ओछे) व्यक्तियों के हाथ लगती है तो वह (उन्हें) मर्यादा-विहीन कर्मों में प्रवृत्त करती है ॥ ७ ॥

पणियुमाम् ऍन्ऱुम् पॆरुमै शिऱुमै
अणियुमाम् तन्ऩै वियन्दु ॥ ८ ॥

सदा विनम्र, और मृदुभाषी, नत[1] रहते हैं व्यक्ति महान् ।
ओछे जन तन कर अपने मुख संस्तुति[2] करते स्वयं बखान ॥ ८ ॥

महानता का स्वभाव है कि वह नम्र होती है, जबकि ओछेपन का स्वभाव है कि वह अपनी ही श्रेष्ठता से चमत्कृत होकर स्वयं अपनी ही प्रशंसा करता है ॥ ८ ॥

पॆरुमै पॆरुमिदम् इन्मै; शिऱुमै
पॆरुमिदम् ऊर्न्दु विडल् ॥ ९ ॥

श्रेष्ठ जनों का सहज सुलक्षण —रहते सदा अहं-मद-हीन[3] ।
क्षुद्र जनों में सहज भाव —मद और अहं में परम विलीन ॥ ९ ॥

महानता का स्वभाव है अहंकार-हीनता, जबकि क्षुद्रता का स्वभाव है अहंकार की अंतिम सीमा तक पहुँच जाना ॥ ९ ॥

अट्ऱम् मऱैक्कुम् पॆरुमै शिऱुमैदान्
कुट्ऱमे कूऱि विडुम् ॥ १० ॥

पर-छिद्रों[4] पर परदा डालें —यही बड़प्पन की पहचान ।
छुद्र वही जो ज़ोर-शोर से पर-दोषों का करें बखान ॥ १० ॥

महानों का स्वभाव है— वह दूसरों के दोषों को छिपाता है; जबकि क्षुद्रजनों का स्वभाव है— दूसरों के दोषों को खुलकर घोषित करते रहना ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ९९
शान्ऱाण्मै (परमोत्कृष्टता)

कडन्ऍन्ब नल्लवै ऍल्लाम् कडन्ऱिन्दु
शान्ऱाण्मै मेऱ्कॊळ् पवर्क्कु ॥ १ ॥

---

१ विनयशील २ बड़ाई, प्रशंसा ३ अहंकार के नशे से दूर ४ पराये दोषों (ऐबों)।

सकल गुणों से युक्त और कर्तव्यपरायण व्यक्ति महान् ।
सभी भले कामों को अपना सहज-कर्म[1] लेते हैं मान ।। १ ।।

सभी अच्छे गुणों को कर्तव्य मानकर उनपर चलनेवाले, सभी अच्छे कार्यों को अपना सहज कर्तव्य मानते हैं ।। १ ।।

कुणनलम् शान्ऱोर् नलन्ते पिऱनलम्
ऍन्नलत् तुळ्ळदूउ मन्ऱु ।। २ ।।

सदाचार सर्वोपरि गुण, प्रतिभावानों का सहज[2] स्वभाव ।
सुलभ सकल गुण स्वतः उन्हें फिर किसी बात का नहीं अभाव ।। २ ।।

महापुरुष का सर्वप्रधान गुण स्वाभाविक सदाचार की प्रतिभा है। अन्य सभी गुणों की गणना उससे बाहर नहीं है ।। २ ।।

अन्बुनाण् ऒप्पुरवु कण्णोट्टम् वाय्मैयोडु
इन्दुशाल् पून्ऱिय तूण् ।। ३ ।।

सत्य, प्रेम, करुणा, विनम्रता और पाँचवा पर-उपकार ।
गुणागार के लिए यही अस्तम्भ[3] सर्वदा हैं आधार ।। ३ ।।

प्रेम, दया, परोपकार-वृत्ति, विनयशीलता (अपने से बड़ों के सामने गर्व-रहित विनम्र व्यवहार) और सत्यवादिता, ये पाँच स्तंभ हैं, जिनपर श्रेष्ठ गुणों का भवन खड़ा रहता है ।। ३ ।।

कॊल्ला नलत्तदु नोन्मै पिऱर्तीमै
शॊल्ला नलत्तदु शाल्बु ।। ४ ।।

हिंसा का निर्मूल, अहिंसा सकल तपों में है उत्कृष्ट ।
गुणवानों को परनिन्दा का दोष सर्वथा त्याज्य, निकृष्ट ।। ४ ।।

तपस्या का मूल सार है— हिंसा का अनस्तित्व (हिंसाभाव का बिलकुल अभाव) [उसी प्रकार] गुणों की पराकाष्ठा है पर-निन्दा से परे रहना ।। ४ ।।

आट्रुवार् आट्ऱल् पणिदल् अदुशान्ऱोर्
माट्रारै माट्रुम् पडै ।। ५ ।।

बलवानों की परमशक्ति है —विनयशीलता, नम्र स्वभाव ।
अनुपम शक्ति, सहारे इसके रिपु तजते रिपुता[4] का भाव ।। ५ ।।

बलवानों का बल उनकी विनम्रता है, उसी अस्त्र से गुणवान् अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेते हैं ।। ५ ।।

---

१ अभ्यस्त नित्य का कर्म २ स्वाभाविक ३ स्तम्भ ४ शत्रुता ।

शाल्बिऱ्कुक् कट्टळै यादॆन्निल् तोल्वि
तुलैयल्लार् कण्णुम् कॊळल् ।। ६ ।।

पूर्ण सिद्धि की यही कसौटी[1], सबके प्रति समान आचार ।
हीनों[2] से स्वीकार पराजय भी उदारता से स्वीकार ।। ६ ।।

गुण की परिपूर्णता की कसौटी किसे समझा जाये [यह प्रश्न उठे] तो उत्तर है कि [जिस प्रकार अपने से ऊँची स्थितिवाले से विवश पराजय स्वीकार की जाती है उसी प्रकार] अपने से नीची स्थितिवाले से सहर्ष पराजय स्वीकार की जाय ।। ६ ।।

इन्नाशॆय् वार्क्कुम् इनियवे शॆय्याक्काल्
ऎन्न बयत्तदो शाल्बु ? ।। ७ ।।

अपकारी[3] पर भी उदार ! उसके प्रति किया न यदि उपकार ।
गुणपरिपूर्ण व्यक्ति को शोभन किस प्रकार ऐसा आचार ।। ७ ।।

अपकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति उपकार नहीं किया तो सर्वगुण-संपन्नता का क्या उपयोग है ? ।। ७ ।।

इन्मै ऒरुवर्क्कु इळिवन्ऱु शाल्बॆन्नुम्
तिण्मैयुण् डाहप् पॆऱिन् ।। ८ ।।

सकल गुणों का धनी हुआ तो, ऐसा व्यक्ति परम उत्कृष्ट ।
एकमात्र धन के अभाव में, लोकदृष्टि[4] में नहीं निकृष्ट ।। ८ ।।

सर्वगुण संपन्नता नामक शक्ति यदि व्यक्ति में आ जाये तो धनहीनता (नामक दुर्बलता) उसके लिए लज्जा का कारण नहीं बनती ।। ८ ।।

ऊऴि पॆयरिनुम् ताम्पॆयरार् शान्ऱाण्मैक्कु
आऴि ऎनप्पडु वार् ।। ९ ।।

युग टल जायें, सिन्धु कर सकते मर्यादा की सीमा-पार ।
सकल गुणों के पूर्णसिन्धु-जन धर्म न तजते किसी प्रकार ।। ९ ।।

युगान्त-काल में चाहे सागर भी अपनी मर्यादा तोड़ दे, पर जो व्यक्ति गुण-सागर के कूल कहलाते हैं, वे कभी अपनी मर्यादा नहीं तोड़ते ।। ९ ।।

शान्ऱवर् शान्ऱाण्मै कुन्ऱिन् इरुनिलन्दान्
ताङ्गादु मन्नो पॊऱै ।। १० ।।

सर्वज्ञान-परिपूर्ण जनों में किसी भाँति आ गया विकार ।
फिर न सम्हाल सकेगी यह धरती विशाल भी अपना भार ।। १० ।।

---

१ परख २ अपने से नीचे स्तर के लोगों ३ बुराई करनेवाला ४ लोगों की नजर में ।

सर्वगुण संपन्न व्यक्ति में निहित उसके सहज गुण यदि घटने लग जायें तो यह विस्तृत संसार भी अपने भार को वहन नहीं कर सकेगा ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १००

पण्बुडैमै (शिष्टाचार)

ऎण्बदत्ताल् ऎय्दल् ऎळिदॆन्ब यार्माट्टुम्
पण्बुडैमै ऎन्नुम् वऴक्कु ।। १ ।।

सरल प्रवेश जहाँ सबका है, सबसे है विनम्र व्यवहार ।
वही व्यक्ति है शिष्ट, उसी में सहज उपजता शिष्टाचार[1] ।। १ ।।

सभी लोगों का विनम्रता के साथ स्वागत किया जाये तो शिष्टतापूर्ण जीवन के सुंदर मार्ग को पाना सहज है ।। १ ।।

अन्बुडैमै आन्ऱ कुडिप्पिऱत्तल् इव्विरण्डुम्
पण्बुडैमै ऎन्नुम् वऴक्कु ।। २ ।।

श्रेष्ठ कुलों के सुलक्षणों से युक्त, प्रेम का सब पर भाव ।
दो सुपन्थ हैं, जिन पर चलकर, सदा सुलभ है शिष्ट स्वभाव ।। २ ।।

प्रेमपूर्ण व्यवहार और श्रेष्ठ कुल के शोभनीय गुण—शिष्टाचार, शिष्ट व्यवहार में कुशल होने के ये दो मार्ग हैं ।। २ ।।

उऱुप्पॊत्तल् मक्कळॊप् पन्ऱाल् वॆऱुत्तक्क
पण्बॊत्तल् ऒप्पदाम् ऒप्पु ।। ३ ।।

अंग और रूपों का मिलना मात्र नहीं सच्चा सादृश्य[2] ।
हृदय, विचार, गुणों का मिलना—है समानता सही अवश्य ।। ३ ।।

अंग का मिलना अथवा रूपों की समानता से समता प्राप्त नहीं होती । गुणों और विचारों में एकता होना ही वास्तविक समानता है ।।। ३ ।।

नयनॊडु नन्ऱि पुरिन्द पयनुडैयार्
पण्बुपा राट्टुम् उलहु ।। ४ ।।

---

१ सभ्यतापूर्णवर्ताव २ समानता ।

न्याय किन्तु सहृदयता[1] से करता सबके प्रति है उपकार।
वही व्यक्ति है शिष्ट, प्रशंसा उसकी करता है संसार ॥ ४ ॥

न्याय और करुणा के साथ परोपकार के लिए जीवित रहनेवाले महानुभावों को शिष्ट कहकर संसार उनकी सराहना करता है ॥ ४ ॥

नहैयुळ्ळुम् इन्नादु इहळ्च्चि पहैयुळ्ळुम्
पण्बुळ पाडरिवार् माट्टु ॥ ५ ॥

मित्रों को भी दुखद[2] सहज में भी यदि कभी किया अपमान।
शिष्टों का व्यवहार, शत्रुओं का भी वे करते सन्मान ॥ ५ ॥

हँसी-खेल में भी मित्रों तक का जी दुखाना दुखदायी होता है; दूसरों के स्वभाव को जानकर व्यवहार करनेवाले, शत्रुता में भी शिष्टता बरतते हैं ॥ ५ ॥

पण्बुडैयार्प् पट्टुण् डुलहम् अदुविन्रेल्
मण्बुक्कु माय्वदु मन् ॥ ६ ॥

शिष्टों की सभ्यता-सद्गुणों पर ही धरती का आधार[3]।
इनसे अगर विहीन, धरा[4] का है प्रत्यक्ष धरा[5] संहार ॥ ६ ॥

शिष्ट व्यक्तियों के कारण ही इस संसार का अस्तित्व है, अन्यथा वह निश्चित ही मिट्टी में समाकर विनष्ट हो जाता ॥ ६ ॥

अरम्पोलुम् कूर्मैय रेनुम् मरम्पोल्वर्
मक्कट्पण् बिल्ला दवर् ॥ ७ ॥

यदि रेती के सदृश[6] बुद्धि पैनी[7] है, किन्तु शिष्टता-हीन।
शुष्क रूख[8] के ठूँठ[9] सदृश, यदि मानव हुआ सभ्यता-हीन ॥ ७ ॥

मानव के योग्य शिष्ट गुणों से रहित व्यक्ति, भावनाशून्य वृक्ष (या लकड़ी के कुन्दे) के समान है, चाहे फिर उसकी बुद्धि रेती (कील इत्यादि को तीक्ष्ण करनेवाला औज़ार) की तरह ही तीक्ष्ण क्यों न हो ! ॥ ७ ॥

नण्बाट्रार् आहि नयमिल शेय्वार्क्कुम्
पण्बाट्रार् आदल् कडै ॥ ८ ॥

रिपु का दुर्व्यवहार याद कर, बदले में न किया सद्भाव।
है अशिष्टता, झलकाती है वह मनुष्य का तुच्छ स्वभाव ॥ ८ ॥

---

१ करुणा से, आत्मभाव से २ दुखदायी ३ टिकाव ४ पृथ्वी ५ रखा हुआ है ६ समान ७ तेज, धारदार ८ सूखा पेड़ ९ कुंदा।

जो लोग, शत्रुता (दुष्ट-व्यवहार) करनेवालों से (उनके दुर्व्यवहार के कारण) शिष्टता के साथ व्यवहार नहीं करते [वरन् बदले में अशिष्ट आचार करते हैं] तो यह उनकी क्षुद्रता ही कही जायगी ।। ८ ।।

नहल्वल्लर् अल्लार्क्कु मायिरु ञालम्
पहलुम्पार् पट्टन्रु इरुळ् ।। ९ ।।

हेल-मेल में जिन्हें न रुचि है, सब से नहीं बात-बर्ताव ।
[जीवन मृत है,] दिवस रैन है, ज्योति–हीन तामस[1] का भाव ।। ९ ।।

जो व्यक्ति दूसरों से हिलने-मिलने में प्रसन्न होने का मानवी गुण नहीं रखते उनके लिए यह विश्व दिन में भी रात्रि के समान अंधकार युक्त है। [उनके लिए इतना बड़ा मानव जगत् न होने के बराबर है।] ।। ९ ।।

पण्बिलान् पॆट्र पॆरुञ्शॆल्वम् नन्बाल्
कलन्तीमै याल्तिरिन् दट्रु ।। १० ।।

अलग, अशिष्ट, न जग से मतलब, उसकी संपति का क्या अर्थ[2] ?
दूषित घट में दुग्ध शुद्ध पड़ कर जैसे हो जाता व्यर्थ[3] ।। १० ।।

शिष्टाचार-विहीन व्यक्ति को संपत्ति का प्राप्त होना (अर्थात् उसका परिणाम किसी के हित में न लग कर) वैसा ही व्यर्थ है, जैसे कलश के दोष के संसर्ग से शुद्ध दूध दूषित हो जाता है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १०१

नन्ऱियिल् शॆल्वम् (निष्फल-धन)

[इस अध्याय में, स्वजनों तथा अन्य जनों, दोनों के हित में जिस धन का उपयोग नहीं होता, उस धन की निष्फलता का वर्णन किया गया है।]

वैत्तान्वाय् शान्र पॆरुम्पॊरुळ् अःदुण्णान्,
शॆत्तान् शॆयक्किडन्द दिल् ।। १ ।।

सद् उपयोग न कर पाया, जोड़ता रहा धन का अंबार[4] ।
मृतक तुल्य वह भोग न पाया, धन-सम्पत्ति सकल बेकार ।। १ ।।

यदि कोई व्यक्ति प्रचुर धनराशि का संग्रह करे, फिर उसके उपभोग का आनन्द न उठाये तो उसने उस धन का कोई उपयोग नहीं किया। उसका [धन रूपी] जीवन [उपभोग-हीन अर्थात्] मृतक के समान है ।। १ ।।

---

१ अंधकार २ लाभ ३ किसी काम का नहीं ४ ढेर।

पॊरुळाऩाम् ऎल्लामॆऩ्ऱु ईयादु इवऱुम्
मरुळाऩाम् माणाप् पिऱप्पु ।। २ ।।

धन की महिमा-शक्ति जानकर भी न किया यदि सद्-उपयोग ।
धन के प्रेत ! मरण सम जीवन ! मरने पर अधमाधम[1] योग ।। २ ।।

"धन से सब कुछ संभव है" यों मानते हुए भी दूसरों को कुछ न देकर [उसका समुचित उपयोग न करके] धन को ही कसकर पकड़े रहनेवाला (दूसरे जन्म में) प्रेत-जन्म प्राप्त करता है ।। २ ।।

ईट्टम् इवऱि इशैवेण्डा आडवर्
तोट्ऱम् निलक्कुप् पॊऱै ।। ३ ।।

जोड़-जोड़ कर धन रखना, खर्चना न यश की है दरकार [2] ।
उनका जीवन-जन्म व्यर्थ, वे लोभी बस धरती का भार ।। ३ ।।

जो केवल धन-संग्रह मात्र की लालसा रखते हैं और यश-संग्रह का विचार नहीं करते, ऐसे लोभी व्यक्तियों का जन्म और जीवन पृथ्वी के लिए भार-रूप ही है ।। ३ ।।

ऎच्चमॆऩ्ऱु ऎऩ्ऩॆण्णुङ् कॊल्लो ऒरुवराल्
नच्चप् पडाअ दवऩ् ।। ४ ।।

काम न आया कभी किसी के, उसकी कौन करेगा याद ।
यादगार क्या छोड़ी जग में, बिसर गया मरने के बाद ।। ४ ।।

जीवन में किसी का भी उपकार न करने के कारण किसी का भी प्रेम न प्राप्त कर सकनेवाला व्यक्ति अपनी मृत्यु के पश्चात् भला और किस वस्तु को (मृत्यु के बाद की वसीयत स्वरूप) छोड़ जायगा ।। ४ ।।

कॊडुप्पदूउम् तुय्प्पदूउम् इल्लार्क्कु अडुक्किय
कोडियुण् डायिऩुम् इल् ।। ५ ।।

बिलस न पाये[3] स्वयं, न धन से किया दूसरे का उपकार ।
कोटि-कोटि धन का संग्रह बेकार, न उससे कोई सार[4] ।। ५ ।।

जो न तो दूसरों को दान देते हैं और न धन का स्वयं ही उपभोग करते हैं, ऐसे लोगों के पास करोड़ों की सम्पत्ति आ जाये तो भी वह प्रयोजन-हीन है । [उसका होना-न होना बराबर है ।] ।। ५ ।।

एदम् पॆरुञ्शॆल्वम् ताऩ्तुव्वाऩ् तक्कार्क्कॊऩ्ऱु
ईदल् इयल्पिला दाऩ् ।। ६ ।।

---

१ नीच से नीच जन्म २ चाह, लालसा ३ भोग न कर पाये ४ तत्व, प्रयोजन।

जो सुपात्र को दान न देते, स्वयं नहीं करते उपभोग।
उन कुपात्र की विपुल सम्पदा, बेशक उन्हें दुःख-दुर्योग ॥ ६ ॥

जो स्वयं भी उपभोग नहीं करता और योग्य व्यक्ति को भी कुछ नहीं देता, ऐसे लक्षणों वाला व्यक्ति, उस विपुल-संपत्ति के लिए रोग-सम होता है ॥ ६ ॥

अट्ऱार्क्कॊन्ऱु आट्ऱादान् शॆल्वम् मिहनलम्
पॆट्ऱाळ् तमियळ्मूत् तट्ऱु ॥ ७ ॥

दीन-हीन के काम न आकर, सञ्चित किया स्वर्ण-भण्डार।
रूपमती अविवाहित बाला के वृद्धापन[1] सा बेकार ॥ ७ ॥

अभाव-ग्रस्त को उसके लिए आवश्यक वस्तु न देनेवाले धनवान का धन, उस स्त्री के समान है जो अत्यन्त सौन्दर्य की स्वामिनी होने पर भी कुंवारी रहकर बूढ़ी हो गयी हो ॥ ७ ॥

नच्चप् पडादवन् शॆल्वम् नडुवूरुळ्
नच्चु मरम्पळुत् तट्ऱु ॥ ८ ॥

विष-तरु[2] फल से लदा ग्राम के मध्य, किन्तु फिर भी बेकार।
किसको उपजे प्यार देखकर वृथा सूम का धन-भण्डार ॥ ८ ॥

किसी का भी उपकार न किया हुआ होने के कारण, किसी का भी प्रेम न प्राप्त व्यक्ति, गाँव के बीच उगे फलयुक्त विष-वृक्ष के समान है ॥ ८ ॥

अन्पॊरीइत् तऱ्ऱॆट्ऱु अऱनोक्कादु ईट्टिय
ऒण्पॊरुळ् कॊळ्वार् पिऱर् ॥ ९ ॥

धर्म-दान, निजतन, सनेहियों से विराग[3], बस धन से राग[4]।
ऐसे सूमों के सञ्चित[5] पर ग़ैर सदैव मनाते फाग[6] ॥ ९ ॥

दूसरों के प्रति प्रेम-भाव न रखकर, स्वयं को भी पीड़ा देकर, धर्म का भी पालन न कर जो विपुल संपदा संचित की जाती है, उसे पानेवाला और उपभोग करनेवाला कोई दूसरा ही होता है। [अर्थात इस प्रकार के धन का भोग न तो संग्रहकर्ता स्वयं करता है, न उसके स्वजन कर पाते हैं, बल्कि कोई अन्य ही उसे पाते हैं और उसका भोग करते हैं।] ॥ ९ ॥

शीरुडैच्च् चॆल्वर् शिऱुदुऩि मारि,
वऱङ्कूर्न् तन्नैयदु अडैत्तु ॥ १० ॥

---

१ बुढ़ापा २ विषवृक्ष ३ बेपरवाह ४ प्रेम ५ इकट्ठा किये हुए धन ६ होली खेलते हैं मौज उड़ाते हैं।

दानी का धन घटा, जलद[1] का जल जैसे करके जलदान।
क्षण में फिर परिपूर्ण जलद सम[2] दानी फिर होता धनवान ।। १० ।।

जो (दान इत्यादि के लिए) प्रसिद्ध धनवान हैं उनकी क्षणिक दरिद्रता वैसी ही है, जैसे विश्व की जीवनरक्षा करनेवाले जलद का जल-रहित हो जाना ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १०२
नाणुडैमै (लज्जाशीलता)

[इस अध्याय में, उपरोक्त गुणों से युक्त, श्रेष्ठ व्यक्ति का अनुपयुक्त कर्म करने में लज्जा का अनुभव करने का वर्णन है।]

करुमत्ताल् नाणुदल् नाणुत् तिरुनुदल्
नल्लवर् नाणुप् पिऱ ।। १ ।।

अकरणीय[3] कर गुज़रे, तो नत हुए[4]—यही लज्जा का भाव।
रूपवती की लाज-सकुच तो शीलवती का सहज स्वभाव ।। १ ।।

अयोग्य कर्म करने से उत्पन्न लज्जा ही लज्जाशीलता है, सुंदर कुलांगनाओं की सहज लज्जा तो कुछ और ही प्रकार की है ।। १ ।।

ऊणुडै अॅच्चम् उयिर्क्कॅल्लाम् वेऱल्ल
नाणुडैमै मान्दर् शिऱप्पु ।। २ ।।

अन्न, वस्त्र, परिवेश[5] सकल मानव का सब में एक समान।
श्रेष्ठ जनों में गुण विशेष है, यदि उनमें लज्जा का भान[6] ।। २ ।।

अन्न, वस्त्र तथा शेष सब भी, सभी प्राणियों के लिए समान होते हैं; सज्जन की विशिष्टता उसकी लज्जाशीलता ही है ।। २ ।।

ऊऩैक् कुऱित्त उयिरॅल्लाम् नाणॅऩ्ऩुम्
नन्मै कुऱित्तदु शाल्बु ।। ३ ।।

सकल प्राणियों के जीवन के आश्रय का शरीर आधार।
यदि लज्जा है, तभी सकलगुण-सम्पन्नता हुई साकार ।। ३ ।।

सभी प्राणियों का आश्रय-स्थान देह है (अर्थात् देह को छोड़ दिया जाये तो प्राणी का अस्तित्व नहीं रह जाता) उसी प्रकार गुण-संपूर्णता लज्जा नामक सद्गुण को अपना आश्रय-स्थान बनाती है ।। ३ ।।

---

१ जल देनेवाले २ जल से भरे मेघों के समान ३ न करने योग्य काम
४ शर्म में गड़ गये ५ सम्बन्धित सब बातें ६ अनुभूति, इहसास।

अणियन्ऱो नाणुडैमै शान्ऱोर्क्कु अःदिन्ऱेल्
पिणियन्ऱो पीडु नडै ॥ ४ ॥

सकल गुणों में जटित हुआ मणि, श्रेष्ठ व्यक्ति यदि लज्जावान् ।
निर्लज्जों की ऐंठ-गर्व से भरी चाल बस[1] रोग महान् ॥ ४ ॥

(क्या) लज्जाशीलता ही महानुभावों का भूषण नहीं है ? और उस भूषण से विहीन होकर गर्व भरी चाल से चलना (क्या) एक रोग नहीं है ? ॥ ४ ॥

पिऱर्पऴियुम् तम्पऴियुम् नाणुवार् नाणुक्कु
उऱैपदि अन्नुम् उलहु ॥ ५ ॥

लज्जित होते निज-त्रुटि पर, या देख अन्य के अनुचित काम ।
शीलवन्त ऐसे मानव ही जग में हैं लज्जा के धाम ॥ ५ ॥

जो स्वयं के तथा दूसरों के दोषों को देखकर लज्जित होते हैं, ऐसे महानुभावों को जगत "लज्जाशीलता का कोष" कहकर पुकारता है ॥ ५ ॥

नाण्वेलि कॊळ्ळादु मन्नो वियन्ञालम्
पेणलर् मेला यवर् ॥ ६ ॥

लज्जा की प्राचीर[2] श्रेष्ठ जन के आचरणों की मर्याद ।
बिना शील के, विशद विश्व का नहीं सुहाता[3] उन्हें प्रमाद ॥ ६ ॥

श्रेष्ठ जन अपनी सुरक्षा के लिए लज्जाशीलता का बाड़ा बनाये बिना, विस्तृत संसार के भोगों को अंगीकार नहीं करते ॥ ६ ॥

नाणाल् उयिरैत् तुऱप्पर् उयिर्प्पॊरुट्टाल्
नाण्तुऱवार् नाणाळ् बवर् ॥ ७ ॥

लाजवन्त लज्जा से बचने में कर देंगे जीवन दान ।
कभी न अंगीकार लाज, यद्यपि उससे बचते हों प्रान ॥ ७ ॥

लज्जाशीलता का पालन करनेवाले व्यक्ति, लज्जा के लिए प्राण त्याग देंगे; (परन्तु) प्राण बचाने के लिए लज्जा का त्याग नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

पिऱर्नाणत् तक्कदु तान्नाणान् आयिन्
अऱम्नाणत् तक्क तुडैत्तु ॥ ८ ॥

कर्म हमारे पर लज्जित हों अन्य[4] न हमको आये शर्म ।
ऐसे बेशर्मों से लज्जित, विदा स्वयं लेलेता धर्म ॥ ८ ॥

---

१ मात्र, केवल २ रक्षा करनेवाली चहारदीवारी ३ आकर्षित करता है
४ दूसरे लोग ।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा कर्म करता हो, जिस पर दूसरों को लज्जा आती हो, पर स्वयं उसे न आती हो, तो स्वयं धर्म लज्जित होकर उसे छोड़कर चला जाता है ।। ८ ।।

कुलञ्चुडुम् कॊळ्है पिळ्ैप्पिऩ् नलञ्चुडुम्
नाणिऩ्मै निऩ्ऱक् कडै ।। ९ ।।

नियम और सिद्धांत गिरे, तो कुलीनता का हुआ विनाश ।
सकल गुणों का नाश सुनिश्चित, यदि लज्जा का मिटा प्रकाश ।। ९ ।।

यदि कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्त से च्युत हो जाये तो वह दोष उसकी कुलीनता को नष्ट कर देगा; निर्लज्जता की स्थिति स्थिर हो जाती है तो (वह) सारे अच्छे गुणों को नष्ट कर देगी ।। ९ ।।

नाणहत् तिल्लार् इयक्कम् मरप्पावै
नाणाल् उयिर्मरुट्टि यट्ऱु ।। १० ।।

हया[1] न जिनके पास, घूमते-फिरते, और दिखाते शान ।
कठपुतली का नाच डोर के बल[2] देता जीवन का भान[3] ।। १० ।।

लज्जाहीन व्यक्ति का संसार में घूमना-फिरना वैसा ही है जैसे कठपुतली को सूत्र के सहारे नचाकर, उसमें प्राण होने का आभास दिलाना ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १०३

कुडिशॆयल् वहै (वंश-उत्कर्ष)

[कोई व्यक्ति किस प्रकार अपने वंश का उत्कर्ष कर सकता है, इसका इसमें वर्णन है । यदि वंश का पतन होगा तो वह लज्जा का कारण होगा, इसलिए इसे लज्जाशीलता के पश्चात् रखा गया है । वंश से प्रयोजय अपना परिवार ही मात्र नहीं है । जाति, समाज अथवा राष्ट्र भी अभीष्ट हैं ।]

करुमम् शॆयऒरुवऩ् कैदूवेऩ् ऎऩ्ऩुम्,
पॆरुमैयिऱ् पीडुडैय दिल् ।। १ ।।

दृढ़ अपने कर्तव्य-सुपथ पर, जब तक हो न जायँ कृतकार्य ।
इससे अधिक और जीवन में भला कौन गौरव का कार्य ।। १ ।।

"कुल-गौरव के उपयुक्त कर्तव्य से पीछे नहीं हटूँगा" यह विचार कर प्रयत्न करने से बढ़कर गौरव की बात और कुछ नहीं है ।। १ ।।

---

१ लज्जा २ सहारे ३ मानो जीवित हों ।

आळ्विऩैयुम् आऩ्ऱ अऱिवुम् ऍऩ्ऩविरण्डिऩ्
नीळ्विऩैयाल् नीळुम् कुडि ॥ २ ॥

गहन बुद्धि से सदा परिश्रमशील—जहाँ ये दो संयोग।
उसी जाति, समुदाय, वंश में निश्चित है उन्नति का योग ॥ २ ॥

सतत प्रयत्न और गहरी बुद्धि इन दोनों से युक्त सतत क्रियाशीलता से व्यक्ति का कुल उत्कर्ष पाता है ॥ २ ॥

कुडिसॆय्वल् ऍऩ्ऩुम् ऒरुवऱ्कुत् तॆय्वम्
मडितऱ्ऱुत् ताऩ्मुन् तुऱुम् ॥ ३ ॥

दृढ़ संकल्प समुन्नत करना निज कुल का गौरव सम्मान।
कर्मव्रती[1] उस पुरुषसिंह का पथ प्रशस्त करता[2] भगवान् ॥ ३ ॥

"अपने वंश का उत्कर्ष करूँगा" यों प्रयत्न करनेवाले को दैव स्वयं आगे आकर, कमर कसकर सहायता करता है ॥ ३ ॥

चूऴामल् ताऩे मुडिवॆय्दुम् तङ्कुडियैत्
ताऴा दुञऱ्ऱु पवर्क्कु ॥ ४ ॥

लगातार उद्यम में लग कर जिनका ध्येय प्राप्ति-उत्कर्ष।
उनके सम्मुख स्वयं उपस्थित सहज[3] सफलता सदा सहर्ष ॥ ४ ॥

कुल के उत्कर्ष के लिए अविलंब प्रयत्न करनेवाले का (वह) कार्य अनजाने [अर्थात् कभी-कभी अनायास] ही सफल हो जाता है ॥ ४ ॥

कुऱ्ऱम् इलऩाय्क् कुडिसॆय्दु वाऴ्वाऩैच्
चुऱ्ऱमाच् चुऱ्ऱुम् उलहु ॥ ५ ॥

यश-गौरव के लिए सदा करता रहता आचार पवित्र।
जगत् सिमट कर घेर उस पुरुष को दरसाता अपना मित्र ॥ ५ ॥

जो, वंश की उन्नति के लिए, दोष-रहित आचार करता है बड़ी चाह के साथ संसार उसके चारों ओर घिर आयेगा ॥ ५ ॥

नल्लाण्मै ऍऩ्बदु ऒरुवऱ्कुत् ताऩ्पिऱन्द
इल्लाण्मै आक्किक् कॊळल् ॥ ६ ॥

कुल के गौरव में निज गौरव, कुल के हेतु सदा पुरुषार्थ[4]।
कुल-कीरति को करे समुन्नत, पौरुष[4] वही सही में स्वार्थ ॥ ६ ॥

---

[1] कर्म पर आरूढ़ [2] खुला मार्ग दिखाता है [3] स्वाभाविक रूपमें, अनायास [4] मानव का पराक्रम।

किसी व्यक्ति के लिए उत्तम पौरुष की बात यह है कि जिस वंश में उसने जन्म लिया है, उसके मान को अपना बना ले। [अर्थात् कुल के मान को अपना मान समझकर उसके उत्कर्ष तथा रक्षा के लिए प्रयत्न करे।] ॥ ६ ॥

अमरहत्तु वन्कण्णर् पोलत् तमरहत्तुम्
आट्रुवार् मेट्रे पॊरै ॥ ७ ॥

विपुल सैनिकों में सेनापति वही, युद्ध में गहे लगाम[1]।
कुलपति वही सुयोग्य, वंश की उन्नति करे, बढ़ाये नाम ॥ ७ ॥

जिस प्रकार रण-क्षेत्र में (जानेवाले तो चाहे कितने ही हों पर) उत्तरदायित्व महावीर पर ही आता है, उसी प्रकार कुल में चाहे कितने ही लोग उत्पन्न क्यों न हुए हों, पर उसके उत्कर्ष का सुयश उस सुयोग्य व्यक्ति पर ही आता है जो कुल के भार को सफलता से निभाये ॥ ७ ॥

कुडिशॆय्वार्क् किल्लै परुवम्; मडिशॆय्दु
मानम् करुदक् कॆडुम ॥ ८ ॥

जिनको यश की चाह, न वे बैठे तकते अवसर की राह।
वृथा गर्व में समय गवाँते, उन्हें कीर्ति की कब परवाह? ॥ ८ ॥

वंश के उत्कर्ष के लिए कार्य करने की इच्छा रखनेवाले के लिए 'उपयुक्त अवसर' जैसी कोई वस्तु नहीं होती। जो व्यक्ति समय की प्रतीक्षा कर, आलस्यवश, गर्व में बैठा रहेगा, वह कुल-गौरव का नाश करेगा ॥ ८ ॥

इडुम्बैक्के कॊळ्कलम् कॊल्लो कुडुम्बत्तैक्
कुट्रम् मरैप्पान् उडम्बु ॥ ९ ॥

यत्नशील जो, क्लेशमुक्त रखने में सदा वंश-समुदाय।
सबके संकट स्वयं झेल आजीवन रहता संकटप्राय[2] ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति, अपने वंश के सकल दुःखों के निवारण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसका शरीर दुख-दर्दों का धाम ही तो रहेगा ॥ ९ ॥

इडुक्कण्काल् कॊन्ट्रिड वीऴुम् अडुत्तून्रुम्
नल्लाळ् इलाद कुडि ॥ १० ॥

संकट में डटने, सम्हालने में समर्थ यदि हुआ न वीर।
कुशल न, संकट में फँस कर ढह जायेगी घर की प्राचीर[3] ॥ १० ॥

---

१ बागडोर सम्हाले, रण में संचालन करे २ सदा संकटों से घिरा ३ सुरक्षा की चहारदीवारी।

[संकट के समय] साथ रहकर, सामना करने योग्य व्यक्ति जिस कुल में नहीं होता, संकटरूपी कुल्हाड़ी उस कुल की जड़ को काटकर उसे गिरा देती है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १०४

उऴवु (कृषि)

चुऴऩ्ऱुम्एर्प् पिऩ्ऩ दुलहम् अदऩाल्
उऴन्दुम् उऴवे तलै ।। १ ।।

हैं धन्धे-उद्योग बहुत, पर खेती है सबका आधार।
कष्टसाध्य, पर जीवनदायी, कृषि है सर्वप्रमुख व्यापार ।। १ ।।

जग, चाहे कितने भी व्यवसायों में घूमता रहे पर उसका वास्तविक आधार कृषि ही रहता है,[बिना उसके जीवन का गुज़र नहीं है ।] इसलिए कष्टप्रद होते हुए भी कृषि ही उत्तम व्यवसाय है ।। १ ।।

उऴुवार् उलहत्तार्क्कु आणिअःदाट्ऱादु
ऍऴुवारै ऍल्लाम् पॊरुत्तु ।। २ ।।

खेती में असमर्थ, न श्रम कर सकते, उनका भी आधार।
कृषक धुरी है जिसके बल पर घूम रहा सारा संसार ।। २ ।।

कृषि का श्रम सहन करने में असमर्थ जनों को भी जीवन देनेवाला कृषक ही है; इसलिए कृषक जगत् की धुरी के समान है। [उसके सहारे संसार जीता है ।] ।। २ ।।

उऴुदुण्डु वाऴ्वारे वाऴ्वार्मट्ऱु ऍल्लाम्
तॊऴुदुण्डु पिऩ्शॆल् बवर् ।। ३ ।।

हलधर[1] ही है धन्य पसीने के बल पर खाता है अन्न।
अन्य सभी उसके अनुचर[2] हैं, अन्न न हो तो निपट विपन्न[3] ।। ३ ।।

जो हल चलाकर, उससे अन्न प्राप्त कर जीवन-यापन करते हैं वे ही वास्तव में जीवित हैं उनके अतिरिक्त बाकी लोग तो उनके सामने नत होकर [उसके सहारे] अन्न प्राप्त करके जीवनयापन करते हैं। [अर्थात् एक कृषक का ही जीवन धन्य है बाकी व्यवसायों में तो व्यक्ति कृषक का लाचार बना ही रहता है।] ।। ३ ।।

---

१ किसान, हल जोतनेवाला २ पीछे चलनेवाले ३ संकटग्रस्त ।

पलकुडै नीळलुम् तङ्कुडैक्कीळ्क् काण्बर्
अलकुडै नीळ लवर् ।। ४ ।।

जिस शासन में कृषकों का धन-धान्य विपुल छाया सर्वत्र ।
उस धरती पर नरपतियों के सदा सुरक्षित रहते छत्र ।। ४ ।।

धान्य की बालियों की छाँह सुलभ करनेवाला किसान, अपने अन्न-छत्र की छाँह में, अनेक छत्रपतियों के राज-छत्र देखने में समर्थ होता है। [अर्थात् जिस राज्य में धरती खेती के द्वारा धनधान्य उगलती है, वहाँ के राजा सदैव सुरक्षित राज्य करते हैं।] ।। ४ ।।

इरवार् इरप्पार्क्कोन्रु ईवर् करवादु
कैशॆय्दूण् मालै यवर् ।। ५ ।।

हल के बल पर श्रम करके खाते अनाज करते उत्पन्न ।
क्यों याचक[1] हों, स्वयं उन्हीं से पाते हैं जो अन्न-विपन्न[2] ।। ५ ।।

अपने हाथों से हल जोतकर, अन्न प्राप्तकर, भोजन करना जिनका स्वभाव है, ऐसे श्रमिक दूसरों के पास जाकर याचना नहीं करते, और उनके पास जो याचना करता है, उसे बिना दुराव के अन्न प्रदान करते हैं।। ५ ।।

उळविनार् कैम्मडङ्गिन् इल्लै विळैवदूउम्
विट्टेमॆन् पार्क्कु निलै ।। ६ ।।

कृषक खींच ले हाथ, अगर हो जाये जग में अन्न-अभाव ।
बिना अन्न के त्रस्त विरक्तों[3] को तज दे विराग[4] का भाव ।। ६ ।।

हल जोतनेवाले कृषक यदि अपने कार्य से हाथ खींच लें, तो 'हम संसार की हर वस्तु का त्याग कर चुके हैं' यों कहनेवाले विरक्त साधुओं का भी अस्तित्व [अन्न के अभाव में] नहीं रहेगा ।। ६ ।।

तॊडिप्पुळुदि क:शा उणक्किन् पिडित्तॆरुवुम् ।
वेण्डादु शालप् पडुम् ।। ७ ।।

हल-जोती मिट्टी सूखे, यदि रह जाये चौथाई शेष[5] ।
खाद न मुट्ठी भर भी पाकर धरती उगले अन्न अशेष[6] ।। ७ ।।

एक सेर जोती हुई मिट्टी सूखकर पाव सेर रह जाये, तो एक मुट्ठी खाद के बिना भी उस खेत में अतुल फ़सल लहलहायेगी ।। ७ ।।

एरिनुम् नन्राल् ऎरुविडुदल् कट्टपिन्
नीरिनुम् नन्रदन् काप्पु ।। ८ ।।

---

१ मांगनेवाले २ अन्न के न पैदा करनेवालें दीन ३ त्यागी जनों ४ वैराग्य ५ बाकी ६ अपार।

खाद जुताई से आवश्यक; और निकाओ[1] भली प्रकार।
सींचो, किन्तु जरूरी सबसे, करो सुरक्षा भली प्रकार ॥ ८ ॥

खेत जोतने की अपेक्षा खाद डालना अधिक आवश्यक है। यह दोनों कार्य कर फिर निकाई जरूरी है। उसके बाद सींचने की अपेक्षा उसे (अर्थात् फ़सल को) विनाश से बचाना पहला काम है ॥ ८ ॥

शॆल्लान् किऴवन् इरुप्पिन् निलम्बुलन्दु
इल्लाळिन् ऊडि विडुम् ॥ ९ ॥

धरती की सुध स्वयं न लेना, अगर भूमिधर रहा विरक्त।
फ़सल न देगी धरा रूठ, मानो विरक्त पत्नी है त्यक्त[2] ॥ ९ ॥

खेत का स्वामी स्वयं जाकर, ध्यान से खेत को न देखे तो वह धरती उससे उसकी छोड़ी हुई पत्नी की ही तरह विरक्त होकर रूठ जायेगी ॥ ९ ॥

इलमॆन्रु अशैइ इरुप्पारैक् काणिन्
निलमॆन्नुम् नल्लाळ् नहुम् ॥ १० ॥

धरती है! श्रम बिना आलसी निर्धनता को रोता दीन।
दयामयी भूदेवी[3] हँसती लख कर उसको बुद्धिविहीन ॥ १० ॥

" हम तो दरिद्र हैं ", यों सोचकर आलस्य में पड़े रहनेवालों को देखकर, उनके अज्ञान पर करुणामयी भूमि देवी भी उपहास करेगी। [अर्थात् इतनी धरती पड़ी है, और ये मूर्ख आलसी श्रम से भाग कर खेती न करके दीन बने हुए हैं।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १०५
नल्कुरवु (दरिद्रता)

इन्मैयिन् इन्नादडु यादॆनिन् इन्मैयिन्
इन्मैये इन्ना ददु ॥ १ ॥

प्रश्न यही—क्या दुख, दरिद्रता के समान है जग में अन्य ?
दरिद्रता के सदृश न दुख है, दरिद्रता है दुःख अनन्य ॥ १ ॥

यदि यह पूछा जाये कि दरिद्रता के समान दुखदायी और कौन सी बात है तो (यही कहना पड़ेगा कि) दरिद्रता के समान दुखदायी दरिद्रता ही है ॥ १ ॥

---

१ घास-फूस बीन कर निकालो २ छोड़ी हुई स्त्री ३ धरती माता।

इऩ्मै ॲेऩवॊरु पावि मरुमैयुम्
इम्मैयुम् इऩ्ऱि वरुम् ।। २ ।।

निर्धनता डाइन के पञ्जे का मानव हो गया शिकार ।
लोक और परलोक बिगड़ते, कहीं न सुख का फिर सञ्चार ।। २ ।।

निर्धनता नामक पापिन यदि किसी के साथ जुड़ जाती है तो इहलोक और परलोक दोनों के आनन्दों से वह वञ्चित रह जाता है ।। २ ।।

तॊल्वरवुम् तोलुम् कॆडुक्कुम् तॊहैयाह
नल्कुर वॆऩ्ऩुम् नशै ।। ३ ।।

निर्धनता के, जो, प्रगाढ़ आलिंगन में हो जाते ग्रस्त ।
लोक-लाज, शालीन[1] कुलीनों के सद्गुण से होते त्यक्त ।। ३ ।।

निर्धनता का पाश जिसे जकड़ लेता है उसकी कुलीनता तथा कीर्ति दोनों को एक साथ नष्ट कर डालता है । उसके कथन का कोई मोल नहीं रहता ।। ३ ।।

इऱ्पिऱन्दार् कण्णेयुम् इऩ्मै इळिवन्द
शॊऱ्पिऱक्कुम् शोर्वु तरुम् ।। ४ ।।

दरिद्रता में ग्रस्त निरन्तर यदि हो गये निपट धनहीन ।
लाजहीन अश्लील असभ्यों-वत् कहते हैं वचन कुलीन ।। ४ ।।

निर्धनता, (नीच, अश्लील वचनों का प्रयोग न करनेवाले) कुलीन में भी इतनी थकान ला देती है कि वह उसके वश होकर नीच, अश्लील वचनों का प्रयोग करने लगता है । (थका हुआ व्यक्ति, अपने विभिन्न अंगों को वश में नहीं रख पाता, उसी प्रकार निर्धनता व्यक्ति को इतना थका देती है कि कुलीन व्यक्ति भी उसके वश होकर अपनी जीभ पर संयम नहीं रख पाता ।) ।। ४ ।।

नल्कुर वॆऩ्ऩुम् इडुम्बैयुळ् पल्कुरैत्
तुऩ्बङ्गळ् शॆऩ्ऱु पडुम् ।। ५ ।।

विपन्नता[2] ऐसी दुखदायी, उपजाती है नाना दोष ।
दरिद्रता है विविध भाँति की पीड़ाओं-क्लेशों का कोश[3] ।। ५ ।।

निर्धनता नामक दुखदायी परिस्थिति, कई अन्य प्रकार के दुखों को भी पैदा करती है ।। ५ ।।

नऱ्पॊरुळ् नऩ्कुणर्न्दु शॊल्लिऩुम् नल्कूर्न्दार्
शॊऱ्पॊरुळ् शोर्वु पडुम् ।। ६ ।।

१ विनम्र, मधुभाषी, शिष्ट २ दीनता ३ खज़ाना ।

धनहीनों पर कान न देता[1], यद्यपि कहते वचन अमूल्य।
गुण भी अवगुण हैं, समाज में निर्धन का नगण्य[2] है मूल्य ॥ ६ ॥

सभी शास्त्रों के सूक्ष्म तत्वों का अच्छी तरह परीक्षण कर फिर उसका अर्थ समझाये तो भी निर्धन के प्रवचन महत्वहीन हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें सुननेवाला कोई नहीं होता। (किसी व्यक्ति के अर्थपूर्ण गंभीर वचन भी निरर्थक हो जाते हैं यदि उसके पास धन नहीं है, क्योंकि इस संसार में धनहीन की बातें कोई नहीं सुनता।) ॥ ६ ॥

अऱ्ऩशारा नल्कुरवु ईऩ्ऱदा याऩुम्
पिऱऩ्बोल नोक्कप् पडुम् ॥ ७ ॥

धन से हीन, धर्म-सद्गुण का भी यदि उसमें हुआ अभाव।
निज जननी भी ऐसे सुत पर रखती तिरस्कार का भाव ॥ ७ ॥

जिस व्यक्ति की निर्धनता, धर्म से जुड़ी हुई नहीं होती (अर्थात् उचित कारणों से उद्भूत नहीं होती), उस व्यक्ति की जननी के द्वारा भी वह पराये व्यक्ति की तरह देखा जायेगा ॥ ७ ॥

इऩ्ऱुम् वरुवदु कॊल्लो नॆरुनलुम्
कॊऩ्ऱदु पोलुम् निरप्पु ॥ ८ ॥

निपट दरिद्री पर दरिद्रता का छाया रहता आतंक।
कल की तरह आज भी दुख है, उर में रहता सदा सशंक ॥ ८ ॥

जो दरिद्रता कल मेरे प्राणों को निचोड़ चुकी है, क्या वह आज भी आयेगी? (निर्धन व्यक्ति प्रतिदिन इसी चिन्ता में डूबा रहता है।) ॥ ८ ॥

नॆरुप्पिऩुळ् तुञ्जलुम् आहुम् निरप्पिऩुळ्
यादॊऩ्ऱुम् कण्पा डरिदु ॥ ९ ॥

भले अनल[3] में ग्रस्त प्राप्त करले पल भर झपकी की चैन।
निर्धनता की धधकन[4] में है कभी न संभव झपकें नैन ॥ ९ ॥

आग के बीच में भी सो सकना संभव है परन्तु निर्धनता की स्थिति में आँख झपकना तक असंभव है ॥ ९ ॥

तुप्पुर विल्लार् तुवरत् तुऱवामै
उप्पिऱ्कुम् काडिक्कुम् कूट्ऱु ॥ १० ॥

लेता है संन्यास न निर्धन, यद्यपि उसको सकल अभाव।
क्योंकि पड़ोसी से न सुलभ हो पायेगा फिर लवण[5], पसाव[6] ॥ १० ॥

---

१ कोई नहीं सुनता २ तुच्छ ३ अग्नि ४ जलन, सुलगना ५ नमक
६ चावल का माँड़।

भोग्य वस्तुओं से हीन निर्धन व्यक्ति, सब कुछ त्याग देने की स्थिति में होते हुए भी यदि संन्यास नहीं लेता तो उसका कारण यही है कि फिर तो नमक और माँड़ तक के लाले पड़ जायेंगे। (और फिर तो प्राण तक त्याग देने पड़ेंगे।) ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १०६

इरवु (याचना)

इरक्क इरत्तक्कार्क् काणिऩ् करप्पिऩ्
अवर्पऴि तम्पऴि यऩ्ऱु ॥ १ ॥

करो याचना[1], उनसे जो पूरी करने में माँग समर्थ।
विमुख किया[2] तो वे दोषी हैं, याचक का माँगना न व्यर्थ[3] ॥ १ ॥

याचना करने योग्य व्यक्तियों से ही याचना करनी चाहिये; वे 'नहीं है' कह कर इन्कार कर दें, तो उसमें दोष उनका है, याचक का नहीं ॥ १ ॥

इऩ्बम् ऒरुवर्कु इरत्तल् इरन्दवै
तुऩ्बम् उऱाअ वरिऩ् ॥ २ ॥

दाता को भी कष्ट न हो, याचक को अनायास हो प्राप्त।
तो याचना न दुखदायी है, वह भी सुखदायी पर्याप्त ॥ २ ॥

'याचित वस्तुएँ यदि व्यक्ति को बिना दुख-द्वन्द्व के प्राप्त हो जाती हैं तो याचना भी सुखदायी है', यों कहा जा सकता है ॥ २ ॥

करप्पिला नॆञ्जिऩ् कडऩऱिवार् मुऩ्निऩ्ऱु
इरप्पुमो रेऍऱ् उडैत्तु ॥ ३ ॥

विमल हृदय, कर्तव्यनिष्ठ, जिनको सुपात्र की है पहचान।
उन उदारजन के सम्मुख याचन करने में[4] भी सम्मान ॥ ३ ॥

जिनके हृदय शुद्ध और उदार हैं, तथा जो अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हैं, ऐसे व्यक्तियों के सम्मुख याचना के लिए खड़ा रहना भी गौरव की बात है ॥ ३ ॥

इरत्तलुम् ईदले पोलुम् करत्तल्
कऩविलुम् तेट्ऱादार् माट्टु ॥ ४ ॥

१ माँग २ माँग पूरी न की ३ अनुचित ४ माँगने में।

स्वप्न तलक में विमुख न करते, देते मुक्त-हस्त हो दान।
उनसे लेना दान, दान देने-वत् करता है सुखदान ॥ ४ ॥

जो स्वप्न में भी अपने पास की वस्तु को छिपाकर रखना (अर्थात् दूसरों को देने से बचने के लिए उसे गुप्त रखना) नहीं जानते, ऐसे व्यक्तियों के सम्मुख याचना के लिए खड़ा रहना भी उतना ही गौरवपूर्ण है, जितना स्वयं दूसरों को दान देना ! ॥ ४ ॥

करप्पिलार् वैयहत् तुण्मैयाल् कण्णिऩ्ऱु
इरप्पवर् मेऱ्कॊळ् वदु ॥ ५ ॥

हैं जग में नररत्न, विमुख जो कभी न करते, देते दान।
इसीलिए याचन में[१] याचक[२] नहीं समझता है अपमान ॥ ५ ॥

किसी के सम्मुख याचना करने का कार्य याचक इसीलिए अंगीकार करता है क्योंकि अपने पास की वस्तु बिना हाथ रोके दूसरों को दान देने-वाले सत्पुरुष इस जग में हैं ॥ ५ ॥

करप्पिडुम्बै इल्लारैक् काणिऩ् निरप्पिडुम्बै
ऒॅल्लाम् ऒॅरुङ्गु कॆॅडुम् ॥ ६ ॥

'नहीं' न मुख में, मुक्त-हस्त जो है सुपात्र को देता दान।
उसके दर्शन से याचक की पीड़ा करती सहज पयान[३] ॥ ६ ॥

अपने पास की वस्तु को छिपाकर रखने की दुखद स्थिति जिनकी नहीं है [अर्थात् जरूरतमन्द को देने में जिन्हें दर्द नहीं है], ऐसे दाताओं को देखकर याचक की निर्धनता की दुखद स्थिति संपूर्णतया नष्ट हो जाती है ॥ ६ ॥

इहऴ्न्दॆॅळ्ळादु ईवारैक् काणिऩ् महिऴ्न्दुळ्ळम्
उळ्ळुळ् उवप्पदु उडैत्तु ॥ ७ ॥

नहीं तामसी दान, दान में याचक का न कभी उपहास।
गद्गद है, अयाच्य[४] है याचक, दरस मात्र से उसके पास ॥ ७ ॥

अवहेलना से हँसी न उड़ाकर देनेवाले व्यक्ति को देखकर याचक का मन, आनन्द व हर्षातिरेक से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ७ ॥

इरप्पारै इल्लायिऩ् ईर्ङ्कण्मा ञालम्
मरप्पावै शॆॅऩ्ऱुवन् दट्ऱु ॥ ८ ॥

यदि याचक-विहीन होता तो जगमग जग होता सुनसान।
बिना दानश्री, मृत हो जाता जीवन कठपुतली समान ॥ ८ ॥

---

१ माँगने में २ माँगनेवाला ३ सहज ही में भाग जाती है ४ इतना तृप्त हो जाय कि कोई अभ व ही न रहे।

यदि याचक न होते तो शीतल-थलयुक्त यह विशाल जग सूत्रधार द्वारा संचालित कठपुतली की तरह हो जाता ॥ ८ ॥

ईवार्कण् ऍन्नुण्डाम् तोट्रम् इरन्दुकोळ्
मेवार् इलाअक् कडै ॥ ९ ॥

अहा ! याचना से, याचक से, अगर धरा हो जाय विहीन।
दानी और दान की महिमा भी हो जाये क्षीन-मलीन[1] ॥ ९ ॥

'धन नहीं है' यों याचना कर, उसे ग्रहण करने की इच्छा रखनेवाले याचक न होते तो, धन देनेवाले दाता को यश कहाँ से प्राप्त होता ?॥ ९ ॥

इरप्पान् वॆहुळामै वेण्डुम् निरप्पिडुम्बै
तानेयुम् शालुम् करि ॥ १० ॥

माँग न पूरी हो याचक की, तो न उचित है करना क्रोध।
अपनी परवश निर्धनता से उसे चाहिए होना बोध[2] ॥ १० ॥

याचक को चाहिये कि उसकी मांग पर न देनेवाले पर वह क्रोध न करे; उसे प्राप्त निर्धनता का दुःख ही उसे अपनी दीनता का बोध कराने के लिए पर्याप्त है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १०७

इरवच्चम् (याचना-भय)

करवादु उवन्तीयुम् कण्णन्नार् कण्णुम्
इरवामै कोडि युरुम् ॥ १ ॥

दया-दृष्टि, प्रमुदित मन से भी देवें दान यदपि श्रीमान्।
कहीं श्रेष्ठ ! यदि बचें दान लेने से, [कृपा करे भगवान् !] ॥ १ ॥

अपने पास की वस्तु को, हार्दिक प्रसन्नता के साथ दान देनेवाले, करुणामयी दृष्टिवाले श्रेष्ठ पुरुषों से भी याचना करने की अपेक्षा, याचना न करना कोटि गुना श्रेयस्कर है ॥ १ ॥

इरन्दुम् उयिर्वाळ्दल् वेण्डिन् परन्दु
कॆडुह उलहियट्रि यान् ॥ २ ॥

है 'विधि का विधान', जग में कुछ का भिक्षा पर हो निर्वाह।
तो 'विधि'[3] भी माँगता फिरे, सर्वथा उचित है, राह-कुराह ॥ २ ॥

---

१ धुंधली और विनष्ट २ ज्ञान ३ विधाता, जग का नियन्ता ही।

यदि विधाता ने यह विधान किया हो कि इस जग में कुछ लोग याचना कर ही जीवन-यापन करें, तो वह विधाता स्वयं उस याचक की तरह मारा-मारा फिर कर विनष्ट हो जाये ! ।। २ ।।

इऩ्मै इडुम्बै इरन्दुतीर् वामॆऩ्ऩुम्
वऩ्मैयिऩ् वऩ्पाट्ट दिल् ।। ३ ।।

श्रम न करेंगे, भीख माँग कर गुज़र करेंगे—यह स्वीकार ।
निन्दनीय यह भाव, न इसकी तुलना में निकृष्ट-आचार[1] ।। ३ ।।

'निर्धनता के दुःख को याचना करके दूर करेंगे' यों विचार कर, स्वयं परिश्रम न करना-जैसी दुष्प्रवृत्ति से बढ़कर दुष्ट प्रवृत्ति और कुछ नहीं है ।। ३ ।।

इडमॆल्लाम् कॊळ्ळात् तहैत्ते इडमिल्लाक्
कालुम् इरवॊल्लाच् चाल्बु ।। ४ ।।

हाथ न फैलाएँ जीवन में, कैसा ही हो निपट अभाव ।
सकल विश्व की तुलना में सरवोपरि यह संतोष-स्वभाव ।। ४ ।।

जीवन-यापन के पर्याप्त साधन न होने पर भी याचना करने न जाना, आत्मसंतोष का यह गुण, इतना अतुलनीय है कि सारा संसार एक ओर रखा जाये तो भी पर्याप्त नहीं होगा ।। ४ ।।

तॆण्णीर् अडुपुऱ्है यायिऩुम् ताळ्तन्ददु
उण्णलिऩ् ऊङ्गिऩिय दिल् ।। ५ ।।

अपने श्रम के बल पर अर्जित जल-तन्दुल[2] का सादा माँड ।
अधिक मधुर है, उससे हलके भीख माँग कर घृत-मधु-खांड ।। ५ ।।

सामान्य जल में पकाया हुआ माँड ही क्यों न हो, पर अपने श्रम से अर्जित कर उसे खाने से बढ़कर मधुर वस्तु कुछ नहीं है ।। ५ ।।

आविऱ्कु नीरॆऩ्ऱु इरप्पिऩुम् नाविऱ्कु
इरविऩ् इळिवन्द दिल् ।। ६ ।।

गऊ हेतु जल की भिक्षा माँगना, न यह भी है मर्याद ।
पुण्यकर्म के लिए याचना भी जिह्वा का है अपवाद[3] ।। ६ ।।

गाय के लिए जल चाहिये, ऐसी याचना भी जीभ पर लाना अपमान ही की बात है ।। ६ ।।

---

१ नीच आचरण २ चावल और पानी में पकाया, ३ बुराई, कलंक ।

इरप्पन् इरप्पारै ऍल्लाम् इरप्पिर्
करप्पार् इरवन्मिन् ऍन्रु ।। ७ ।।

उन भिखारियों से, कहना है, जो भिक्षा पर हैं लाचार।
कृपणों से न माँगना, जो धन रहते, कर देते इनकार ।। ७ ।।

जो भिक्षा माँगने के लिए अपने को लाचार समझते हैं, उनसे हम यह भिक्षा माँगते हैं कि वे ऐसे कृपणों के पास याचना करने न जायें जो सब कुछ पास में रहते हुए भी उसे छिपाते और माँगनेवाले को विमुख लौटा देते हैं ।। ७ ।।

इरवॆन्नुम् एमाप्पिल् तोणि करवॆन्नुम्
पार्ताक्कप् पक्कु विडुम् ।। ८ ।।

भिक्षा की नौका से करना निर्धनता-सागर को पार।
निर्मम[1] की इनकार-शिला से टकरा कर होगी बिस्मार[2] ।। ८ ।।

[निर्धनता-रूपी सागर को पार करने के लिए यदि कोई याचना के भरोसे रहता है तो] याचना नामक अरक्षित नौका, (दूसरे याचना करते हैं इसलिए अपने पास की वस्तु छिपाने वालों के) इनकार की चट्टान से टकरा कर भग्न हो जाती है ! ।। ८ ।।

इरवुळ्ळ उळ्ळम् उरुहुम् करवुळ्ळ
उळ्ळदूउम् इन्रिक् कॆडुम् ।। ९ ।।

जिन सदयों[3] के हृदय पिघलते, दशा भिक्षुकों की लख दीन ।
कृपणों से निराश उनको लख कर तो होंगे प्राणविहीन ।। ९ ।।

याचना (वृत्ति) की दुर्दशा को सोचकर ही जिन लोगों के मन विकलित हो उठते हैं, [दूसरे माँग न लें इस भय से] अपने पास की वस्तु को छिपानेवालों और 'नहीं' कह देनेवालों का ध्यान करके तो उन लोगों के प्राण ही निकल जायँगे ।। ९ ।।

करप्पवर्क्कु याङ्गॊळिक्कुम् कॊल्लो ? इरप्पवर्
शॊल्लाडप् पोऒम् उयिर् ।। १० ।।

'नहीं' शब्द के श्रवणमात्र से याचक हो जाता निष्प्राण[4] ।
वही 'नहीं-विष' जिसके मुख में, क्यों न निकलते उसके प्राण ।। १० ।।

'नहीं है' यह शब्द सुनते ही याचक जनों को प्राण निकल जाते हैं ! अपने पास होते हुए भी 'नहीं है', ऐसे शब्द जिनके मुख से निकलते हैं, उनके कठोर प्राण क्यों नहीं निकलते [वे शब्द तो उनके मुख में हैं और उनके अंश हैं ।] ।। १० ।।

---

१ निर्दय कंजूस २ विनष्ट ३ दयावानों ४ मरे के समान ।

अदिहारम् (अध्याय) १०८

कयमै (नीचता)

मक्कळे पोल्वर् कयवर् अवरन्न
ऑप्पारि याङ्कण्ड दिल् ।। १ ।।

मानव और अधम मानव के रूप-अंग में जो सादृश्य[1] ।
अन्य वस्तुओं में समानता नहीं जगत् में ऐसी दृश्य[2] ।। १ ।।

नीच व्यक्ति (भी दिखने में) अन्य मनुष्यों के ही समान होते हैं। श्रेष्ठ मनुष्यों और उनमें जितनी एकरूपता होती है, उतनी किन्हीं भी दो वस्तुओं में नहीं दिखाई देती। [यहाँ कवि ने व्यंग्य किया है कि नीच व्यक्ति जिन्हें मनुष्य-कोटि में गिनना ही नहीं चाहिये, वे अधम भी रूप और अंग में श्रेष्ठ मनुष्यों की ही तरह होते हैं। यह कैसा आश्चर्य है कि विपरीत गुण वाली दो वस्तुएँ इतनी एकरूप प्रतीत होती हैं।] ।। १ ।।

नन्ऱऱि वारिऱ् कयवर् तिरुवुडैयर्
नेञ्जत्तु अवलम् इलर् ।। २ ।।

अधम[3], सज्जनों की तुलना में, होते सदा भाग्य-सम्पन्न ।
भले-बुरे कर्मों की चिन्ता, क्योंकि न उनमें है उत्पन्न ।। २ ।।

सज्जनों की अपेक्षा नीच व्यक्ति (दुर्जन) ही अधिक भाग्यशाली होते हैं; क्योंकि दुर्जन मन में (धर्माधर्म की) चिन्ता नहीं वहन करते ।। २ ।।

देवर् अनैयर् कयवर् अवरुन्दाम्,
मेवन शेय्दॊळुह लान् ।। ३ ।।

देवों के समान समरथ हैं, देवों के समान निर्द्वन्द[4] ।
अधम निरंकुश[5] सामाजिक बन्धन से मुक्त सदा स्वच्छन्द[6] ।। ३ ।।

नीच व्यक्ति भी देवताओं के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार देवता पर किसी का अंकुश नहीं होता, देवता के कार्यों के लिए कोई आचार-सीमा नहीं होती, उसी प्रकार वे (अर्थात् नीच व्यक्ति) भी होते हैं ।। ३ ।।

अहप्पट्टि यावारैक् काणिन् अवरिन्
मिहप्पट्टुच् चॆम्माक्कुम् कीऴ् ।। ४ ।।

अधमाधम[7] के अधिक पतन को देख अधम करता है दर्प[8] ।
निज को, उससे श्रेष्ठ समझ कर, मुसकाता है मूर्ख सदर्प[9] ।। ४ ।।

---

१ समरूपता २ दिखाई देती है ३ नीचजन ४ बेखटके ५ बिना दबाव के ६ आज़ाद ७ नीचे से भी अधिक नीच ८ अहंकार ९ अहंकार सहित ।

नीच व्यक्ति जब अपने से भी नीच व्यवहार करनेवाले व्यक्ति को देखता है तो स्वयं को उससे श्रेष्ठ मानकर, मन ही मन गर्वित होता है ।। ४ ।।

अच्चमे कीऴ्कळदु आशारम् ऍच्चम्
अवावुण्डेल् उण्डाम् शिऱिदु ।। ५ ।।

**सदाचार नीचों में दरसे, समझो कुछ भय का सञ्चार।
अथवा लोभ-लालसा-वश नीचों से सम्भव सद् व्यवहार ।। ५ ।।**

नीच व्यक्ति के आचारपूर्ण व्यवहार का एकमात्र कारण [शासन, समाज इत्यादि द्वारा दंडित होने का] भय ही है; इसके अतिरिक्त भी यदि (उसमें) कोई आचार-पूर्ण व्यवहार दिखता है, तो उसका कारण कोई लोभ-लालसा ही हो सकती है ।। ५ ।।

अऱैपऱै यन्नर् कयवर्दाम् केट्ट,
मऱैपिऱर्क्कु उय्त्तुरैक्क लान् ।। ६ ।।

**गोपनीय सुन, पतित पीटने लगते हैं चौतरफ़ा ढोल।
जिस प्रकार ताडित[1] होते ही ढोल गरजता ऊँचे बोल ।। ६ ।।**

नीच व्यक्ति गुप्त रखने योग्य बातें सुन ले तो स्वयं जाकर दूसरों से घोषित करने लगता है, इस अर्थ में वह पीटे जाते ढोल के समान है ।। ६ ।।

ईर्ङ्गै विदिरार् कयवर् कॊडिऱुडैक्कुम्
कून्कैय रल्ला दवर्क्कु ।। ७ ।।

**भला न हो जाये जूठन से, नहीं हिलाते जूठा हाथ।
बज्रमुष्टि[2] को हाथ जोड़ कर नीच सभीत[3] नवाते, माथ ।। ७ ।।**

गालों को तोड़ने के लिए मुड़े हुए हाथ न हों तो नीच व्यक्ति अपने जूठे हाथ तक को नहीं झटकता ! [नीच व्यक्ति याचना के लिए उठे हुए हाथों के सामने अपने जूठे हाथ तक को इस विचार से नहीं झाड़ता कि कहीं एक दाना याचक को मिल न जाये ! पर जो हाथ उसे घूंसा मार-कर उसके गाल तोड़ने के लिए उठे हों, उन्हें वह मुँहमाँगी वस्तु दे देता है। अर्थात् नीच व्यक्ति का दान भी भय पर आधारित होता है न कि सदा-शयता पर !] ।। ७ ।।

शॊल्लप् पयन्पडुवर् शान्ऱोर् करुम्बुपोर्
कॊल्लप् पयन्पडुम् कीऴ् ।। ८ ।।

---

१ पीटा जाकर २ घूंसे की धमकी ३ भय के मारे ।

सज्जन सहज-स्वभाव सहायक होते हैं सुन दीन-अभाव[1]।
दुर्जन से उपलब्धि न जब तक ईखों जैसा पड़े दबाव[2]॥ ८ ॥

सज्जनों का लक्षण है कि उनके निकट जाकर अपना अभाव कहते ही वे उपयोगी हो जाते हैं (अर्थात् सहायता करते हैं, जबकि) ईख की तरह दबाकर निचोड़ा जाये, तभी नीच व्यक्ति उपयोगी होते हैं ॥ ८ ॥

उडुप्पदूउम् उण्बदूउम् काणिऱ् पिऱर्मेल्
वडुक्काण वट्ऱाहुम् कीऴ् ॥ ९ ॥

जलन उपजती देख किसी का रहन-सहन आहार-विहार।
खोजबीन दोषों की करने लगना, नीचों का व्यापार ॥ ९ ॥

दूसरे अच्छा खाकर, अच्छा पहनकर संतुष्ट हैं, यह देखकर ईर्ष्या के मारे नीच व्यक्ति जानबूझकर, छिद्रान्वेषण कर, उनके दोष निकालने बैठता है ॥ ९ ॥

अॆट्ऱिऱ् कुरियर् कयवरॊन्ऱु उट्ऱक्काल्
विट्ऱऱ् कुरियर् विरैन्दु ॥ १० ॥

किस लायक हैं, कौन भरोसा, नीच जनों का क्या विश्वास ?
संकट में निज तक का विक्रय कर, बन जायँ पराये दास ॥ १० ॥

नीच व्यक्ति भला किस काम के हैं ? संकट आ जाये तो वे स्वयं ही आगे बढ़कर तुरन्त अपने को दूसरों के हाथ बेचकर गुलाम बन जायें ॥ १० ॥

(अर्थ-कांड समाप्त)

अदिहारम् (अध्याय) १०९

इऩ्बत्तुप्पल्—(कामकाण्डम्)

[तिरुक्कुरळ् का यह अंतिम कांड है। भारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ गिने जाते हैं। इनको तमिऴ् में 'अरम्', 'पोरुळ्', 'इऩ्बम्' और 'वीडु' कहा जाता है। तमिऴ् में 'इऩ्बम्' का अर्थ होता है 'आनन्द' जिसमें काम या वासना का लेश भी नहीं आ पाता। यह 'कामखंड' दो भागों में विभाजित है—पहला है 'गुप्त मिलन' और दूसरा 'दाम्पत्य-जीवन'। यह भाग प्राचीन तमिऴ् प्रदेश के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालता है। उस काल में युवक और युवती सामाजिक उत्सवों, समारोहों या अन्य अवसरों पर एक दूसरे से मिल पाते थे और उनमें प्रेम का उदय होने पर गुप्त रूप से संकेत-स्थल पर मिला करते थे। धीरे-धीरे बात प्रकट होने लगती थी। यहीं पर 'गुप्त-मिलन' यह प्रथम भाग समाप्त होता है। फिर माता-पिता उस सामाजिक प्रवाद की सत्यता जानने की चेष्टा करते थे तो युवक

१ ज़रूरतमंद की ज़रूरत २ गन्ने की तरह पेरा जाय।

व युवती साहसपूर्वक उनके सामने पारस्परिक प्रेम की स्वीकारोक्ति कर उसे सामाजिक स्वरूप प्रदान करने के लिए उनसे प्रार्थना करते थे और उनका आशीष चाहते थे। यहाँ प्रथम भाग में नायक-नायिका के पारस्परिक सम्भाषण नहीं हैं, वरन् सखी या सखा से अपने मनोभावों का प्रकटीकरण है या स्वगत-भाषण है।

कुछ विद्वान् इस संपूर्ण खंड को अन्योक्ति मानते हैं और इसे जीवात्मा तथा परमात्मा की पारस्परिक मिलन-यात्रा की अभिव्यक्ति मानकर इसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष मानते हैं।]

तहैयणङ्गुरुत्तल् (सौन्दर्य की पीड़ा)

[नायक नायिका के सौन्दर्य को देखता है, उसके मन में एक अननुभूत पीड़ा उत्पन्न होती है, वह उसी का वर्णन स्वगत कर रहा है।]

अणङ्गुकॊल् आय्मयिल् कॊल्लो कऩङ्गुऴै
मादर्कॊल् मालुमॆऩ् नॆञ्जु ॥ १ ॥

अहा ! अप्सरा ! या अलभ्य मोरनी ! मानवीरत्न ललाम ! ।
दरस विभ्रमित करता मन को, अहा, धन्य ! ऐसी छबिधाम ॥ १ ॥

भारी कुंडल पहने हुई यह क्या कोई देवांगना है ? या अद्भुत मयूरी है ? या रत्नमयी मानव-कन्या है ? मेरा मन तो भ्रमित हो रहा है ? ॥ १ ॥

नोक्किऩाळ् नोक्कॆदिर् नोक्कुदल् ताक्कणङ्गु
ताऩैक्कॊण् डऩ्ऩ तुडैत्तु ॥ २ ॥

नयन मिलाते ही छबिनयनी के कटाक्ष का तीखा वार ।
नयनों की अनुगामिनि मानो युद्धवाहिनी[1] की हुंकार ॥ २ ॥

उस सुन्दरी पर दृष्टिपात के प्रत्युत्तर में उसका देखना वैसा ही है जैसे स्वयं युद्ध की देवी ने अपनी सेना के साथ आक्रमण कर दिया हो। (अर्थात् उसकी आँखों से आँखें मिलाना उतना ही कठिन है।) ॥ २ ॥

पण्डऱियेऩ् कूट्रॆऩ् बदऩै इऩियऱिन्देऩ्
पॆण्डहैयाल् पेरमर्क् कट्टु ॥ ३ ॥

'यम क्या है ? ' अनुमान न इसका, कभी सशंकित हुआ न पूर्व ।
अब जाना वह नयन-चोट है, मृगनयनी के नयन अपूर्व ॥ ३ ॥

'यम क्या है' इससे मैं पहले अनभिज्ञ था, अब देखकर जान गया हूँ; वह विशाल-नेत्रों से युक्त युद्ध करनेवाली एक (वस्तु) 'नारी' है ॥ ३ ॥

---

[1] सेना ।

कण्डार् उयिरुण्णुम् तोट्ऱत्ताल् पेण्डहैप्
पेदैक् कमर्त्तऩ कण् ॥ ४ ॥

कहाँ सुन्दरी भोलीभाली ! कहाँ तीक्ष्ण वे घातक नैन !
सुकुमारी अनबोल ! किन्तु हर लेती प्राण नयन की सैन[1] ॥ ४ ॥

स्त्री-सुलभ गुणों से युक्त इस भोली-भाली (युवती) के नेत्र, देखने-वालों के प्राणों को खा जायें, इस प्रकार के विपरीत गुण वाले हैं। (अर्थात् वह युवती है तो एकदम भोली, जबकि उसके नेत्र हैं इतने क्रूर कि दर्शक के प्राणों को ही हर लें; यह कैसा विपरीत गुण है इनमें ?) ॥ ४ ॥

कूट्ऱमो कण्णो पिणैयो मडवरल्
नोक्कमिम् मून्ऱुम् उडैत्तु ॥ ५ ॥

प्राणहरणि, हरिणी-मृगनयनी, और नयनमुग्धा की दृष्टि ।
तीनो गुण की हो समष्टि[2], तब समझो यही नारि की सृष्टि ॥ ५ ॥

यम है ! नेत्र है ! मृगी है ! इस मुग्धा की दृष्टि में इन तीनों के गुणों का समावेश है ! ॥ ५ ॥

कोँडुम्बुरुवम् कोडा मऱैप्पिन् नडुङ्कञर्
चेय्यल मन्इवळ् कण् ॥ ६ ॥

कुटिल वक्र भृकुटी सीधी बन, नयन-वाण करती बेकार ! ।
तो न विकम्पित-पीड़ित करता मुझे नारि का नयन-प्रहार[3] ॥ ६ ॥

इसकी बंकिम भृकुटियाँ सीधी हो जातीं और (आँखों पर) छाँह कर देतीं (ढाँक लेतीं) तो इसकी आँखें मुझे कँपाकर पीड़ा देनेवाली न होतीं ! ॥ ६ ॥

कडाअक् कळिट्ऱिन्मेल् कट्पडाम् मादर्
पडाअ मुलैमेल् तुहिल् ॥ ७ ॥

ललना के उल्लसित कुचों पर उसी भाँति वसनों की आब[4] ।
मत्त गयन्दों[5] के मद को ढाँके हैं मानो नयन-नकाब[6] ॥ ७ ॥

ललना के अनत कुचों पर पड़ा हुआ वस्त्र ऐसा लगता है मानो मद-गज के ऊपर डाला हुआ मुखपट हो ! ॥ ७ ॥

ओँण्णुदर् कोओ उडैन्ददे ञाट्पिन्ुळ्
नण्णारुम् उट्कुमेन् पीडु ॥ ८ ॥

---

१ नयन-कटाक्ष रूपी सेना २ संयोग, तीनों लक्षणों का मेल ३ आँखों की मार
४ शोभा ५ हाथियों ६ आँखों पर चढ़ा टोप ।

रण में निरख मुझे, बिन रण के, रिपु के करते प्राण पयान।
किन्तु सुनयना[1] के ललाट-पट से होता क्षण में अवसान॥ ८॥

हाय! युद्धभूमि में लड़े बिना ही मेरी जिस शूरता से रिपु भयभीत हो जाते हैं, वही, इस (युवती) के उज्जवल ललाट से जूझ गई! ॥ ८॥

पिणैयेर् मडनोक्कुम् नाणुम् उडैयाट्कु
अणियॆवऩो एदिल तन्दु ॥ ९॥

लज्जाशील, मृगी-चितवन से युक्त स्वयं नारी छबिधाम।
उसकी छबि छिटकाने में क्या रत्न-अलंकारों का काम? ॥ ९॥

हरिणी के सदृश सरल चितवनवाली तथा लज्जाशीला इस युवती को बिना किसी सादृश्यता के आभूषण बनाकर पहनाने की क्या आवश्यकता है? (लज्जा, सरलता जैसे उपयुक्त आभूषणों के रहते, दूसरे आभूषणों की क्या आवश्यकता है?) ॥ ९॥

उण्डार्कण् अल्लदु अडुनऱाक् कामम्पोल्
कण्डार् महिऴ्चॆय्दल् इन्ऱु ॥ १०॥

सुरा-पान करने पर ही सम्भव है मधु का मत्त प्रभाव।
सुलोचना[1] का दरसमात्र उपजाता है विमोह का भाव॥ १०॥

मधु (मद्य) केवल उसे ही मदमत्त करता है जो उसका पान करता है, काम-भाव की तरह दर्शक को मदमत्त नहीं करता! ॥ १०॥

अदिहारम् (अध्याय) ११०

कुऱिप्पऱिदल् (संकेत से हृदय के भाव समझना)

[नायिका भी नायक के प्रति आकर्षित है इसका संकेत नायक को स्वयं ही तथा नायिका की सखी के माध्यम से प्राप्त होता है।]

इरुनोक् किवळुण्कण् उळ्ळदु ऒरुनोक्कु
नोय्नोक्कॊन् ऱन्नोय् मरुन्दु ॥ १॥

मृगनयनी के नयन दोरुखे[2], उनमें है दोरुखा प्रभाव।
उपजाते वेदना हृदय में, फिर वे ही भरते हैं घाव॥ १॥

इसके कजरारे नयन दो प्रकार की दृष्टि रखते हैं; एक दृष्टि रोग (पीड़ा) देती है, फिर वही दृष्टि उस रोग की औषधि देती है॥ १॥

---

१ सुन्दर नेत्रोंवाली २ दो उलटे प्रभाववाले।

कण्कळवु कॊळ्ळुम् चिरुनोक्कम् कामत्तिल्
चॆम्बाहम् अन्ऱु पॆरिदु ॥ २ ॥

चितवन से चित-चोर नयन, जब चितवन कर लेते हैं बन्द।
उस पीड़ा की तुलना में, नायिका-प्रणय का सुख है मन्द[1] ॥ २ ॥

मुझे देखकर, फिर उसका आँखें चुरा लेना (यह पीड़ा), संयोग (में निहित) सुख का आधा भाग भी नहीं है, वरन् उससे कहीं अधिक है ॥ २ ॥

नोक्किनाळ् नोक्कि इरैञ्जिनाळ् अःदवळ्
याप्पिनुळ् अट्टिय नीर् ॥ ३ ॥

उसने देखा, नयन मिले, बस तुरत लजीली झुकी निगाह।
सिरज[2] प्रेम-तरु को, पोषन[3] हित जल-सिंचन का मृदुल प्रवाह ॥ ३ ॥

उसने (मुझे) देखा, (मैं उसे देख रहा हूँ, यह) देखकर उसने सिर झुका लिया; वह जिस प्रेम (रूपी वृक्ष) को पाल रही है, यह उसमें जल सींचना था ॥ ३ ॥

यानोक्कुङ् कालै निलनोक्कुम् नोक्काक्काल्
नानोक्कि मॆल्ल नहुम् ॥ ४ ॥

मेरी निरखन[4] पर छबिनयनी की नजरें धरती की ओर।
नयन हटे, बस मुसका कर ताकती मुझे आनन्द-विभोर[5] ॥ ४ ॥

मैं देखता हूँ तब वह भूमि की ओर देखती है, मैं जब नहीं देखता तब वह मुझे देखकर मन ही मन उल्लसित होती है ॥ ४ ॥

कुऱिक्कॊण्डु नोक्कामै अल्लाल् ऒरुकण्
चिऱक्कणित्ताळ् पोल नहुम् ॥ ५ ॥

सीधे नयन न मिलने देती, अवसर पाकर छिपी निगाह,
मुझे निरख कर मुसकाती, बरसाती है असनेह-प्रवाह ॥ ५ ॥

यद्यपि वह सीधे (आँखें मिलाकर) मुझे नहीं देखती, पर एक आँख को ज़रा संकुचित कर मुझे देख, मन-ही-मन उल्लसित होती है ॥ ५ ॥

उऱाअ तवर्पोल् शॊलिनुम् शॆऱाअर्शॊल्
ऒल्लै उणरप् पडुम् ॥ ६ ॥

वचनों में अति उदासीन[6], मानो प्रेमी से निपट असंग[7]।
देर न लगती, हाव-भाव दरसा देते हैं प्रेम-प्रसंग ॥ ६ ॥

---

१ फीका, हलका २ पैदा करके ३ पालने (बढ़ाने) के लिए ४ देखने पर ५ आनन्द में भरी ६ विरक्त ७ कोई लगाव नहीं।

वह ऊपर से यद्यपि परायों की तरह प्रेमशून्य वचन बोलती है, पर यह शीघ्र ही पता लग जाता है कि यह भीतर से क्रोधहीन व्यक्ति के वचन हैं ॥ ६ ॥

शॅऱाअच् चिरुशॉल्लुम् शॅट्ऱार्पोल् नोक्कुम्
उऱाअर्पोन्ऱु उट्ऱार् कुऱिप्पु ॥ ७ ॥

तीखे[1] वचन, नजर तीखी, अनजान, हमारा तनिक न ध्यान ।
यह प्रचेष्टा दरसाने की[2], छिपे प्रेम की है पहचान ॥ ७ ॥

कटुवचन, रुष्ट दृष्टि, ये सब परायों की तरह ऊपरी व्यवहार करना, भीतर से प्रेम करनेवालों के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

अशैयियर् कुण्डाण्डोर् एऍर्यान् नोक्कप्
पशैयिऩळ् पैय नहुम् ॥ ८ ॥

मुग्ध देखता हूँ उसको, वह कर देती सुस्मित[3] मुसकान ।
निश्चय ही यह मौन-नायिका[4] का स्वीकृत है करुणादान ॥ ८ ॥

मैं जब उसे देखता हूँ, तब वह प्रेम से मन्द हास करती है; उस समय उस सुकुमारी में एक विशेष शोभा होती है ॥ ८ ॥

एदिलार् पोलप् पॉदुनोक्कु नोक्कुदल्
कादलार् कण्णे उळ ॥ ९ ॥

चैन न देखे बिना, नयन दरसाते किन्तु गैर का भाव ।
है ऐसी कुछ रीति प्रीति की, मन उलझा[5], ऊपर अलगाव[6] ॥ ९ ॥

परायों की तरह उदासीन हो देखना, भीतर ही भीतर प्रेम करनेवालों की यह एक बान होती है ॥ ९ ॥

कण्णोडु कण्णीणै नोक्कॉक्किऩ् वाय्च्चॉर्कळ्
ऍन्ऩ पयऩुम् इल ॥ १० ॥

नयनों से यदि मिले नयन, सरसाते हैं नयनों से सैन[7] ।
इससे अधिक 'प्रेम की भाषा' क्या कह पायेंगे मुख-बैन[8] ॥ १० ॥

(जब) दो प्रेमियों के नयनों से नयन मिले हुए हों, तब मुँह से निकले वचनों की क्या आवश्यकता है? ॥ १० ॥

---

१ कटु २ यह दिखाने का प्रयत्न ३ खिली हुई ४ चुप रहकर स्नेह करनेवाली ५ प्रेम में फसा ६ कोई सम्बन्ध नहीं ७ संकेत की भाषा ८ मुँह से कहे हुए प्रेमवचन ।

अदिहारम् (अध्याय) १११

पुणर्च्चिमहिऴ्दल् (संयोग-सुख)

[नायिका के प्रेम का संकेत समझकर, उससे मिलकर प्राप्त सुख का वर्णन नायक कर रहा है।]

कण्डुकेट् टुण्डुयिर्त् तुट्ररियुम् ऐम्बुलनुम्
ऑण्टॊडि कण्णे उळ ।। १ ।।

सब मिलकर सुख जितना देते शब्द, रूप, रस, गन्धस्पर्श[1] ।
आलिंगन सुरम्य रमणी का एक अकेला देता हर्ष ।। १ ।।

दर्शन, श्रवण, भक्षण, गंध, स्पर्श इन पाँचों इन्द्रियों से प्राप्त होने-वाला संपूर्ण सुख, चमकदार वलय पहने हुई (नायिका-) मिलन में निहित है ! ।। १ ।।

पिणिक्कु मरुन्दु पिरमन् अणियिऴै
तन्नोय्क्कुत् ताने मरुन्दु ।। २ ।।

व्याधि[2] पृथक् है, और व्याधि से पृथक् व्याधि का है उपचार ।
नारि-विरह की व्यथा, दूर करता है स्वयं नारि का प्यार ।। २ ।।

रोगों की दवा तो उनसे अलग पदार्थ होती है, परन्तु यह सुन्दरी अपने (विरह के कारण उत्पन्न) रोगों का उपचार स्वयं ही है ! [ऐसा कभी नहीं होता कि जो चीज रोग का कारण हो वही उपचार का साधन भी हो, परन्तु यह सुन्दरी मेरे रोगों का कारण है और उपचार का साधन भी !] ।। २ ।।

ताम्वीऴ्वार् मॆन्रोळ् तुयिलिन् इनिदुकॊल्
तामरैक् कण्णान् उलहु ।। ३ ।।

बाहु-प्रियतमा के बन्धन में, सुख देती है नींद अपार ।
कमलनयन के रम्यलोक में ऐसा सुलभ कहाँ सुख-सार[3] ।। ३ ।।

अपनी प्रियतमा के कोमल कंधों की शय्या पर सोते हुए जो सुख प्राप्त होता है, क्या कमलनयन (संभवतः इन्द्र ?) के लोक में वह रमणी-यता है ? ।। ३ ।।

नीङ्गिन् तॆऱूउम् कुरुकुङ्काल् तण्णॆन्नुम्
तीयाण्डुप् पॆट्राळ् इवळ् ।। ४ ।।

---

१ कान, नेत्र, जिह्वा, नासिका और त्वचा, इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला सुख २ रोग ३ सुख का परम तत्व, अद्भुत सुख ।

है समीप तो शीतलता; यदि विलग हुई तो उपजी दाह[1]।
अग्नि प्रेयसी[2] की कैसी ? विपरीत-अग्नि[3] का अजब प्रवाह ।। ४ ।।

दूर हटो तो ताप देती है और पास जाओ तो शीतलता प्राप्त होती है, इस प्रकार की विपरीत गुणवाली अग्नि रूपी यह बाला कहाँ से आ गई ? [क्योंकि अग्नि का तो वास्तविक गुण है कि समीप होने पर जलाती है, और दूर होने पर जलन दूर होती है।] ।। ४ ।।

वेट्ट पॊऴुदिऩ् अवैयवै पोलुमे
तोट्टार् कदुप्पिऩाळ् तोळ् ।। ५ ।।

सुमन-सज्जिता सुकेशिनी[4] की बाहु अनन्त सुखों की खान।
बाहुपाश में सुलभ सकल सुख जिनका उर[5] में जब-जब ध्यान ।। ५ ।।

पुष्पों से सज्जित केशवाली (अर्थात् जिन पर लहरा रहे हैं ऐसी) इसकी बाहु, चाहे किसी भी वस्तु के सुख की इच्छा की जाये, उन्हीं-उन्हीं वस्तुओं की तरह आनन्द प्रदान करती हैं ।। ५ ।।

उऱुदो ऱुयिर्तळिर्प्पत् तीण्डलार् पेदैक्कु
अमिऴ्तिऩ् इयऩ्ऱऩ तोळ् ।। ६ ।।

सरल प्रियतमा की सुन्दर अमरित[6] से निर्मित भुजा अनन्य।
पाशबद्ध से नित्य नये स्पन्दन[7] से होता हूँ धन्य ।। ६ ।।

जब-जब इन (कंधों) से जुड़ता हूँ, तब-तब मुझमें नवजीवन का स्पन्दन होता है, (अवश्य ही) इस (बाला) के स्कन्ध अमृत से बनाये गये होंगे ।। ६ ।।

तम्मिल् इरुन्दु तमदुपात्तु उण्डट्ऱाल्
अम्मा अरिवै मुयक्कु ।। ७ ।।

अहा ! सलोनी[8] के आलिङ्गन में कितना सुख ! कितना प्यार !।
निज पूँजी को बाँट, बिलसता मानो व्यक्ति, सहित परिवार ।। ७ ।।

सुन्दर, साँवले रंग की इस बाला का आलिंगन, अपने घर में बैठकर, स्वयं-अर्जित वस्तु को सारे परिवार में बाँटकर उसका उपभोग करने के समान (आत्मा को परितृप्ति प्रदान करनेवाला) है ! ।। ७ ।।

वीऴुम् इरुवर्क्कु इऩिदे वळियिडै
पोऴप् पडाअ मुयक्कु ।। ८ ।।

---

१ जलन २ प्रियतमा ३ उलटी अग्नि ४ फूलों से सजी सुन्दर केशोंवाली ५ हृदय ६ अमृत ७ स्पन्दन, स्फुरण ८ लावण्यमयी।

आलिङ्गन में बद्ध, अंग में अंग, न तिल भर रहती साँस[1]।
ऐसे पाशबन्ध में अतुलित युगल-प्रेमियों का उल्लास ॥ ८ ॥

बीच में से वायु तक को गमन का स्थान न मिल सके, इस प्रकार का गाढ़ आलिंगन प्रेमी-युगलों को आनन्द देता है ॥ ८ ॥

ऊडल् उणर्दल् पुणर्दल् इवैकामम्
कूडियार् पॆट्ऱ पयऩ् ॥ ९ ॥

कभी रूठना, कभी मनाना, फिर मिलना, अटूट संयोग।
प्रेम-ग्रस्त दो प्रेम-हृदय के नित के ये स्वर्णिम[2] सुखभोग ॥ ९ ॥

मान करना, मनाना, मिलन, ये सब, प्रेम में पड़े हुए दोनो व्यक्तियों (प्रेमी-प्रेमिकाओं) को प्राप्त होनेवाले आनन्दलाभ हैं ॥ ९ ॥

अऱिदो ऱऱियामै कण्डट्ऱाल् कामम्
शॆऱिदोऱुम् शेयिऴै माट्टु ॥ १० ॥

ज्ञान-वृद्धि से अज्ञानी में बढ़ती अधिक ज्ञान की चाह।
मिलन-प्रियतमा उपजाता है पुर्नमिलन की चाह अथाह ॥ १० ॥

जिस प्रकार ज्यों-ज्यों ज्ञान की प्राप्ति होती है, त्यों-त्यों (पूर्व के) अज्ञान का बोध होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों रक्तिम-आभूषणवाली इस बाला से मिलता जाता हूँ, त्यों-त्यों प्रणय की अनुभूति बढ़ती जाती है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११२

नलम्बुऩैन्दुरैत्तल् (सौन्दर्य-वर्णन)

[नायक द्वारा नायिका के सौन्दर्य का वर्णन]

नऩ्ऩीरै वाऴि अऩिच्चमे निऩ्ऩिऩुम्
मॆन्ऩीरळ् याम्वीऴ् बवळ् ॥ १ ॥

फूलो-फलो अनिच्च[3] ! तुम्हारी तुलना में न सुमन-संसार।
किन्तु सुकोमल ! मेरी प्यारी तुमसे कहीं अधिक सुकुमार ॥ १ ॥

रे अनिच्च पुष्प, चिरंजीव रहो ! अपनी कोमलता के कारण तुम (सभी पुष्पों में) अनन्य हो, किन्तु मेरी प्रियतमा तुमसे भी अधिक कोमल है ! ॥ १ ॥

---

१ हवा जाने भर की गुंजाइश २ सुनहले ३ एक अति कोमल सुन्दर फूल।

मलर्काणिऩ् मैयात्ति नॆञ्जे इवळ्कण्
पलर्काणुम् पूवॊक्कुम् ऎऩ्ऱु ।। २ ।।

फूलों पर सब मुग्ध ! इसलिए फूल-सदृश प्यारी के नैन !
मिथ्या भ्रम है, प्रिया-नैन सुमनों से कहीं अधिक सुखदैन[1] ।। २ ।।

हे मन ! इसकी आँखें बहुतों द्वारा देखे जानेवाले पुष्पों के समान हैं, यों मानकर (उनके समान) पुष्पों को देखकर तुम व्यर्थ ही भ्रमित हो रहे हो ! [इस प्रियतमा के नेत्र उन जैसे नहीं हैं; ये तो विशिष्ट हैं ।] ।। २ ।।

मुऱिमेऩि मुत्तम् मुऱुवल् वॆऱिनाट्ऱम्
वेलुण्कण् वेय्त्तो ळवट्कु ।। ३ ।।

बाँसों जैसी लचक, दाँत मोती से, तन से सुरभि-प्रवाह[2] ।
नयन कटीले-बर्छीले, प्रिय कमनीया का रूप अथाह ।। ३ ।।

बाँस के समान (लचीले) स्कंधवाली इस बाला का पल्लव ही तन है, मोती ही दांत हैं; प्राकृतिक सुगंध ही गंध है, बर्छी ही जैसे कजरारे नेत्र हैं ।। ३ ।।

काणिऱ् कुवळै कविऴ्न्दु निलऩोक्कुम्
माणिऴै कण्णॊव्वेम् ऎऩ्ऱु ।। ४ ।।

कमल, नयन जैसे सुरम्य, फिर नयन-दृष्टि से हों सम्पन्न ।
नयन-प्रियतमा की तुलना में तदपि[3] रहेंगे सदा विपन्न ।। ४ ।।

कुवलय-पुष्पों को यदि देखने की शक्ति प्राप्त हो जाये तो 'हाय, हम इसकी आँखों की बराबरी नहीं कर सके !' यह सोचकर वे (लज्जा से) भूमि की ओर सिर झुका लेंगे ! ।। ४ ।।

अनिच्चप्पूक् कालकळैयाळ् पॆय्दाळ् नुशुप्पिऱ्कु
नल्ल पडाअ पऱै ।। ५ ।।

डण्ठल सहित 'अनिच्च' सुमन से सजी, किन्तु डण्ठल का भार ।
असहनीय उस मृदुल व्यथा को भी न प्रेयसी सकी सम्हार ।। ५ ।।

[इसने अपनी कोमलता का ध्यान रखे बिना ही] बिना डण्ठल निकाले ही अनिच्च पुष्पों को धारण किया; [उनके भार से] पीड़ित इसकी कटि के लिए अब मंगलवाद्य-वृन्द नहीं बजेंगे ! [अर्थात् वृन्तयुक्त पुष्पों के भार से इसकी कटि इतनी पीड़ित हो गई कि जैसे वह टूट ही गई, निर्जीव हो गई, और जैसे किसी की मृत्यु के शोक में मंगल वाद्य-वृन्दों का बजना बन्द कर दिया जाता है, वैसे ही इसकी कटि के शोक में अब मंगल-वाद्य-वृन्द नहीं बजेंगे ।] ।। ५ ।।

---

१ सुख देनेवाले   २ सुगन्ध उड़ती है   ३ फिर भी ।

मदियुम् मडन्दै मुहत्तुम् अऱिया
पदियिऱ् कलङ्गिय मीन् ।। ६ ।।

गगन-इन्दु या इन्दुमुखी[1] का मुख—है कौन वस्तुतः चन्द ?
रहे झिलमिला भ्रमित गगन में भौचक्के से तारकवृन्द[2] ।। ६ ।।

आकाश के नक्षत्रगण, चन्द्रमा तथा इसके मुखमंडल (अर्थात् वस्तुतः कौन चन्द्रमा है,) का अन्तर समझ न सकने के कारण अपनी कक्षा में स्थिर न रहकर विचलित हो उठे हैं ! (झिलमिला रहे हैं ।) ।। ६ ।।

अऱुवाय् निऱैन्द अविर्मदिक्कुप् पोल
मऱुवुण्डो मादर् मुहत्तु ।। ७ ।।

घटते-बढ़ते नित्य कलाधर[3] में धब्बे हैं अमित कलंक ।
किन्तु प्रिया का चन्द्रबदन[4] सर्वथा शुभ्र[5] निर्मल अकलंक ।। ७ ।।

क्षय हुये स्थानों की (कलाओं की) धीरे-धीरे पूर्ति करते हुए शोभायमान इस चन्द्रमा के समान क्या इस नारी के मुख पर कलंक है ? नहीं तो ! ।। ७ ।।

मादर् मुहम्बोल् ऑळिविड वल्लैयेल्
कादलै वाऴि मदि ।। ८ ।।

चन्द्रमुखी के सदृश चमकने की यदि चन्द्र ! तुम्हें है शक्ति ।
तब सम्भव है, प्रिया-सदृश तुम पर भी मेरी हो आसक्ति ।। ८ ।।

हे चंद्र ! इस ललना के मुख के समान यदि तुम भासमान हो सकोगे तो तुम भी उसी की तरह मेरे प्रेम को प्राप्त कर सकोगे ! ।। ८ ।।

मलरन्न कण्णाळ् मुहमॊत्ति यायिन्
पलर्काणत् तोन्ऱल् मदि ।। ९ ।।

सुमननयन ललना के प्रति यदि, मन में इस्पर्धा[6] का वास ।
छोड़ जगत् को, एकमात्र मुझ पर बरसाओ दिव्य प्रकाश ।। ९ ।।

हे चन्द्र ! इस (ललना) के सुमन-नयनवाले मुख के सदृश यदि तुम होना चाहते हो तो सबके सामने इस प्रकार मत चमको ! (सबकी ओर मत देखो, केवल मुझे देखो) ।। ९ ।।

अनिच्चमुम् अन्नत्तिन् तूवियुम् मादर्
अडिक्कु नॆरुञ्जिप् पऴम् ।। १० ।।

---

१ चन्द्रमुखी २ नक्षत्रगण ३ चन्द्रमा ४ चन्द्रमा के समान मुख ५ देदीप्यमान, उज्ज्वल ६ स्पर्धा, प्रतिद्वंद्विता ।

सुमन अनिच्च, पंख हंसों के, अति कोमल, अतीव सुकुमार।
शूल-सरिस[१] हैं, नहीं प्रेयसी के मृदु-चरणों की अनुहार[२] ॥ १० ॥

अनिच्च का फूल और हंस के पंख, ये सब, (इस) बाला के मृदु चरणों की तुलना में गोखरू-शूल के समान हैं ! ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११३

कादऱ् शिऱप्पुरैत्तल् (प्रेम-का असीम उद्गार)

[इसमें नायक तथा नायिका अपने-अपने प्रेम को एक-दूसरे के प्रेम से अधिक प्रगाढ़ मानते हैं।]

पालॊडु तेऩ्कलन् दट्रे पणिमॊऴि
वालॆयिऱु ऊऱिय नीर् ॥ १ ॥ (नायक स्वगत)

मृदुभाषिणि की दन्तावलि से निस्रित[३] रस का अनुपम स्वाद।
दुग्ध और मधु-मिश्रण के अनुरूप हुई मानो मर्याद ॥ १ ॥

इस मृदुभाषिणी के दाँतों में निसृत जल, दूध में मधु मिश्रित कर दिया गया हो, यों लगता है ! ॥ १ ॥

उडम्बॊडु उयिरिडै ऎऩ्ऩमट्ऱु अऩ्ऩ
मडन्दैयॊडु ऎम्मिडै नट्पु ॥ २ ॥ (नायक स्वगत)

देह-प्राण जैसे अभिन्न हैं, एक दूसरे का आधार।
उसी भाँति मैं और प्रियतमा मेरी, दोनो एकाकार[४] ॥ २ ॥

देह और प्राण में जैसा सम्बन्ध होता है, इस ललना का और मेरा सम्बन्ध वैसा ही है ॥ २ ॥

करुमणियिऱ् पावाय्नी पोदायाम् वीऴुम्
तिरुनुदऱ्कु इल्लै इडम् ॥ ३ ॥ (नायक स्वगत)

नयनों को तज नयनपुत्तली कर दे रिक्त[५] नयन-अस्थान[६]।
नतरु[७] कहाँ आसन पायेगी, मेरी भृकुटि-बिलासिनि प्रान ॥ ३ ॥

हे मेरी आँखों की पुतली में बसी पुतली ! तू चली जा; (वरना) सुन्दर ललाटवाली मेरी प्रियतमा को बिठाने के लिए मेरी आँखों में जगह कहाँ रहेगी ? ॥ ३ ॥

---

१ काँटों के समान २ तुल्य, समान ३ निसृत, निकली हुई (लार) ४ अभिन्न ५ खाली ६ स्थान ७ नहीं तो, अन्यथा।

वाऴ्दल् उयिर्क्कन्नळ् आयिऴै शादल्
अदर्कन्नळ् नीङ्गु मिडत्तु ॥ ४ ॥ (नायक स्वगत)

रत्नप्रिया का सुखद मिलन देता है तन को जीवनदान।
रत्नसुन्दरी के वियोग में हो जाता हूँ मृतक-समान ॥ ४ ॥

उपयुक्त आभूषणों से सजी यह बाला मिलन-काल में देह के लिए प्राण के समान है और वियोग-काल में मृत्यु के समान है ! ॥ ४ ॥

उळ्ळुवन् मन्यान् मऱप्पिन् मऱप्पऱियेन्
ऑळ्ळमर्क् कण्णाळ् कुणम् ॥ ५ ॥ (नायक)

पुनः इस्मरण[1] कर लूँगा, यदि विस्मृति[2] का हो गया शिकार।
किन्तु याद से कभी न होगा दूर वक्रनयनी[3] का प्यार ॥ ५ ॥

कँटीली आँखोंवाली इस बाला के सौन्दर्य को यदि मैं भूल जाऊँ (तभी) तो फिर से स्मरण कर सकूँगा; परन्तु मैं तो उसे कभी भूल ही नहीं सका ! ॥ ५ ॥

कण्णुळ्ळिऱ् पोहार् इमैप्पिऱ् परुवरार्
नुण्णियरम् काद लवर् ॥ ६ ॥ (नायिका स्वगत)

विलग न नयनों से होंगे प्रिय; नयन-पटल यदि कर लूँ बन्द।
ढँके नयन में सूक्ष्म रूप प्रियतम का लेगा सुखदानन्द ॥ ६ ॥

मेरे प्रिय मेरी आँखों से निकलकर कहीं नहीं जायेंगे। मैं यदि पलकों को मूँदकर झपकी लूँ तो भी उन्हें ज़रा भी दुख नहीं पहुँचेगा, वे इतने सूक्ष्म-प्राण हैं ! ॥ ६ ॥

कण्णुळ्ळार् काद लवराहक् कण्णुम्
ऍऴुदेम् करप्पाक् कऱिन्दु ॥ ७ ॥ (नायिका स्वगत)

कहीं न प्रियतम ढँक जायें, प्रिय का नयनों में रहता वास।
इस भय से दृग नहीं आँजती, प्रिय का निर्मल रहे निवास ॥ ७ ॥

आँखों में प्रिय बसते हैं, यह सोचकर मैं आँखों में अंजन नहीं आँजतीं कि अंजन लगाने से कहीं वे छिप न जायें ! ॥ ७ ॥

नॆञ्जत्तार् काद लवराह वॆय्दुण्डल्
अञ्जुदुम् वेपाक् कऱिन्दु ॥ ८ ॥ (नायिका स्वगत)

---

१ स्मरण २ भूल जाना ३ कँटीली तिरछे नयनवाली सुन्दरी।

उर में मेरे प्रिय बसते हैं, कहीं न उनको हो सन्ताप ! ।
उष्ण पदार्थ न सेवन करती, कहीं न उपजे प्रिय को ताप ॥ ८ ॥

हृदय में प्रिय बसते हैं, यह सोचकर मैं उष्ण पदार्थ नहीं खाती, कि उष्ण पदार्थ खाने से कहीं उन्हें ताप न लग जाये ! ॥ ८ ॥

इमैप्पिऱ् करप्पाक् कऱिवल् अनैत्तिऱ्के
एदिलर् ऍन्नुमिव् वूर् ॥ ९ ॥ (नायिका स्वगत)

प्रिय की छबि न दूर हो जाये, शंकित[1] रखती नयन उघार[2] ।
इसीलिए सुखनींद-चोर, हिय-हीन, उन्हें कहता संसार ॥ ९ ॥

मुझे पता है कि आँखों के झपकने से (हृदय-स्थित) प्रिय अदृश्य हो जायेंगे इसलिए मैं आँखें नहीं झपकने देती, पर इसी बात से पुरजन उन्हें (मेरी नींद को चुरानेवाला) हृदयविहीन व्यक्ति कहेंगे ! ॥ ९ ॥

उवन्दुऱैवर् उळ्ळत्तुळ् ऍन्ऱुम् इहन्दुऱैवर्
एदिलर् ऍन्नुमिव् वूर् ॥ १० ॥ (नायिका स्वगत)

मन-मन्दिर में प्रिय बसते हैं, किन्तु लोग हैं निपट अजान ।
दूर समझ कर, विलग समझ कर, कहते प्रिय को[3] हिय-पाषान[4] ॥ १० ॥

मेरे प्रिय सर्वदा मेरे मन में आनन्दपूर्वक रहते हैं; पर उससे (उनको मेरे समीप न देखकर) ये अनभिज्ञ पुरजन "वियुक्त रहते हैं, प्रेम-विहीन हैं," यों उन पर आरोप लगाते हैं ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११४

नाणुत्तुऱवुरैत्तल् (लज्जा-अतिक्रमण)

कामम् उऴन्दु वरुन्दिनार्क् केमम्
मडलल्लदु इल्लै वलि ॥ १ ॥ (नायक)

किया प्रेमरस-पान, न फिर प्रेमिका-मिलन का संभव योग ।
'मडल्-सवारी'[5] ही संबल[6] है, द्रवित[7] प्रिया से हो संयोग ॥ १ ॥

---

१ शंका में भरी २ आँखें खुली हुई (बिना सोये) ३ प्रियतम को ४ कठोर हृदयवाला ५ एक प्राचीन प्रथा के अनुसार अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने की प्रार्थना करने के लिए प्रेमी ताड़ के पत्तों से बने घोड़े की सवारी करता और प्रेमगीत गाता चलता था जिसे 'मडलूर्दल्' कहा जाता था : उस चुभनेवाली कष्टदायी और उपहासास्पद सवारी के दुःख को देखकर शायद प्रेमिका पसीज जाये ! ६ सहारा ७ दया से पिघल कर ।

प्रेम-रस चख चुकने के पश्चात् (प्रेमिका के न मिलने में) जिन्हें वेदना सहनी पड़ती है, उनके लिए 'मडल्' के अतिरिक्त सबल सहायक और कुछ नहीं होता ! ॥ १ ॥

नोऩा उडम्बुम् उयिरुम् मडलेरुम्
नाणिऩै नीक्कि निऱुत्तु ॥ २ ॥ (नायक)

प्रिया-वियोग दुसह से तन-मन की पीड़ा का वार न पार ।
लोक-लाज को दे तिलाञ्जलि विवश 'मडल्' पर हुआ सवार ॥ २ ॥

प्रेमिका के वियोग से उत्पन्न दुःख के ताप को सहने में असमर्थ मेरे देह तथा प्राण, लज्जा को त्याग कर 'मडल्' पर चढ़ने को तत्पर हुए ॥ २ ॥

नाणॊडु नल्लाण्मै पण्डुडैयेऩ् इऩ्ऱुडैयेऩ्
कामुट्ऱार् एऱुम् मडल् ॥ ३ ॥ (नायक)

सहज मानवी लज्जा भी थी, था मुझमें दृढ़ धैर्य अपार ।
प्रीति-प्रेमिका से सब खोकर 'मडल्' मात्र पर आज सवार ॥ ३ ॥

पहले मेरे पास लज्जा तथा दृढ़ धैर्य था; जबकि आज (प्रेमिका से वियोग की स्थिति में) प्रेमी-जन जिस पर चढ़ते हैं, वह 'मडल्' ही मेरे पास शेष रह गया है ! ॥ ३ ॥

कामक् कडुम्बुऩल् उय्क्कुमे नाणॊडु
नल्लाण्मै अॆऩ्ऩुम् पुणै ॥ ४ ॥ (नायक)

झंझावात प्रेम का उमड़ा ज़ोर-शोर का वह तूफ़ान ।
लज्जा का लवलेश न बाकी, धीरज सब कर गया पयान ॥ ४ ॥

'लज्जा' तथा 'दृढ़ धैर्य' इन नौकाओं को, 'प्रेम' नामक प्रचंड प्रवाह मेरे पास से बहा ले गया ॥ ४ ॥

तॊडलैक् कुऱुन्तॊडि तन्दाळ् मडलॊडु
मालै उऴक्कुम् तुयर् ॥ ५ ॥ (नायक)

'मडल्', और सन्ध्या-बिछोह, बस यही मात्र दो दुःख अपार ।
कुसुम-वलय-सुकुमारी-कर[1] से मिले यही दो अनुपम हार[2] ॥ ५ ॥

'मडल्' चढ़ने के (दुःख के) साथ ही साथ संध्याकाल का विरह-दुःख भी, फूलों के सदृश चूड़ियाँ पहने हुई उस बाला ने मुझे ये दो हार दिये ॥ ५ ॥

---

१ फूलों के कंगन से सजी प्रिया के हाथों से २ मालाएँ।

मडलूर्दल्   यामत्तुम्   उळ्ळुवेन्   मऩ्ऱ
पडलॊल्ला   पेदैक्कॆन्   कण ।। ६ ।।   (नायक)

प्रिया-विरह में नयन तरसते हैं झपकी[1] को आधी रात।
निशि में भी छायी रहती है मन पर सदा 'मडल्' की बात ।। ६ ।।

मडल् चढ़ने के बारे में आधी रात को भी मैं सोचता रहता हूँ; प्रिया के विरह में मेरी आँखें सो नहीं पातीं ।। ६ ।।

कडलऩ्ऩ   कामम्   उऴन्दुम्   मडलेऱाप्
पॆण्णिऩ्   पॆरुन्तक्क   दिल् ।। ७ ।।   (नायक)

प्रेम-सिन्धु में मगन[2] प्रिया का संयम धन्य! न होती पार।
सहज 'मडल्' का नहीं सहारा लेती; सहती दुःख अपार ।। ७ ।।

काम-वेदना के समुद्र में डूबी रहती है और फिर भी मडल् नहीं चढ़ती, (अर्थात् पुरुष की भाँति उसको 'मडल्' का संतोष भी सुलभ नहीं होता और दुख को मौन सहती है) उस स्त्री-जन्म से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ।। ७ ।।

निऱैयरियर्   मऩ्ऩळियर्   ऎऩ्ऩादु   कामम्
मऱैयिऱन्दु   मऩ्ऱु   पडुम् ।। ८ ।।   (नायिका स्वगत)

'नारि संयमी सुकुमारी हैं', तरस न फिर भी खाती प्रीति।
उर में छिपी न रह, जग-जाहिर होती, यही प्रीति की रीति ।। ८ ।।

नारी संयम से रहती है और करुणा का पात्र होती है, यह न सोच कर, छिपा न रह कर (निर्दयी) काम (सबके सम्मुख) प्रकट हो ही जाता है ! ।। ८ ।।

अऱिहिलार्   ऎल्लारुम्   ऎऩ्ऱेयॆऩ्   कामम्
मऱुहिऩ्   मऱुहुम्   मरुण्डु ।। ९ ।।   (नायिका स्वगत)

मन की प्रीति छिपी मन में, कोई न जानता, ऐसा भान[3]।
गली-गली में किन्तु छलकती, छिपी न रहती, सब को ज्ञान ।। ९ ।।

(मेरे मौन रहने के कारण) 'कोई नहीं जानता' यों मान कर मेरा प्रेम वीथियों में फैलकर मस्ती में भटक रहा है ! [मेरे चुप रह जाने पर भी मेरा प्रेम गली-गली में चर्चा का विषय वना हुआ है।] ।। ९ ।।

याम्कण्णिऩ्   काण   नहुप   अऱिविल्लार्
याम्पट्ट   ताम्पडा   वाऱु ।। १० ।।   (नायिका स्वगत)

---

१ नींद से आँख बन्द हो जाना   २ डूब रही   ३ समझ में आता है।

मेरे ही सामने, मुझी पर हँसते रहते हैं मतिमन्द[1]।
क्योंकि न स्वाद, न जाना कैसा प्रेम-व्यथा का अन्तर्द्वन्द[2] ॥ १० ॥

बुद्धिहीन लोग मेरे देखते (मेरी स्थिति पर) हँसते हैं, क्योंकि मैं जिस पीड़ा को भोग चुकी हूँ उसका उन्हें अनुभव नहीं है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११५

अलरऱिवुरुत्तल् (प्रवाद-कथन)

अलरॆऴ आरुयिर् निऱ्कुम् अदऩैप्
पलरऱियार् पाक्कियत् ताल् ॥ १ ॥ (नायक स्वगत)

अहा! प्रेम-मेरे की चर्चा सुनकर उर में आते प्रान।
यह भी है सौभाग्य, प्रेम का है सर्वत्र न सबको ज्ञान ॥ १ ॥

मेरे प्रेम के सम्बन्ध में चर्चा है, इससे मेरे प्राण टिके हुए हैं; किन्तु यह सौभाग्य है कि यह प्रवाद, यह चर्चा, सब ओर गर्म नहीं है ॥ १ ॥

मलरऩ्ऩ कण्णाळ् अरुमै अऱियादु
अलरॆमक्कु ईन्ददिव् वूर् ॥ २ ॥ (नायक स्वगत)

कुसुम सुनयना[3] दुर्लभ मुझको, इसका तनिक न उनको ज्ञान।
प्रेम हमारे[4] की चर्चा कर लोग मुझे करते सुखदान ॥ २ ॥

फूलों जैसी आँखोंवाली इस बाला की दुर्लभता को न जान कर (यह न ध्यान देकर कि वह तो मुझे दुर्लभ है) लोगों ने प्रवाद खड़ा कर के मेरी सहायता ही की है [अर्थात् मुझे न मिल सकनेवाले सुख की अनुभूति दे दी है] ॥ २ ॥

उऱाअदो ऊरऱिन्द कौवै अदऩैप्
पॆऱाअदु पॆट्ऱऩ्ऩ नीर्त्तु ॥ ३ ॥ (नायक स्वगत)

सुखद न मुझको क्या, बस्ती में सुन अलभ्य[5] का प्रेम-प्रवाद[6] ?
दुर्लभ की चर्चा सुनकर, पाता हूँ मानो मिलन-प्रसाद[7] ॥ ३ ॥

सभी पुरजनों को ज्ञात प्रवाद क्या मेरे लिए उपयुक्त नहीं है ? वह प्रवाद तो मेरे लिए वैसा ही लाभदायक है जैसे कोई अप्राप्य वस्तु प्राप्त हो गई हो ! [दुर्लभ वस्तु के सुलभ हो जाने-जैसा सुख प्राप्त करा दिया हो।] ॥ ३ ॥

---

१ मूर्ख २ मन की उथल-पुथल ३ फूलों जैसे नेत्रवाली रमणी ४ मेरे और उसके ५ न मिल सकनेवाली ६ प्रेम-चर्चा ७ (न मिलनेवाली के) मिल जाने का आनन्द ।

कव्वैयाऱ् कव्विदु कामम् अदुविन्ऱेल्
तव्वेन्ऩुम् तऩ्मै इऴन्दु ।। ४ ।। (नायक स्वगत)

लोगों की चर्चा से निश्चित बढ़ती है नित प्रेम-तरंग।
चर्चा नहीं, प्रेम का दिन-दिन स्वाभाविक है फीका रंग ।। ४ ।।

(मेरा) प्रेम, पुरजनों के प्रवाद से और बढ़ ही गया है; अन्यथा वह अपने गुण-नाम को खोकर घट ही जाता ।। ४ ।।

कळित्तोऱुम् काळ्ळुण्डल् वेट्टट्ऱाऱ् कामम्
वेळिप्पडुन् तोऱुम् इऩिदु ।। ५ ।। (नायक स्वगत)

ज्यों-ज्यों पीते सुरा, सुरुचि बढ़ती है, करें अधिक मधुपान।
ज्यों-ज्यों प्रेम-प्रवाद फैलता, बढ़ता है आनन्द महान ।। ५ ।।

शराब पीकर मस्त होते-होते शराब और भी प्रिय लगती जाती है, उसी प्रकार प्रवाद के कारण प्रेम, बाहर प्रकट होते-होते और भी प्रिय होता जाता है ।। ५ ।।

कण्डदु मऩ्ऩुम् ओरुनाळ् अलर्मन्ऩुम्
तिङ्गळैप् पाम्बुकोण् डट्ऱु ।। ६ ।। (नायिका स्वगत)

प्रिय के दर्शन एक बार, मच गया किन्तु चौतरफ़ा शोर[1]।
गगन-सर्प से ग्रसित चन्द्र[2] से मानो तम छाया घनघोर ।। ६ ।।

प्रिय को मैंने देखा एक ही बार है; पर उससे व्याप्त प्रवाद तो ऐसा है मानो चद्रमा को सर्प ने ग्रस लिया हो ! ।। ६ ।।

ऊरवर् कौवै ऎरुवाह अऩ्ऩैशोल्
नीराह नीळुमिन् नोय् ।। ७ ।। (नायिका स्वगत)

जन-प्रवाद[3] की खाद, मातु के कटुवचनों का पाकर नीर।
दिन-दिन प्रेम-विटप बढ़ता, बढ़ती है अधिक प्रेम की पीर[4] ।। ७ ।।

यह काम-रोग, पुरजनों के प्रवाद-रूप खाद को पाकर और माँ के कटु-वचनों-रूपी नीर को पाकर परिपुष्ट होकर बढ़ रहा है ।। ७ ।।

नेय्याल् ऎरिनुदुप्पेम् ऎन्ऱट्ऱाल् कौवैयाऱ्
कामम् नुदुप्पेम् ऎन्नल् ।। ८ ।। (नायिका स्वगत)

शान्त न होगी प्रेम-पीर, कितना भी हो निन्दा-अपवाद।
घृत के सिञ्चन से कब सम्भव शमन[5] हो सके अग्नि-प्रमाद[6] ।। ८ ।।

---

१ ज़ोरों की चर्चा (प्रवाद)   २ पुरानी कथाओं में चर्चा है कि चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर नभमण्डल का सर्प चन्द्रमा को ग्रस लेता है   ३ लोक-चर्चा   ४ प्रेम-पीड़ा   ५ शान्त   ६ अग्नि की तेज़ी।

अपवाद फैलाकर प्रेम का शमन (कर डालेंगे यह सोचना) ऐसा ही है जैसे घी डालकर अग्नि का शमन कर डालेंगे, यह सोचना ।। ८ ।।

अलर्नाण ऑल्वदो अञ्जलोम् पॆत्ऱार्
पलर्नाण नीत्तक् कडै ।। ९ ।। (नायिका स्वगत)

'अभय प्रेम' देकर प्रिय ने, तज लाज, मुझे जब दिया बिसार[1] ।
अब काहे की लाज मुझे, यदि करे हँसाई[2] सब संसार ।। ९ ।।

'डरना नहीं', यों उस दिन मुझे अभय प्रदान करनेवाले प्रिय ने आज कई लोगों में लज्जित हो उठूँ, इस तरह मुझे त्याग दिया; तो फिर प्रवाद से भला लज्जित क्यों होऊँ ।। ९ ।।

ताम्वेण्डि नल्हुवर कादलर् याम्वेण्डुम्
कौवै ऍडुक्कुमिव् वूर् ।। १० ।। (नायिका स्वगत)

कळवियल् मुट्ऱिट्ऱु (गुप्त-संयोग समाप्त)

मुझको प्रिय से प्रेम —लोक में इस प्रवाद का खूब प्रचार ।
इस प्रवाद को सत्य करेंगे प्रिय ही कर मुझको स्वीकार ।। १० ।।

पुर अपनी इच्छानुसार प्रवाद का प्रचार कर रहा है; इसलिए अब प्रिय इच्छा करेंगे तो इच्छानुसार उसकी सहायता करेंगे ! [अर्थात् उस प्रवाद को सत्य कर दिखायेंगे ।] ।। १० ।।

कऱ्पियल् — (पातिव्रत्य)

अदिहारम् (अध्याय) ११६

पिरिवाट्ऱामै (विरह-वेदना)

शॊल्लामै उण्डेल् ऍनक्कुरै मट्ऱुनिन्
वल्वरवु वाळ्वार्क् कुरै ।। १ ।।

मुझसे तो बस कहो, न तज कर कभी करोगे मुझे पयान ।
'उचित भरोसा शीघ्र वापसी' उनको, जो रख सकते प्रान ।। १ ।।

अगर बिछुड़ कर न जाने की बात हो तो मुझसे कहो, अगर बिछुड़कर फिर शीघ्रता से लौट आने की बात हो तो उनसे कहो जो तब तक प्राणों को बनाये रखने की शक्ति रखते हों ! ।। १ ।।

---

१ त्याग दिया, भुला दिया २ उपहास, निन्दा ।

इऩ्कण् उडैत्तवर् पार्वल् पिरिवञ्जुम्
पुऩ्कण् उडैत्तार् पुणर्वु ॥ २ ॥

'मिलन-आस[1] में, प्रिय का दर्शन मात्र अतुल देता आनन्द।
मिलकर अब शंका वियोग की मिलन-सुख को करती मन्द[2] ॥ २ ॥

उनकी दृष्टि (मिलन-सुख की आशा में) पहले सुखदायक होती थी; अब उनका संयोग (भावी) विरह की आशंका से दुखदायी होता है ॥ २ ॥

अरिदरो तेट्ऱम् अऱिवुडैयार् कण्णुम्
पिरिवो रिडत्तुण्मै याऩ् ॥ ३ ॥

विरह-व्यथा मेरी से परिचित, फिर भी जो कर जाय पयान।
ऐसे निर्मोही की बातों को कैसे उर[3] में लूँ मान ॥ ३ ॥

प्रिय, विरह को सहन कर सकने की मेरी असमर्थता से भिज्ञ है; [और वे स्वयं कहते भी हैं कि वे मुझसे अलग नहीं होंगे], फिर भी विरह संभव हो जाता है, इसलिए उनकी बातों पर विश्वास कैसे करूँ ? ॥ ३ ॥

अळित्तञ्जल् ऎऩ्ऱवर् नीप्पिऩ् तॆळित्तशॊल्
तेऱियार्क् कुण्डो तवऱु ॥ ४ ॥

'विलग न होंगे कभी', प्रेम से जिसने दिया करुण आश्वास[4]।
क्या अपराध ? किया यदि मैंने ऐसे प्रियतम का विश्वास ॥ ४ ॥

करुणापूर्ण हो, 'भय न करो' यों कहनेवाले नाथ ही विछुड़ कर चले जायें, तो उनके अभय वचनों पर विश्वास कर लेना क्या मेरा दोष कहा जा सकता है ? ॥ ४ ॥

ओम्बिऩ् अमैन्दार् पिरिवोम्बल् मट्ऱवर्
नीङ्गिऩ् अरिदार् पुणर्वु ॥ ५ ॥

ऐसा करो न बिछुड़ें प्रियतम, अगर बचाना मेरे प्रान।
विलग हुए तो मिलन असंभव, फिर जीवन होगा निष्प्रान ॥ ५ ॥

बचाना है तो प्रिय के विरह से मुझको बचाना चाहिये; वे साथ छोड़कर चले जायेंगे तो फिर से मिलना संभव नहीं होगा ॥ ५ ॥

पिरिवुरैक्कुम् वऩ्कण्णर् आयिऩ् अरिदवर्
नल्हुवर् ऎऩ्ऩुम् नशै ॥ ६ ॥

---

१ प्रिय-मिलन की आशा २ क्षीण ३ हृदय में ४ भरोसा, ढांढस।

निर्मम-हिय[1] प्रिय को न हिचक, क्षण में जब चाहें करें प्रवास[2] ।
कब आयें ? फिर प्रेम करेंगे ? इस करुणा का क्या विश्वास ।। ६ ।।

यदि वे इतने पाषाण-हृदय हैं कि अपने विदा की बात कह सकते हैं, तो फिर वापस लौटकर वे प्रेम करेंगे, इसकी आशा कैसे की जाय ? ।। ६ ।।

तुऱैवन् वुऱन्दमै तूट्ऱाकॊल् मुन्कै
इऱैइऱवा निन्ऱ वळै ।। ७ ।।

प्रिय-विछोह[3] में क्षीण कलाई से विचलित कंगन का दृश्य ।
'प्रिय-त्यक्ता हूँ'— फैल जायगा जग में यह उपहास अवश्य ।। ७ ।।

[वियोग-व्यथ से क्षीण हो जाने के कारण] कलाई से गिर रही मेरी चूड़ियाँ, 'नायक ने मुझे छोड़कर गमन किया', यह बात सब लोगों में फैलाकर क्या (उनकी) निन्दा नहीं करवायेगी ? ।। ७ ।।

इन्ऩादु इन्ऩ्इल्लूर् वाळ्दल् अदनिऩुम्
इन्ऩादु इऩियार्प् पिरिवु ।। ८ ।।

परिजन-स्वजन न हों जिस थल में, उस निवास में दुःख महान ।
प्रियतम का वियोग—विरहानल[4] कहीं अधिक है दुख की खान ।। ८ ।।

जहाँ प्रेम करनेवाले स्वजन न हों, उस पुर में रहना दुखदायी है; किन्तु अपने प्रिय का विरह तो उससे भी अधिक दुखदायी है ।। ८ ।।

तॊडिऱ्चुडिन् अल्लदु कामनोय् पोल
विडिऱ्चुडल् आट्रुमो ती ।। ९ ।।

जलता अंग तभी, जब हम सन्निकट रहें या छूलें अग्नि ।
किन्तु दूर रह कर दहकायेगी क्या सदृश यथा प्रेमाग्नि ? ।। ९ ।।

अग्नि (उसे) छूने पर जला सकती है, पर क्या वह प्रेम की अग्नि की तरह पास से हट जाने पर जलाने में समर्थ हो सकती है ? ।। ९ ।।

अरिदाट्रि अल्लल्नोय् नीक्किय् पीरिवाट्रिप्
पिन्तिरुन्दु वाळ्वार् पलर् ।। १० ।।

कमी नहीं दुखियाओं की जग में सह रहीं अनन्त वियोग ।
दुसह व्यथा को सहकर जीवित भोग रही हैं दुःख-वियोग ।। १० ।।

वियोग में रहना असंभव हो, ऐसा वियोग पाकर भी, वियोग होते समय दुःख से व्याकुल होकर, वियोग की वेदना सहन कर प्राणों को बनाये रखनेवाली संसार में अनेक हैं ! [किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ । मैं स्थायी विरह में प्राण नहीं रख सकती ।] ।। १० ।।

---

१ कठोर-हृदय २ परदेश चले जाना ३ प्रिय के बिछुड़ने का संताप ४ प्रेम की आग के समान ।

अदिहारम् (अध्याय) ११७

पडर्मॆलिन्दिरङ्गल् (विरह से क्षीण नायिका की व्यथा)

मरैप्पेन्मन् यानिःदो नोयै इरैप्पवर्क्कु
ऊट्रुनीर् पोल मिहुम् ।। १ ।।

प्रेम व्याधि[१] ! वह बढ़ती ही जाती है जितना करो छिपाव ।
जितना उलचो, बढ़ता है सोते का ज्यों अनन्त जलस्राव[२] ।। १ ।।

इस (काम) रोग को मैं छिपाती हूँ; (पर यह) उलीचने पर बढ़ते जानेवाले जल-स्रोत की तरह बढ़ता ही जाता है ।। १ ।।

करत्तलुम् आट्रेनिन् नोयैनोय् शॆय्दार्क्कु
कुरैत्तलुम् नाणुत् तरुम् ।। २ ।।

प्रेम-रोग वह रोग, छिपाये छिपता नहीं, चौतरफ़ ज्ञान ।
लज्जा आती है, प्रियतम से किन्तु प्रीति का करें बखान ।। २ ।।

इस (काम) रोग को विना प्रकट किये, बिल्कुल गुप्त रखना भी मेरे बस में नहीं है, और इस रोग को उत्पन्न करनेवाले प्रिय से कहने में लज्जा भी आती है ।। २ ।।

काममुम् नाणुम् उयिर्कावात् तूङ्गुमॆन्
नोन्ना उडम्बिन् अहत्तु ।। ३ ।।

लाज प्रकट करने में, त्यों-त्यों बढ़ता प्रबल प्रेम का रोग ।
प्रेमक्षीण काया का चेतन भोग रहा दोनों में[३] भोग ।। ३ ।।

(वेदना से व्याकुल) मेरी क्षीण देह में स्थित प्राण को (पालकी का) हत्था बनाकर, कामरोग व लज्जा दोनों ओर लटक रहे हैं । [अर्थात् काम-वेदना और लज्जा दोनों के बीच मेरे प्राण डोल रहे हैं ।] ।। ३ ।।

कामक् कडलमन्नुम् उण्डे अदुनीन्दुम्
एमप् पुणैमन्नुम् इल् ।। ४ ।।

उमड़ रहा उन्माद-प्रेम चौतरफ़ प्रेम का पारावार[४] ।
किन्तु नहीं आधार-नाव, जिससे हों प्रेम-सिन्धु के पार ।। ४ ।।

काम-रोग का अपार समुद्र तो है, पर उसे पार करने में समर्थ नौका तो नहीं है ! ।। ४ ।।

---

१ प्रेम का रोग २ जल का सोता ३ लज्जा और प्रेम के वेग के बीच में ४ समुद्र ।

तुप्पिऩ् ऍवऩावर् मऱ्कॊल् तुयर्वरवु
नट्पिऩुळ् आट्रु बवर् ।। ५ ।।

प्रेमदेवता हैं प्रियतम, तब तो इतना मिलता है क्लेश।
वही हुए यदि शत्रु ! हाय ! देंगे तब कितना दुःख अशेष[1] ।। ५ ।।

सुखदायक प्रेम में ही जो (प्रिय इतना) दुख देने में समर्थ हैं, दुख-दायक शत्रुता की स्थिति में वे क्या करेंगे ? ।। ५ ।।

इऩ्बम् कडल्मट्रुक् कामम् अःदडुङ्गाल्
तुऩ्वम् अदऩिऱ् पॆरिदु ।। ६ ।।

अहा प्रेम के सुखसागर का गहन[2] विशद[3] आनन्द अपार।
विरह, वेदना, व्यथा प्रेम की, किन्तु सिन्धु से अधिक अपार ।। ६ ।।

प्रेम जब सुख देता है, तब उसका आनन्द समुद्र के समान (विशाल व गहरा) होता है; वह (प्रेम) जब दुख देता है, तब उसकी पीड़ा समुद्र से भी बढ़कर (विशाल व गहरी) होती है ! ।। ६ ।।

कामक् कडुम्बुऩल् नीन्दिक् करैकाणेऩ्
यामत्तुम् याऩे उळेऩ् ।। ७ ।।

प्रेम-समुद्र अथाह तैर कर उसके पहुँच न पाई पार।
अर्द्ध निशा में भ्रमित जहाँ की तहाँ भटकती बिन आधार ।। ७ ।।

विशाल काम-समुद्र का, तैर-तैर कर भी मैं पार नहीं पा रही हूँ। आधी रात में भी मैं अकेली जहाँ की तहाँ हूँ ।। ७ ।।

मऩ्ऩुयिर् ऍल्लाम् तुयिट्रि अळित्तुइरा
ऍऩ्ऩल्ल दिल्लै तुणै ।। ८ ।।

सुख की नींद सुला कर सबको, करुणामयी जागती रात।
मैं एकाकी, रात अकेली, जाग रहीं बस दोनो साथ ।। ८ ।।

यह रात्रि बेचारी दया की पात्र है; अन्य सभी प्राणियों को सुला चुकी है, सो अब अकेले मेरे सिवाय इसका और कोई साथी नहीं हैं ! ।।८।।

कॊडियार् कॊडुमैयिऩ् ताम्कॊडिय इन्नाळ्
नॆडिय कऴियुम् इरा ।। ९ ।।

निष्ठुर प्रिय से अधिक निष्ठुरा लम्बी यह दुखदायी रात।
काटे कटती नहीं, न लगती पलक, विरह से जलता गात ।। ९ ।।

---

१ अपार २ गहरा ३ विशाल।

(विरह-वेदना के कारण) आजकल की ये बहुत देर में बीतनेवाली रातें, (बिछुड़े) निष्ठुर की निष्ठुरता से भी अधिक निष्ठुर हैं ॥ ९ ॥

उळ्ळम्पोन्ऱु उळ्वऴिच् चॆल्हिऱ्पिन् वॆळ्ळनीर्
नीन्दल मन्ऱोऎन् कण् ॥ १० ॥

मन के सरिस, नयन भी मेरे, जा पाते यदि प्रिय के तीर।
अश्रु-भवँर में तो न डूबते-उतराते ये नयन अधीर ॥ १० ॥

प्रिय जहाँ हैं, वहाँ मेरे मन के समान ही मेरी आँखें भी जा सकतीं तो आज वे जल के तूफ़ान में डूबी हुई न होतीं [उसको तैर कर प्रिय के पास पहुँच जातीं।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११८
कण्विदुप्पऴिदल् (व्याकुलता से आँखों का क्षीण होना)
[नायिका द्वारा विरह-वेदना से पीड़ित आँखों का सखी से वर्णन।]

कण्दाम् कलुऴ्व तॆवन्कॊलो तण्डानोय्
ताङ्काट्ट याङ्कण् डदु ॥ १ ॥

प्रिय के दर्शन स्वयं करा कर नयनों ने उपजायी पीर।
अपराधी हैं स्वयं, भला तब क्यों रोते ये नयन अधीर ॥ १ ॥

[इन नयनों ने ही तो] स्वयं [प्रिय के] दर्शन कराये, जिसे देखकर यह असाध्य काम-रोग उत्पन्न हो गया! अब, ये आँखें (अपनी ही करतूत पर) स्वयं क्यों रो रही हैं? ॥ १ ॥

तॆरिन्दुणरा नोक्किय उण्कण् परिन्दुणराप्
पैदल् उऴप्प दॆवन् ॥ २ ॥

बिना विचारे, प्रिय को लख कर, नयनों ने अपनाया प्यार।
निज करनी पर, सुध-बुध खोकर, क्यों होते हैं व्यथित अपार ॥ २ ॥

बिना सोचे-समझे उस दिन (प्रिय को) देखकर प्रेम में पड़ी आँखें, आज प्रेम में विवेकहीन होकर व्यथित क्यों हो रही हैं? [अपने अपराध को क्यों भूल गयीं?] ॥ २ ॥

कदुमॆन्त् ताम्नोक्कित् तामे कलुऴुम्
इदुनहत् तक्क दुडैत्तु ॥ ३ ॥

स्वयं ललक कर[1], लख प्रियतम को, दृग फँस गये प्रेम के फन्द।
क्यों न करें उपहास रुदन पर, नादानी पर लें आनन्द ॥ ३ ॥

१ बड़े चाव से।

उस दिन नयनों ने स्वयं आतुरता से बढ़कर प्रिय को देखा; और अब स्वयं वे ही रो रहे हैं, यह सचमुच हास्यास्पद बात है ! ॥ ३ ॥

पॅयलाट्रा नीरुलन्द उण्कण् उयलाट्रा
उय्विल्नोय् ॲंन्कण् निरुत्तु ॥ ४ ॥

इन्हीं दृगों ने दरस दिखा कर, मुझको दी आजीवन पीर ।
रोते-रोते किन्तु स्वयं भी सूख गया आँखों का नीर ॥ ४ ॥

आँखों ने मुझमें असह्य और निरन्तर काम-रोग को उत्पन्न कर दिया और स्वयं भी सूख गयीं, और अब वे भी रो (भी) न सकने की स्थिति में हैं ॥ ४ ॥

पडलाट्रा पैदल् उऴक्कुम् कडलाट्राक्
कामनोय् शॅय्दवॅन् कण् ॥ ५ ॥

नयनों ने ही दरस दिखा, दुख दिया सिन्धु से अधिक अपार ।
आज नींद को तरस रहे हैं, उठा रहे हैं दुख का भार ॥ ५ ॥

[नयनों ने ही प्रिय को दिखाकर] उस दिन समुद्र-सा अपार काम-रोग मुझमें उत्पन्न किया, और आज वे ही नयन नींद न पा सकने के कारण स्वयं भी अपार दुःख सह रहे हैं ॥ ५ ॥

ओओ इनिदे ॲमक्किन्नोय् शॅय्दकण्
ताअम् इदऱ्पट् टदु ॥ ६ ॥

प्रेम-व्याधि में ग्रस्त आज मैं, इसके अपराधी ये नैन ।
कैसा मजा, स्वयं भी फँस कर, पाते नहीं रात-दिन चैन ॥ ६ ॥

ओहो, यह सुखद ही हुआ; मुझे इस (काम) रोग में डालकर अब ये (अपराधिनी) आँखें स्वयं भी पीड़ित होकर दुखी हो रही हैं ॥ ६ ॥

उऴन्दुऴन्दु उळ्नीर् अरुह विऴैन्दिऴैन्दु
वेण्डि यवर्क्कण्ड कण् ॥ ७ ॥

साध-ललक[1] से द्रवित[2] नयन, अपलक[3] लखते थे प्रिय को नित्य ।
दुसह वेदना दे दृग-जल को, आज सुखाते उनके कृत्य[4] ॥ ७ ॥

उस समय विगलित हो-होकर आँखें उत्सुक हो-होकर प्रिय को देखती थीं (तो) आज अब कठोर पीड़ा सहते-सहते दृग-स्रोत भी सूख जायें ! [वे इसी के पात्र हैं ।] ॥ ७ ॥

---

१ लालसा और चाव २ आँसू भरे हुए ३ बिना पलक झपके ४ करतूत ।

पेणादु पॅट्टार् उळर्मन्नो मट्रवर्क्
काणादु अमैविल कण् ॥ ८ ॥

मन में नहीं सनेह, बचन से दरसाते हैं झूठी प्रीति।
नैन तरसते उस निर्मम[1] को, दुखदायी सनेह की रीति ! ॥ ८ ॥

केवल वचनों से प्रेम करके, मन से जिसने प्रेम नहीं किया, ऐसे एक निर्मोही को देखे बिना इन (मोहित विवश) नयनों को चैन नहीं आती ॥ ८ ॥

वाराक्काल् तुञ्जा वरिन्दुञ्जा आयिडै
आरञर् उट्रन कण् ॥ ९ ॥

प्रिय आते जब नहीं, अनींदे[2] नयन ताकते उनकी राह।
आते हैं तो सुखद मिलन में जगते—हर प्रकार से दाह ॥ ९ ॥

प्रिय नहीं आते तो ये सो नहीं पाते, आते हैं तो भी नहीं सो पाते ! इन दोनों स्थितियों के बीच ये बेचारे नयन बहुत ही दुखित हो जाते हैं ॥ ९ ॥

मरैपॅरल् ऊरार्क्कु अरिदन्राल् ऍम्पोल्
अरैपरै कण्णार् अहत्तु ॥ १० ॥

नयन-दंदुभी[3] कर देती हैं प्रकट सर्वथा मन की बात।
व्यथा-प्यार[4] की छिपी न रहती, होती सहज लोक-प्रख्यात[5] ॥ १० ॥

पिट रहे ढोल के समान दुःख का घोष करनेवाली (मेरी दुःख से आतुर आँखों की तरह जिनकी) आँखें हैं, उनके रहस्यों को जान लेना पुरजनों के लिए कठिन नहीं है। [वह कामपीड़ा छिप नहीं सकती।] ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) ११९

पशप्पुरुपरुवरल् (पीलापन-जनित पीड़ा)

[विरह से उत्पन्न पाण्डुता का नायिका द्वारा पहले स्वगत कथन]

(नायिका स्वगत)

नयन्दवर्क्कु नल्हामै नेर्न्देन् पशन्दऍन्
पण्बियार्क्कु कुरैक्को पिर ॥ १ ॥

---

१ निर्दयी (प्रियतम)   २ बिना नींद, जागते रहकर   ३ नेत्ररूपी ढोल   ४ प्यार की पीड़ा   ५ जग-जाहिर।

अनुमति देकर विदा किया प्रिय को, सोचा न तनिक परिणाम ।
अब पीली पड़ रही विरह में, वृथा शिकायत से क्या काम ॥ १ ॥

उस समय प्रियतम को बिछुड़कर जाने की सम्मति मैंने (ही) दी; अब उनके विरह से उत्पन्न पीलेपन की शिकायत मैं किससे करूँ ? ॥ १ ॥

अवर्तन्दार् ॲॕन्नुम् तहैयाल् इवर्तन्दॆन्
मेऩिमेल् ऊरुम् पशप्पु ॥ २ ॥

है प्रियतम की देन, बराबर पीत[1] हो रहा नित्य शरीर ।
इसीलिए है गर्व ! विरह से पीत, न होती तनिक अधीर ॥ २ ॥

"यह पीलापन उन्होंने (प्रियतम ने) दिया है", इस गर्व के साथ पीला रंग मेरी देह में व्याप्त होता जा रहा है ॥ २ ॥

शायलुम् नाणुम् अवर्कॊण्डार् कैम्माऱा
नोयुम् पशलैयुम् तन्दु ॥ ३ ॥

विदा समय प्रियतम ने छीनी तन की कान्ति, हरन की लाज ।
प्रेम व्याधि, पीलापन, बदले में पाकर बैठी हूँ आज ॥ ३ ॥

मेरी आभा तथा लज्जा को उन्होंने ले लिया और प्रतिदान में काम-रोग और पीला रंग मुझे दे गये ! ॥ ३ ॥

उळ्ळुवन् मऩ्याऩ् उरैप्पदु अवर्तिऱमार्
कळ्ळम् पिऱवो पशप्पु ॥ ४ ॥

उनकी ही है याद सदा उनका करती रहती गुणगान ।
कैसी यह वंचना[2] कि फिर भी पीलेपन का यह प्रतिदान[3] ॥ ४ ॥

मैं उनके गुणों का स्मरण करती हूँ; मैं गुण-गान भी उन्हीं का करती हूँ; फिर भी यदि मेरे शरीर पर पीला रंग चढ़ रहा है तो क्या वह वंचना नहीं है ? या कुछ और बात है ? ॥ ४ ॥

उवक्काणॆम् कादलर् शॆल्वार् इवक्काणॆऩ्
मेऩि पशप्पूर् वदु ॥ ५ ॥

मुझे अकेली छोड़ विदा होकर प्रियतम ने किया प्रवास[4]।
मुझे अकेली पाकर पीलेपन ने अब कर लिया निवास ॥ ५ ॥

वह देखो, मेरे प्रियतम तो मुझसे बिछुड़कर जा रहे हैं ! यह देखो, मेरी देह पर पीला रंग चढ़ रहा है ! (उनका स्थान ले रहा है !) ॥ ५ ॥

विळक्कट्ऱम् पार्क्कुम् इरुळेपोल् कॊण्कऩ्
मुयक्कट्ऱम् पार्क्कुम् पशप्पु ॥ ६ ॥

१ पीला २ छल ३ जवाबी देन ४ परदेश में वास ।

**दीपक बुझा, हुई अँधियाली, टिकती जब तक नहीं प्रकाश ।
पीलापन भी उसी घड़ी तक जब तक प्रिय न हमारे पास ।। ६ ।।**

जिस प्रकार अंधेरा दीपक के बुझने की प्रतीक्षा में रहता है, उसी प्रकार पीलापन प्रिय के आलिंगन के अभाव में आने की प्रतीक्षा में रहता है ।। ६ ।।

पुल्लिक् किडन्देऩ् पुडैपॅयर्न्देऩ् अव्वळविल्
अळ्ळिक्कॉळ् वट्ऱे पशप्पु ।। ७ ।।

**आलिङ्गन में बँधी, तनिक करवट ली, प्रियतम ज्योंही दूर ।
पाकर रिक्त पाण्डुता[1] ने तन पर अधिकार किया भरपूर ।। ७ ।।**

प्रियतम को आलिंगन कर मैं लेटी हुई थी, मैंने जरा-सी करवट बदली, और उतने में ही इस पीलेपन ने आकर मेरा आलिंगन कर लिया ।। ७ ।।

पशन्दाळ् इवळॅऩ्ब दल्लाल् इवळैत्
तुऱन्दार् अवरॅऩ्बार् इल् ।। ८ ।।

**मैं पीली पड़ गई विरह में—यही बात कहते सब लोग ।
किन्तु न कोई कहता, प्रिय ने दिया मुझे क्यों दुसह वियोग ? ।। ८ ।।**

"यह पीली पड़ गयी है", यों लोग बातें करते हैं, पर "इसे वे त्यागकर चले गये" यों कोई नहीं कहता ।। ८ ।।

पशक्कमऩ् पट्टाङ्कॉल् मेऩि नयप्पित्तार्
नऩ्ऩिलैयर् आवर् ऍऩिऩ् ।। ९ ।।

**मुझे परम सन्तोष, पाण्डुता आजीवन दे मेरा साथ ।
मेरी अनुमति से वियुक्त[2], यदि सकुशल-स्वस्थ रहें प्रिय नाथ ।। ९ ।।**

मेरी देह में पीलापन रह जाये तो कोई बात नहीं; यदि विरह के लिए मुझे राजी करके जानेवाले प्रिय सकुशल हों ! ।। ९ ।।

पशप्पॅऩप् पेर्पॅऱुदल् नऩ्ऱे नयप्पित्तार्
नल्हामै तूट्ऱार् ऍऩिऩ् ।। १० ।।

**मुझे विरह-दुख देनेवाले प्रिय की निन्दा करें न लोग ।
तो मुझको सहर्ष स्वीकृत है पीलेपन का यह संयोग[3] ।। १० ।।**

(मुझे विरह-दुःख से पीड़ित करने के कारण) प्रियतम की यदि लोग निन्दा न करें, तो "पीलापन चढ़ गया" यह (नाम मुझे मिल जाये यह) अच्छा ही है ! (मुझे स्वीकार है ।) ।। १० ।।

---

१ पीलापन २ बिछुड़े हुए ३ मिलन ।

अदिहारम् (अध्याय) १२०

तऩ्ऩिप्पडर्मिहुदि (विरह-वेदनातिरेक)

[नायिका द्वारा अपनी वेदना की तीव्रता का वर्णन]

ताम्वीऴ्वार् तम्वीऴप् पॆट्ऱवर् पॆट्ऱारे
कामत्तुक् काऴिल् कऩि ।। १ ।।

अतुल प्रेम प्रिय पर, प्रिय ने भी प्रेम प्रिया को किया प्रदान ।
बीज रहित दुर्लभ फल का मानो हो गया सुलभ मृदुपान ।। १ ।।

जो स्त्री ऐसी (सौभाग्यशालिनी) है कि वह जिससे प्रेम करती है वह भी उससे प्रेम करता है तो (मान लो कि) उसने प्रेम का बीज-रहित (मृदु) फल ही प्राप्त कर लिया ! ।। १ ।।

वाऴ्वार्क्कु वाऩम् पयन्दट्ऱाल् वीऴ्वार्क्कु
वीऴ्वार् अळिक्कुम् अळि ।। २ ।।

मेघ अमृतवर्षा से जीवों को करता ज्यों जीवनदान ।
वैसे ही प्रियतमा सुखी, यदि प्रियतम करता प्रेम प्रदान ।। २ ।।

जल देकर बादल जिस प्रकार जीवों की रक्षा करता है, प्रिय का प्रिया को प्रेम प्रदान करना वैसा ही है ! ।। २ ।।

वीऴुनर् वीऴप् पडुवार्क्कु अमैयुमे
वाऴुनम् ऎन्ऩुम् शॆरुक्कु ।। ३ ।।

प्रिय-वियोग में भी प्रिय की प्यारी को रहता सुख का भान[1] ।
पुनर्मिलन के गौरव से पूरित रहते उसके अरमान ।। ३ ।।

जिस नारी को प्रिय का प्रेम प्राप्त है, (विरह का दुःख होते हुए भी) "उनके लौटने पर फिर साथ जीवन बिताएंगे" यह एक गौरव उसे प्राप्त रहता है ।। ३ ।।

वीऴप् पडुवार् कॆऴीइयिलर् ताम्वीऴ्वार्
वीऴप् पडाअर् ऎऩिऩ् ।। ४ ।।

है चौतरफ़ प्रशंसा जिसकी, भले मिली है सब की प्रीत ।
प्रिय-सनेह से वञ्चित नारी का प्रत्यक्ष भाग्य विपरीत ।। ४ ।।

जिस नारी को प्रिय का प्रेम नहीं प्राप्त है (उसे) संसार-भर का गौरव प्राप्त हो जाय, फिर भी वह भाग्यवती नहीं है ! ।। ४ ।।

---

१ अनुभूति ।

नाम्कादल् कोण्डार् नमक्कॆवन् शॆय्बवो
ताम्कादल् कॊळ्ळाक् कडै ।। ५ ।।

प्रिय पर देती प्राण, किन्तु यदि प्रिय का सुलभ न मुझको प्यार ।
बिना परस्पर प्रेम, सुखद आशा का किस प्रकार आधार[1] ।। ५ ।।

मैंने जिनसे प्रेम किया, यदि उन्होंने मुझसे प्रेम नहीं किया तो फिर उनसे मेरा क्या उपकार हो सकता है ? ।। ५ ।।

ऒरुतलैयान् इन्नादु कामङ्गाप् पोल
इरुतलै यानुम् इनिदु ।। ६ ।।

इकतरफ़ा का प्रेम दुखद है, सुखद परस्पर की है प्रीति ।
युगल - पक्ष[2] का भार संतुलित ही केवल सुखदायी रीति ।। ६ ।।

प्रेम एकतरफा हो यह बहुत ही दुखद स्थिति है, जिस प्रकार पालकी पर (एक ओर नहीं,) दोनों ओर भार रहे तभी उसका (वहन) सुखद होता है ।। ६ ।।

परुवरलुम् पैदलुम् काणान्कॊल् कामन्
ऒरुवर्कण् निन्ऱॊळुहु वान् ।। ७ ।।

निठुर सताता मदन[3] मुझे ही, करता रहता कठिन प्रहार ।
विदित न उसको क्या मुझ दुखिया की विरहानल-व्यथा[4] अपार ।। ७ ।।

निष्ठुर कामदेव एक ही तरफ (मुझ पर ही) सक्रिय हो बैठा है; क्या वह मेरे दुःख व पीड़ा को नहीं समझता ? ।। ७ ।।

वीळ्वारिन् इन्शॊल् पॆराअ तुलहत्तु
वाळ्वारिन् वन्कणार् इल् ।। ८ ।।

प्रिय के प्रेम-वचन को तरसी, प्रिय-मुख से न सुने मृदु बैन ।
फिर भी जीवित ! धन्य ! सहन करती रहती जीवन दुखदैन[5] ।। ८ ।।

प्रियतम से मधुर वचन पाये बिना जीवित रहनेवाली स्त्री के समान सहन करनेवाली और कोई नहीं है ! ।। ८ ।।

नशैइयार् नल्हार् ऎनिनुम् अवर्माट्टु
इशैयुम् इनिय शॆविक्कु ।। ९ ।।

मुझे प्रीति जिन पर वे मुझसे हैं विरक्त, मुझको यह ज्ञान ।
फिर भी मृदु चर्चा उनकी सुनते ही प्रमुदित होते कान ।। ९ ।।

मैंने जिनसे प्रेम किया वे मुझसे प्रेम नहीं करते, यह जानकर भी

---

१ भरोसा २ दोनो ओर ३ प्रेम का देवता कामदेव ४ विरह ज्वाला की पीड़ा ५ दुखदायी ।

उनसे सम्बन्धित कोई बात सुनने को मिलती है तो कानों को मधुर लगती है ! ॥ ९ ॥

उऱाअर्क् कुरुनोय् उरैप्पाय् कडलैच्
चॆऱाअ अय् वाऴिय नॆञ्जु ॥ १० ॥

हृदयहीन निर्मम[1] के सम्मुख प्रेम-व्यथा कहना बेकार।
अरे हृदय ! यह सुकर[2], सुखा दो विरहानल से सिन्धु अपार ॥ १० ॥

हे हृदय, तुम चिरंजीव रहो ! प्रेमहीन (व्यक्ति) से अपनी पीड़ा को कहने की व्यर्थता कर रहे हो। इससे (अधिक) आसानी से तो तुम समुद्र को सुखा सकते हो ! ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १२१

निऩैन्दवर्पुलम्बल् (स्मरण में एकाकीपन का दुःख)

उळ्ळिऩुम् तीराप् पॆरुमहिऴ् शॆय्दलार्
कळ्ळिऩुम् कामम् इऩिदु ॥ १ ॥

मदिरा पीने पर सुख देती, किन्तु प्रेम-रस का तो ध्यान—
आते ही सुखराशि बरसती, मधुरस[3] से रस-प्रेम महान ॥ १ ॥

स्मरण-मात्र से ही जो अतीव आनन्द देता है, ऐसा प्रेम-रस प्राप्त होने पर तो मधु-रस से भी ज़्यादा मधुर होता है। [क्योंकि मदिरा तो पीने के बाद ही आनन्द देती है, केवल स्मरण से नहीं।] ॥ १ ॥

ऎऩैत्तॊन्ऱु इऩिदेहाण् कामन्दाम् वीऴ्वार्
निऩैप्प वरुवदॊन्ऱु इल् ॥ २ ॥

जिस पर प्रेम, विरह में उसके सुमिरन से भी सुलभ प्रमोद।
धन्य ! प्रेमिका के विछोह में, मिलने में, समान आमोद ॥ २ ॥

जिससे हम प्रेम करते हैं उसका स्मरण करें तो (उसका विरह-जन्य) दुःख नष्ट होता है, इस प्रकार (संयोग या वियोग) किसी भी स्थिति में प्रेम सदैव आनन्द-दायक होता है ! ॥ २ ॥

निऩैप्पवर् पोन्ऱु निऩैयार्कॊल् तुम्मल्
शिऩैप्पदु पोन्ऱु कॆडुम् ॥ ३ ॥

---

१ कठोर हृदय २ सरल, आसान ३ मद्य, सुरा।

अकस्मात् रुक गई छींक, नथुनों तक आ-जाने के बाद।
किया याद प्रियतम ने, अथवा प्रिय को बिसरी[1] मेरी याद ॥ ३ ॥

मुझे छींक आने ही वाली थी कि दब गयी। क्या मेरे प्रियतम मुझे याद करने ही वाले थे कि वे मुझे भूल गये ? ॥ ३ ॥

यामुम् उळेङ्कोंल् अवर्नेंञ्जत्तु ॲन्नेंञ्ज्त्तु
ओओ उळरे अवर् ॥ ४ ॥

सदा हृदय के कोने-कोने में मेरे प्रिय का है वास।
क्या उनके उर में भी थल[2] है जहाँ मुझे हो सुलभ निवास ॥ ४ ॥

मेरे हृदय में तो सर्वदा उनका निवास है, क्या उनके हृदय में भी मेरे आवास के लिए स्थान है ? ॥ ४ ॥

तम्नेंञ्जत्तु ॲम्मैक् कडिकोंण्डार् नाणार्कोंल्
ॲम्नेंञ्जत् तोवा वरल् ॥ ५ ॥

प्रिय के मन पर कठिन पहरुए[3], मुझे न तिल भर कहीं प्रवेश।
लाज न उनको, अधिकृत[4] करने में पूरा मेरा हृद्देश[5] ॥ ५ ॥

अपने हृदय पर पहरा बिठाकर मुझे अन्दर प्रवेश न देनेवाले प्रियतम, मेरे हृदय में सदा स्वयं निवास करने पर लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ ५ ॥

मट्रियात् ॲन्नुळेन् मन्नो अवरोंडियात्
उट्रनाळ् उळ्ळ उळेन् ॥ ६ ॥

सुखद दिवस प्रिय-संग बिताये, आज उन्हीं का करके ध्यान।
वही याद अवलम्ब[6] विरह में, आज सुरक्षित मेरे प्रान ॥ ६ ॥

प्रिय के साथ बिताये संयोग के दिनों की स्मृति के सहारे ही मैं जीवित हूँ; वह न हो तो और किस तरह मैं प्राणों को बनाये रखूँ ? ॥ ६ ॥

मरप्पिन् ॲवनावन् मर्कोंल् मरप्परियेन्
उळ्ळिनुम् उळ्ळम् चुडुम् ॥ ७ ॥

नहीं भूलती प्रिय को पल भर, तब तो उर में इतना दाह।
उन्हें भूल, अपराधिनि बनकर तो उपजेगा दाह अथाह ॥ ७ ॥

प्रियतम को विस्मृत किये बिना ही जब स्मरण करती हूँ तो विरह-पीड़ा हृदय को जलाती है; उन्हें विस्मृतकर भूल जाऊँगी तब क्या होगा ? ॥ ७ ॥

---

१ भूल गई २ स्थान ३ पहरेदार ४ कब्जा ५ हृदय स्थल ६ सहारा।

अॅन्नैत्तु निन्नैप्पिनुम् कायार् अन्नैत्तन्ऱो
कादलर् शॅय्युम् शिऱप्पु ।। ८ ।।

अधिकाधिक[1] मैं याद करूँ, प्रिय इस पर कभी न होते रुष्ट ।
क्या यह लक्षण नहीं कि मुझ पर कितने वे प्रसन्न-संतुष्ट ! ।। ८ ।।

मैं प्रियतम को कितना भी याद करूँ वे नाराज नहीं होते; प्रियतम मेरा कितना लिहाज करते हैं ! ।। ८ ।।

विऴियुमॅन् इन्नुयिर् वेऱल्लम् ॲन्बार्
अऴियिन्मै आट्ऱ निनैन्दु ।। ९ ।।

'हम दोनों हैं एक'—वचन ये निर्मोही के करती ध्यान ।
सोच-सोच कर गलते-तन ले विदा माँगते मेरे प्रान ।। ९ ।।

'हम दोनों अभिन्न हैं' यों बार-बार कहनेवाले प्रियतम आज प्रेम से विमुख हैं, यह सोच-सोचकर मेरे प्रिय प्राण आज क्षीण हो रहे हैं । ।। ९ ।।

विडाअदु शॅन्ऱारैक् कण्णिनाऱ् काणप्
पडाअदि वाऴि मदि ।। १० ।।

देख न लूँ बिछुड़े प्रियतम को, मन में जिनका सदा निवास ।
अमर चन्द्र ! तुम अस्त न होना, देते रहना दिव्य प्रकाश ।। १० ।।

हे चन्द्र ! तुम चिरायु रहो ! हमेशा साथ रहकर, अब बिछुड़ गये मेरे प्रियतम को जब तक मैं अपनी आँखों से देख न लूँ, तुम अस्त मत होना ! ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १२२

कनवुनिलैयुरैत्तल् (स्वप्नावस्था का वर्णन)

[नायिका द्वारा स्वप्न में प्रिय-दर्शन का वर्णन]

कादलर् दूदॊडु वन्द कनविनुक्कु
यादुशॅय वेन्कॊल् विरुन्दु ।। १ ।।

प्रिय के दूत-स्वप्न ने मेटा दुख, प्रिय का देकर दीदार[2]
बोलो ! ऐसे स्वप्न-सखा का किस विधि करूँ अतिथि-सत्कार ।। १ ।।

(मेरे विरह-दुःख को मिटाने के लिए) प्रियतम का दूत बनकर जो स्वप्न आया था, उसका मैं योग्य अतिथि-सत्कार क्या करूँ ? ।। १ ।।

---

१ ज़्यादा से ज़्यादा २ दर्शन ।

कयलुण्कण् यानिरप्पत् तुञ्जिर् कलन्दार्क्कु
उयलुण्मै शाट्रुवेन् मन् ।। २ ।।

अपलक[1] अँजे[2] नयन, मम विनती पर, हो जायें निद्रावान् ।
सपने में प्रिय को बतलाऊँ, कैसे बचे विरह में प्रान ।। २ ।।

मेरी प्रार्थना को मानकर यदि मेरे नयन निद्रावान हो जायें (तब आनेवाले स्वप्न में) प्रियतम को मैं बताऊँगी कि मैंने (विरह-) दुःख से (अपने) प्राणों को किस प्रकार बचाया है ? ।। २ ।।

नननविनान् नल्हा तवरैक् कननविनार्
काण्डलिन् उण्डेन् उयिर् ।। ३ ।।

जागृत[3] में न आस मिलने की, उन्हें स्वप्न में रही निहार ।
इसी सहारे पर जीवित हूँ, तन में शेष प्राण-सञ्चार ।। ३ ।।

जागृतावस्था में आकर प्रेम न करनेवाले प्रियतम को स्वप्न में देख लेती हूँ, इसीसे तो मेरे प्राण अब तक गये बिना रह गये हैं ।। ३ ।।

कननविनान् उण्डाहुम् कामम् नननविनान्
नल्हारै नाडित् तरर्कु ।। ४ ।।

सुलभ न जागृत में प्रिय, उनको स्वप्न सम्मुख[4] ले आते, धन्य ! ।
अतः विलस लेती सपने में प्रिय से सारे सुक्ख अनन्य ।। ४ ।।

जागृतावस्था में आकर प्रेम न करनेवाले प्रियतम को स्वप्न ढूँढ़ लाते हैं, (इस प्रकार) स्वप्न में (उनके साथ) किये सुख-भोग में ही मुझे आनन्द प्राप्त हो जाता है ।। ४ ।।

नननविनार् कण्डदूउम् आङ्गे कननवुन्दान्
कण्ड पॊऴुदे इनिदु ।। ५ ।।

जगते में सुख सुलभ तभी तक, जब तक प्रियतम का संयोग ।
सपने में भी प्रिय जब तक हैं, तब तक सुलभ सुक्ख-सम्भोग ।। ५ ।।

जागृतावस्था में पाया सुख-भोग भी, जब तक वे दिखते रहे तभी तक आनन्द देता रहा; स्वप्नावस्था में पाया सुख-भोग भी, जब तक वे दिखते रहे तभी तक आनन्द देता रहा ।। ५ ।।

नननवॆन ऒन्ऱिल्लै यायिन् कननविनार्
कादलर् नीङ्गलर् मन् ।। ६ ।।

---

१ टकटकी बाँधे, खुले २ कजरारे ३ जागते ४ सामने ।

यह बैरी जागरन न होता, सदा स्वप्न का रहता साथ।
सदा विलसती सुक्ख, बिछुड़ते मुझसे कभी न मेरे नाथ ॥ ६ ॥

जागरण नामक एक चीज न होती तो स्वप्न में आनेवाले मेरे प्रियतम मेरा साथ छोड़कर कभी न जाते ॥ ६ ॥

नऩविऩात् नल्हाक् कॊंडियार् कऩविऩात्
ॲऩ्नॆम्मैप पीऴिप् पदु ॥ ७ ॥

तरसाते जगते में प्रियतम, कभी न आते मेरे पास।
निसि में सपने में आ-आकर नित्य मुझे क्यों देते त्रास[1] ? ॥ ७ ॥

निष्ठुर प्रियतम जागृतावस्था में आकर मुझपर कृपा नहीं करते तो फिर स्वप्न में आकर मेरे प्राणों को पीड़ा क्यों देते हैं ? ॥ ७ ॥

तुञ्जुङ्काल् तोळ्मेल राहि विऴिक्कुङ्काल्
नॆञ्जतत रावर् विरैन्दु ॥ ८ ॥

नाथ नींद में आलिङ्गन कर घुलमिल करते भोगविलास।
उचटी नींद, ओट[2] हो जाते, झलक न रहती उनकी पास ॥ ८ ॥

(प्रियतम) नींद में मेरे गले से लग जाते हैं, पर जब मैं जाग पड़ती हूँ तो झट से हृदय में भागकर (छिप) जाते हैं ॥ ८ ॥

नऩविऩात् नल्हारै नोवर् कऩविऩार्
कादलर्क् काणा दवर् ॥ ९ ॥

जिनको नहीं सुलभ सपने में अपने प्रियतम का सुखदान।
वे ही जगते में करती हैं अपने प्रिय का निन्दागान ॥ ९ ॥

जिन ललनाओं के प्रियतम ने स्वप्न में आकर सुख नहीं दिया, वे ही जागृतावस्था में आकर प्रेम न करनेवाले प्रियतम की निन्दा करेंगी ॥ ९ ॥

नऩविऩान् नम्नीत्तार् ॲऩ्बर् कऩविऩार्
काणार्कॊल् इव्वू रवर् ॥ १० ॥

'प्रिय-त्यक्ता'[3] कहकर पुरवासिनि करती हैं मेरा उपहास।
जगते में वे मिलन न लखतीं, स्वप्न-मिलन का उन्हें न भास[4] ॥ १० ॥

'जागृतावस्था में प्रिय आकर मुझसे नहीं मिलते', यों लोग कहते हैं, पर क्या ये पुरवासी इन्हें स्वप्न में नहीं देखते ? ॥ १० ॥

१ कष्ट, पीड़ा २ आड़ में ३ प्रिय द्वारा छोड़ी हुई ४ ज्ञान।

अदिहारम् (अध्याय) १२३

पोऴुदुण्डिरङ्गल् (संध्या-दर्शन से व्यथित होना)

मालैयो अल्लै मणन्दार् उयिरुण्णुम्
वेलैनी वाऴि पोऴुदु ॥ १ ॥

सन्ध्यारानी धन्य ! निराला धन्य तुम्हारा सन्ध्याकाल ! ।
विरह-सताई वनिताओं के लिए काल तुम हो विकराल ॥ १ ॥

हे संध्या ! तुम संध्या नहीं हो, वरन् (प्रियतम से संयोग न होने के) विरह में (दुखी) प्रिया के प्राणों का भक्षण करनेवाली विकराल काल हो ! ॥ १ ॥

पुन्कण्णै वाऴि मरुळ्मालै ऍङ्गेळ्पोल्
वन्कण्ण तोनिन् तुणै ॥ २ ॥

तमोमयी[1] निस्तेज-नयन[2] हे सन्ध्ये ! क्यों ऐसी भयक्लान्त[3] ।
मेरे प्रिय के सदृश निर्दयी, क्या तेरा भी निष्ठुर कान्त[4] ॥ २ ॥

हे संध्या, तुम निष्प्रभ और विभ्रान्त दिख रही हो, क्या तुम्हारा प्रियतम भी मेरे प्रियतम के समान ही निष्ठुर है ? ॥ २ ॥

पनियरुम्बिप् पैदल्कोळ् मालै तुनियरुम्बित्
तुन्बम् वळर वरुम् ॥ ३ ॥

गोधूली[5] का समय, विकम्पित सन्ध्या का सब लुटा प्रकाश ।
उसके दरस मात्र से होती मैं भी हतप्रभ[6] और निराश ॥ ३ ॥

कंपित, निष्प्रभ संध्या आकर मुझ (विरहिन को) विरक्त बना देती है और मुझे अत्यन्त घनी पीड़ा देती है ॥ ३ ॥

कादलर् इलुवऴि मालै कोलैक्कळत्तु
एदिलर् पोल वरुम् ॥ ४ ॥

प्रिय-वियोग पर मुझ बिरहिन को सन्ध्या भी हो जाती काल[7] ।
वध्यभूमि पर वध करने को प्रस्तुत मानो वधिक[8] कराल ॥ ४ ॥

प्रियतम के न रहने पर यह संध्या ऐसे आती है, जैसे वधस्थान पर वधिक आ रहे हों ॥ ४ ॥

कालैक्कुच् चेय्दनन् ऱेन्कोल् ऍवन्कोल्यान्
मालैक्कुच् चेय्द पहै ॥ ५ ॥

---

१ अन्धकारमय २ आभाहीन नेत्रोंवाली ३ भय से व्यथित ४ पति, प्रेमाराध्य ५ सन्ध्याकाल ६ तेजहीन ७ मृत्युरूप ८ जल्लाद, हत्यारा ।

क्या ऊषा को लाभ कि आते ही उर को देती है चैन।
क्या अपराध कि सन्ध्या बैरिन, आते ही करती बेचैन ॥ ५ ॥

मैंने प्रातःकाल का क्या उपकार कर दिया कि उसने चैन दी ? मैंने संध्या का क्या अपकार कर दिया (कि विरहाग्नि में जलाने लगी) ? ॥ ५ ॥

मालैनोय् चेय्दल् मणन्दार् अहलाद
कालै यरिन्द दिलेन् ॥ ६ ॥

रही संग प्रियतम के जब तक, हुआ न मुझको तब तक भान[1]।
यह सुहावनी सन्ध्या भी दे सकती इतनी व्यथा महान् ॥ ६ ॥

संध्या मुझे इस प्रकार पीड़ित करने में समर्थ है, यह बात जब प्रियतम मेरे साथ थे तब मुझे ज्ञात नहीं थी ॥ ६ ॥

कालै यरुम्बिप् पहलेल्लाम् पोदाहि
मालै मलरुमिन् नोय् ॥ ७ ॥

भोर[2], प्रेम यह कली रूप में, दिन में पाकर क्रमिक[3] विकास।
प्रेम-व्याधि पूरी खिल उठती, ज्यों ही सन्ध्या आती पास ॥ ७ ॥

यह कामरोग, प्रातःकाल कली-रूप में रहकर, दिनभर में मुकुलित होकर संध्या को पूर्ण विकसित पुष्प हो जाता है ॥ ७ ॥

अऴल्पोलुम् मालैक्कुत् तूदाहि आयन्
कुऴल्पोलुम् कॊल्लुम् पडै ॥ ८ ॥

सन्ध्यागम[4], सूचना दे रही ग्वालों की बंशी की तान।
समझ गई, घातकी साँझ आ-धमकी मुझ पर बधिक समान ॥ ८ ॥

आग की तरह जलाती संध्या की दूती के रूप में गोपालकों की यह मुरली मेरे लिए प्राण-घातक सेना बन रही है ॥ ८ ॥

पदिमरुण्डु पैदल् उऴक्कुम् मदिमरुण्डु
मालै पडर्तरुम् पोऴ्दु ॥ ९ ॥

सन्ध्या आई, मैं विमूढ़ सी त्रसित, हो उठी निपट उदास।
मैं क्या ? सारी पुरी चेतना-हीन, साँझ जब आई पास ॥ ९ ॥

मति को भ्रमित करनेवाली संध्या जब बढ़ी चली आयेगी तब यह सारा पुर भी मति-भ्रमित हो, मेरी ही तरह दुःख से पूर्ण होगा ! ॥ ९ ॥

पॊरुऴ्मालै याळरै उऴ्ळि मरुऴ्मालै
मायुमेन् माया उयिर् ॥ १० ॥

---

१ अनुभूति, ज्ञान २ सवेरे, प्रातः ३ धीरे-धीरे, उत्तरोत्तर ४ सन्ध्या-आगमन।

यह धन की लालसा प्रानपति को ले गई खींच परदेस।
निसि में नित्य बिसूर[1] प्राण की आशा मुझ में रही न शेष ॥ १० ॥

अब तक बचते आ रहे मेरे प्राण, भ्रमित करनेवाली इस संध्या में, धन जोड़ने के लिए गये हुए प्रिय की याद कर-करके, बच नहीं पायेंगे ! ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १२४

उरुप्पुनलन्ऴिदल् (अंग-कान्ति का नाश)

(नायिका स्वगत)

शिऱुमै नमक्कॊऴियच् चेण्चॆन्ऱार् उळ्ळि
नऱुमलर् नाणिन कण् ॥ १ ॥

प्रिय तज गये सुदूर, याद-नित[2] से नयनों की हालत आज।
आभाहीन ! कि सुमनों को लख नयनों को आती है लाज ॥ १ ॥

इस वियोग-दुःख में छोड़कर जो स्वयं दूर चले गये, उन प्रियतम की याद में रोते हुए तुम्हारे नयन, अपनी शोभा को खोकर, पुष्पों को देखकर लज्जित हो गये ! (पहले तुम्हारी आँखों की शोभा के सामने पुष्प लज्जित होते थे, आज पुष्पों को देखकर वे लज्जित हो गये।) ॥ १ ॥

नयन्दवर् नल्हामै शॊल्लुव पोलुम्
पशन्दु पनिवारुम् कण् ॥ २ ॥

पीले नयन अश्रु बरसाते, मानो वे कर रहे बखान।
निर्मम पति की निर्दयता की ओर खीचते सबका ध्यान ॥ २ ॥

पीले पड़कर नयन आँसू बरसा रहे हैं। मानो वे निर्दयी प्रिय की निष्ठुरता सबसे कह रहे हैं ॥ २ ॥

तणन्दमै शाल अऱिविप्प पोलुम्
मणन्दनाळ् वीङ्गिय तोळ् ॥ ३ ॥

जो कन्धे अति पुष्ट-मांसल थे, जब हुआ नाथ-संयोग।
वही क्षीण हो, प्रकट कर रहे हैं प्रिय का अब विरह-वियोग ॥ ३ ॥

प्रिय के संयोग-काल में जो कंधे एकदम फूले हुए (मांसल) थे, अब (क्षीण होकर) वे मानो असहनीय विरह-पीड़ा की घोषणा कर रहे हैं ॥ ३ ॥

---

१ सोच-सोच कर   २ रोज़ याद करते-करते।

पणैनीङ्गिप् पैन्दॊडि शोरुम् तुणैनीङ्गित्
तॊल्कवित् वाडिय तोळ् ॥ ४ ॥

पति-वियोग में युगल बाहु हो गईं आज ये गरिमा-हीन।
बाजूबन्द खिसक जाते हैं; ऐसी दुर्बल, ऐसी क्षीन ॥ ४ ॥

प्रिय-वियोग के पूर्व की छबि से हीन होकर, बाहु कृश हो गये हैं, और इस कारण बाजूबन्द खिसक जाते हैं ॥ ४ ॥

कॊडियार् कॊडुमै युरैक्कुम् तॊडियॊडु
तॊल्कबित् वाडिय तोळ् ॥ ५ ॥

खिसक गये भुजबन्द, बाहुओं की आभा हो गई विनष्ट।
बता रहे, मुझको निर्दय की निर्दयता से कितना कष्ट ॥ ५ ॥

जिनके वलय भी निकल गये हैं और सौन्दर्य भी नष्ट हो गया है, ऐसे कन्धे दु:ख को न जाननेवाले निष्ठुर की निष्ठुरता को दूसरों पर स्पष्ट कह देते हैं ॥ ५ ॥

तॊडियाडु तोळ्नॆहिळ नोवल् अवरैक्
कॊडियर् ऎन्नक्कूऱल् नॊन्दु ॥ ६ ॥

खिसक गये भुजबन्द क्षीण कन्धों से, यद्यपि ऐसा शोक !
नहीं सुहाता फिर भी, 'निष्ठुर' जब प्रिय को कहता है लोक ॥ ६ ॥

वलयों के निकल जाने और कंधों के क्षीण हो जाने पर उन्हें देखकर लोग प्रियतम को निष्ठुर कहते हैं, यह सुनकर मुझे बहुत दु:ख होता है ॥ ६ ॥

पाडु पॆऱुदियो नॆञ्जे कॊडियार्क्कॆन्
वाड्तोळ् पूशल् उरैत्तु ॥ ७ ॥

बाहु क्षीण इस दीन दशा का निर्मोही से क्यों न बखान।
करके, हृदय ! न क्यों सहृदय बन, जग में होता है यशवान् ? ॥ ७ ॥

हे हृदय, यह मेरा कंधा जो दुर्बल होता जा रहा है उसके आक्रन्दन को निष्ठुर को सुनाकर क्यों नहीं तुम कीर्ति पा लेते ? ॥ ७ ॥

(नायक स्वगत)

मुयङ्गिय कैकळै ऊक्कप् पशन्ददु
पैन्दॊडिप् पेदै नुदल् ॥ ८ ॥

बाहुवेष्टित[1] आलिङ्गित से शिथिल हुए[2] कुछ मेरे हाथ।
स्वर्णमण्डिता प्यारी का हो उठा यकायक पीला गात ॥ ८ ॥

---

१ भुजाओं में लिपटी २ ढीले पड़े।

आलिंगन के पाश से ज्यों ही मैंने हाथ शिथिल किये, त्यों ही सुनहरे वलयवाली का ललाट पीला पड़ गया ।। ८ ।।

मुयक्किडैत् तण्वळि पोळ्प् पशप्पुट्र
पेदैं पॅरुमळैक् कण् ।। ९ ।।

हम दोनो के आलिङ्गन में तनिक हवा ने पाई साँस[1] ।
मृदुनयनी की शंकित आँखें अकस्मात् हो उठीं उदास ।। ९ ।।

आलिंगन के मध्य ही जब जरा शीत हवा का स्पर्श हुआ तो उस बाला की बड़ी-(बड़ी) काली आँखें पीली पड़ गयीं ! (ऐसी वह कोमलांगी अब अपने दिन कैसे बिताती होगी ?) ।। ९ ।।

कण्णिन् पशप्पो परुवरल् ऍय्दिन्रे
ऑण्णुदल् चॅय्ददु कण्डु ।। १० ।।

निरख प्रिया का पीतवर्ण ! वह सुकुमारी कैसी बेचैन ?
सह न सके वेदनाशील हो उठे स्वयं पीले ये नैन ।। १० ।।

प्रिया के ललाट के पीलेपन को देखकर नेत्र के पीलेपन को गहरा दुःख हुआ ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १२५

नॅञ्जॊंडुकिळत्तल् (हृदय के प्रति कथन)

(नायिका स्वगत)

निनैत्तॊन्रु चॊल्लायो नॅञ्जे ऍनैत्तॊन्ट्रुम्
ऍव्वनोय् तीर्क्कु मरुन्दु ।। १ ।।

निसि-दिन की इस प्रेम-पीर का, क्या न कहोगे कुछ उपचार[2] ?
रे मन ! औषधि कहो, कि जिससे व्यथा मिटे यह किसी प्रकार ।। १ ।।

हे मन ! प्रेम से बढ़ रहे इस पीड़ा रूपी रोग को दूर करने की कोई औषधि तो होगी ! क्या तुम सोचकर मुझे नहीं बताओगे ? ।। १ ।।

कादल् अवरिल राहनी नोवदु
पेदैमै वाळियॅन् नॅञ्जु ।। २ ।।

---

१ खाली स्थान, हवा भर स्थान २ औषधि, इलाज ।

मुझ पर प्रीति न जिसकी, मेरे मन की नहीं रञ्च परवाह ।
धन्य मूर्ख मन ! मनन उसीका करता, सहता दाह अथाह ।। २ ।।

हे मन ! तुम जिओ ! प्रिय तो तुमसे प्रेम नहीं करते हैं, पर तुम (उनका स्मरणकर) व्यथित होते हो, यह तुम्हारी निपट मूर्खता है ।। २ ।।

इरुन्दुळ्ळि ॲन्बरिदल् नॆञ्जे परिन्दुळ्ळल्
पैदलनोय् शॆय्दार्कण् इल् ।। ३ ।।

रे मन ! जो विरक्त[1] तुमसे है, कभी न उसको मेरा ध्यान ।
मेरे दुख के जनक[2] निर्दयी को बिसूर[3], क्यों खोता प्रान ।। ३ ।।

हे मन ! मुझमें रहते हुए उनका स्मरण कर दुखी क्यों हो रहे हो ? दुःख रोग के उस जनक में इस प्रकार प्रेम से स्मरण करने की प्रवृत्ति तो नहीं है ! ।। ३ ।।

कण्णुम् कॊळच्चेऱि नॆञ्जे इवैयॆन्नैत्
तिन्नुम् अवर्क्काण लुट्रु ।। ४ ।।

यदि प्रिय है प्रिय-संग, दृगों को भी ले जा प्रियतम के पास ।
तरस दरस को रहे, सर्वदा देते रहते मुझको त्रास ।। ४ ।।

हे मन ! तुम उनके पास जाओ तो इन नेत्रों को भी साथ ले जाना । उन्हें देखने के लिए ये (नेत्र) मेरे प्राणों को खाये जा रहे हैं ।। ४ ।।

शॆट्रार् ॲन्क्कै विडलुण्डो नॆञ्जेयाम्
उट्राल् उऱाअ दवर् ।। ५ ।।

मुझको उनसे प्रेम, किन्तु वे मुझसे नहीं जरा अनुरक्त ।
रे मन ! निठुर मान कर कैसे हो सकता तू भला विरक्त ।। ५ ।।

हे मन ! हम उनसे प्रेम करते हैं, पर वे हमसे नहीं करते; परन्तु इसीलिए उन्हें निष्ठुर मानकर क्या उन्हें छोड़ना संभव है ? ।। ५ ।।

कलन्दुणर्त्तुम् कादलर्क् कण्डाऱ् पुलन्दुणराय्
पॊय्क्कायवु काय्दिॲन् नॆञ्जु ।। ६ ।।

सुखद मिलन प्रिय का न सुलभ, तब तक ही तेरा मिथ्या रोष ।
हुआ मिलन-प्रिय; बस क्षण में, उपजेगा उर में सुख-संतोष ।। ६ ।।

हे मन ! जब प्रिय मिलन-सुख देते हैं, तब तो तू उनसे रूठता नहीं है, और जो तू (उनकी निष्ठुरता पर अब) क्रुद्ध है, वह वास्तविक नहीं है ! (उसी समय तक है जब तक प्रिय मुझसे मिलते नहीं !) ।। ६ ।।

---

१ विमुख, उदासीन २ पैदा करनेवाला ३ याद करके ।

कामम् विडुऑन्ऱो नाण्विडु नन्नॆञ्जे
यानो पॊऱॆनिव् वीरण्डु ।। ७ ।।

रे मन ! लज्जा अथच[1] प्रेम में, चुनना अथच त्यागना एक ।
साथ-साथ दोनो सह सकना, मेरे लिए भार-अतिरेक[2] ।। ७ ।।

हे मन ! या तो प्रेम को त्याग दो या लज्जा को छोड़ दो; इन दोनों के ताप के भार को सह सकना मेरे बस में नहीं है ।। ७ ।।

परिन्दवर् नल्हारॆन् ऱेङ्गिप् पिरिन्दवर्
पिन्चॆल्वाय् पेदैऑन् नॆञ्जु ।। ८ ।।

ठुकराया है प्रेम, अरे मन ! निर्मोही ने दिया बिछोह ।
अरे मूढ़ ! तू भूल न पाया, तुझ पर छाया उसका मोह ।। ८ ।।

हे मन ! उन्होंने आकर प्रेम नहीं किया यों व्याकुल होकर, (निष्ठुर होकर) बिछुड़ जानेवाले के पीछे तू भटक रहा है ? तू कितना भोला है ? ।। ८ ।।

उळ्ळत्तार् काद लवराह उळ्ळिनी
यारुळैच् चेऱिऑन् नॆञ्जु ।। ९ ।।

मनमन्दिर में प्रिय बसते हैं, उर में उनका सदा निवास ।
दूर भटकता-फिरता, रे मन ! पहुँचेगा कैसे प्रिय-पास ।। ९ ।।

हे मन ! प्रिय तुम्हारे भीतर ही आवास कर रहे हैं; तू उनका स्मरणकर अन्यत्र कहाँ किसके पास जायेगा ? ।। ९ ।।

तुन्नात् तुऱन्दारै नॆञ्जत् तुडैयेमा
इन्नुम् इळत्तुम् कविन् ।। १० ।।

रे मन ! हमको त्याग चल दिया, आजीवन कर दिया बिछोह ।
दिन पर दिन दुर्दशा, दुसह दुख, उपजायेगा उसका मोह ।। १० ।।

जो फिर न मिलें इस प्रकार त्यागकर चल दिये हैं, उस प्रियतम को हृदय में स्थान देने पर मेरा अस्तित्व और भी क्षीण होता जा रहा है ।। १० ।।

---

१ और २ असीम बोझ ।

अदिहारम् (अध्याय) १२६

निऱैयऴिदल् (धैर्यभंग)

[नायिका धैर्य के बाँध के टूट जाने का वर्णन कर रही है ।]

कामक् कणिच्चित्र उडैक्कुम् निऱैयॆन्नुम्
नाणुत्ताऴ् वीऴ्त्त कदवु ।। १ ।।

छिपी रही मर्याद, छिपाये अब तक रहा धैर्य का द्वार ।
धैर्य-द्वार को भंग कर रहा अब असह्य यह काम-कुठार ।। १ ।।

मनोधैर्य के दरवाज़े पर लज्जा की चटखनी लगी है, पर यह जो काम-कुठार है यह उसे तोड़े दे रहा है ।। १ ।।

कामम् ऒन्ऱओन्ऱो कण्णिन्ऱॆन् नॆञ्जत्तै
यामत्तुम् आळुम् तॊऴिल् ।। २ ।।

अहा ! काम निर्मम कठोर है, लोगों की यह सच्ची बात ।
दिन तो दिन, मैं विरह-पीर में जगती रहती सारी रात ।। २ ।।

काम नामक एक निर्दयी, मेरे मन को अपने वश में कर, आधी रात के समय भी (जबकि अन्य सभी प्राणी कोई काम नहीं कर रहे हैं) मुझसे काम करवाता है । (मुझे जगाये रखता है) ।। २ ।।

मऱैप्पेन्मन् कामत्तै यानो कुऱिप्पिन्ऱित्
तुम्मल्पोल् तोन्ऱि विडुम् ।। ३ ।।

छींक न रोके ज्यों रुकती है, उसी भाँति है नहीं सम्हार ।
लाख जतन, पर[1] बाँध तोड़ कर होता प्रकट प्रेम-उद्‌गार ।। ३ ।।

मैं प्रेम को अपने मन में ही छिपाकर रखना चाहती हूँ; लेकिन वह मेरे निर्देशों के अनुसार न रुककर छींक के समान अनायास ही बाहर प्रकट हो जाता है ! ।। ३ ।।

निऱैयुडैयेन् ऎन्बेन्मन् यानोऎन् कामम्
मऱैयिऱन्दु मन्ऱु पडुम् ।। ४ ।।

मुझे गर्व था संयम पर, मन के मन में रखती उद्‌गार ।
किन्तु प्रेम अब उमड़ चुका है, जान गया सारा संसार ।। ४ ।।

मैं कहती थी कि "मैं धैर्यवती हूँ" । पर मेरा अपार प्रेम तो अब गोपनीयता को त्यागकर सब पर प्रकट हो चुका है ।। ४ ।।

---

[1] किन्तु ।

शॆट्ऱार्पिन् शॆल्लाप् पॆरुन्दहैमै कामनोय्
उट्ऱार् अऱिवदॊन् ऱन्ऱु ।। ५ ।।

भुला दिया, तज दिया, न ऐसे पर समुचित है करना प्रीत ।
किन्तु काम-ग्रस्ता[1] को ऐसी मान-प्रतिष्ठा है विपरीत ।। ५ ।।

जो अपने को तजकर चले गये उनके पीछे नहीं लगना चाहिये, इस आत्मसम्मान-भाव का ज्ञान काम-रोगिणी को नहीं होता ।। ५ ।।

शॆट्ऱवर् पिन्शेऱल् वेण्डि यळित्तरो
ऎट्ऱॆन्नै उट्ऱ दुयर् ।। ६ ।।

त्याग दिया जिसने, उसके प्रति भी मेरा अतुलित अनुराग ।
अहा! काम से तड़ित[2], कि प्रिय से फिर भी ले सकती न विराग ।। ६ ।।

जो त्यागकर चले गये, उनके पीछे लगी हुई हूँ तो हतभाग्य ! मेरा यह कामरोग कैसा (भीषण) है ? ।। ६ ।।

नानॆन ऒन्ऱो अऱियलम् कामत्ताऱ्
पेणियार् पॆट्प शॆयिन् ।। ७ ।।

जब तक प्रिय से बिलस रही थी, नहीं लाज से था संयोग ।
आज विमुख प्रिय दूर, तभी यह, प्राप्त हो रहा लज्जा-योग ।। ७ ।।

जब तक प्रिय स्वयं आकर कामेच्छित सब कार्य करते थे, तब तक लज्जा नामक गुण से हमारा परिचय ही नहीं था (अर्थात् आज प्रिय नहीं आते तो उन तक स्वयं जाने में या अपनी स्थिति बताने में जो संकोच हो रहा है, इससे लज्जा नामक गुण से पहली बार परिचय हो रहा है।)।। ७ ।।

पन्मायक् कळ्वन् पणिमॊऴि यन्ऱोनम्
पॆण्मै युडैक्कुम् पडै ।। ८ ।।

छली-धूर्त के कपट-प्रेम से सने वचन, वे मीठे बोल !
विशिष[3] सदृश क्या हनन न करते नारी का सतीत्व अनमोल ? ।। ८ ।।

हमारे स्त्रीत्व रूपी दुर्ग को तोड़ने के लिए उस मायामय चोर के छलपूर्ण वचन क्या सेना नहीं बन जाते ? ।। ८ ।।

पुलप्पल् ऎनच्चॆन्ऱेन् पुल्लिनेन् नॆञ्जम्
कलत्तल् उऱुवदु कण्डु ।। ९ ।।

मान करूँगी, रूठूँगी, यह सोच गई प्रियतम के तीर ।
दरस हुआ, बँध गई बाहु में, बेकाबू[4] मन हुआ अधीर ।। ९ ।।

---

१ कामरोग से पीड़ित कामिनी २ कामरोग द्वारा पीड़ित ३ बाण ४ विवश ।

'रूठ जाऊँगी' यों सोचकर मैं उनके पास गयी, किन्तु मेरा मन (मुझसे छूटकर) उनसे मिलने को उत्सुक हो रहा था (यह देख) मैं भी उनके गले लग गयी ॥ ९ ॥

निणन्तीयिल् इट्टऩ्ऩ नॆञ्जिऩार्क् कुण्डो
पुणर्न्दूडि निऱ्पेम् ऎऩल् ॥ १० ॥

पाकर आँच पिघलती चर्बी, जिसका प्रिय पर ऐसा ध्यान ।
उस कोमलहृदया से कैसे सम्भव है प्रियतम से मान ॥ १० ॥

अग्नि में डालते ही पिघलनेवाले मज्जा-खंड के समान हृदय-युक्त (मुझ जैसों) के लिए प्रिय के पास जाने पर "मान करूँगी" यों सोचकर मान करना क्या संभव है ? ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १२७

अवर्वयिऩ्विदुम्बल् (उनकी उत्कंठा)

(नायिका स्वगत)

वाळट्ऱुप् पुऱ्कॆऩ्ऱ कण्णुम् अवर्शॆऩ्ऱ
नाळॊट्ऱित् तेय्न्द विरल् ॥ १ ॥

प्रिय-आगम की राह जोहते[1] नैन हो गये ज्योति-विहीन ।
दिन विछोह के गिनते-गिनते ये उँगलियाँ हो गईं छीन ॥ १ ॥

मेरी आँखें उनकी राह देखते-देखते शोभाहीन हो गयीं, मेरी उँगलियाँ विरह के दिन गिनते-गिनते क्षीण हो गयीं ॥ १ ॥

इलङ्गिऴाय् इऩ्ऱु मऱप्पिऩॆऩ् तोळ्मेल्
कलङ्गऴियुम् कारिहै नीत्तु ॥ २ ॥

गहनों-सजी रूठ कर मैंने यदि प्रियतम को दिया बिसार[2] ।
आभाहीन, छीन काया में फिर गहने टिकना दुशवार[3] ॥ २ ॥

उज्ज्वल अलंकारों से युक्त (प्रिय के विरह की पीड़ा से दुखी) मैं आज भी उन्हें भूल जाऊँ, तो मेरे छबिहीन क्षीण कंधों पर सजे सारे आभूषण खिसककर गिर जायेंगे ॥ २ ॥

उरऩशैइ उळ्ळम् तुणैयाहच् चॆऩ्ऱार्
वरनशैइ इऩ्ऩुम् उळेऩ् ॥ ३ ॥

---

१ राह ताकते २ भुला दिया ३ कठिन, असंभव ।

सफल-कामना की उमंग लेकर प्रियतम चल दिये विदेश।
'लौटेंगे', बस इसी लालसा पर मेरा जीवन है शेष[1] ॥ ३ ॥

विजय की कामना लेकर 'उत्साह' को साथी बनाकर मेरे (प्रियतम) गये; वे 'लौटेंगे' इसी एक कामना को लेकर मैं आजतक जी रही हूँ ॥ ३ ॥

कूडिय कामम् पिरिन्दार् वरवुळ्ळिक्
कोडुहों डेरुमेंन् नेंञ्जु ॥ ४ ॥

प्रेम लिये प्रियतम लौटेंगे, इस उमंग में हृदय विभोर।
प्रिय-प्रतीक्षा में आलोड़ित[2] मन विमुग्ध ले रहा हिलोर[3] ॥ ४ ॥

जो प्रियतम बिछुड़ गये थे उनकी प्रतीक्षा में मेरा मन पेड़ की डाली-डाली पर भटकता है ॥ ४ ॥

काण्हमन् कोंण्हनैक् कण्णाऱक् कण्डपिन्
नीङ्गुमेंन् मेंन्तोळ् पशप्पु ॥ ५ ॥

निरख सकूँ मैं यदि प्रियतम की छबि को नयनों से भरपूर।
प्रिय-दर्शन से, समय न लगते, होगी बाहु-पीलिमा[4] दूर ॥ ५ ॥

प्रियतम को मैं भरपूर आँखों से देख लूँ; फिर मेरे कंधों का पीलापन (अपने-आप) दूर हो जायेगा ॥ ५ ॥

वरुहमन् कोंण्हन् ओंरुनाळ् परुहुवन्
पैदनोय् ऐंल्लाम् कॅड ॥ ६ ॥

एक दिवस को भी प्रियतम का यदि मिल जाये सुख-सहवास।
कर लूँगी मृदुपान सरस मन भर, फिर कहाँ दुःख का वास ? ॥ ६ ॥

प्रियतम मेरे पास एक दिन आ जायें, मैं इतना रसपान कर लूँगी कि मेरा सारा दुःखद-रोग मिट जायेगा ॥ ६ ॥

पुलप्पेन्कोंल् पुल्लुवेन् कोंल्लो कलप्पेन् कोंल्
कण्णन्न केळिर् वरिन् ॥ ७ ॥

नयनों के तारे प्यारे से पुनर्मिलन की होगी प्राप्ति।
रूठूँ, या आलिंगन में बँध जाऊँगी पहले की भाँति ? ॥ ७ ॥

आँखों के समान प्रिय, प्रियतम जब आयेंगे, मैं उनसे मान करूँगी ? या आलिंगन करूँगी ? या (विरह-पूर्व-दिनों की तरह) मिल जाऊँगी ? ॥ ७ ॥

---

१ बचा हुआ २ मथित ३ तरंग, पैंग ४ पीलापन।

(नायक स्वगत)

विऩैकलन्दु वॆऩ्रीह वेन्दऩ् मऩैकलन्दु
मालै ययर्कम् विरुन्दु ।। ८ ।।

नृप के विजय-यशी होने पर लौटूँगा लेकर उपहार।
तभी प्रिया के संग सुलभ होगा आहार, सुक्ख-संसार ।। ८ ।।

राजा इस कार्य में क्रियाशील हो विजय प्राप्त करें; (तत्पश्चात्) हम सपत्नीक (उस दिन की) संध्या को भोज देंगे ।। ८ ।।

ऒरुनाळ् ऎऴुनाळ्पोर् शॆल्लुम्शॆण् शॆऩ्ऱार्
वरुनाळ्वैत् तेङ्गु पवर्क्कु ।। ९ ।।

प्रिय जिनके परदेश, लौटने की जोहती राह दिन-रैन।
दिवस, सात दिन के समान बीतता, न उनको आती चैन ।। ९ ।।

दूर देश गये प्रियतम के लौटने के दिन की प्रतीक्षा करती हुई (प्रिया) के लिए एक दिन भी सात (दिन) के समान लम्बा हो जाता है ।। ९ ।।

पॆऱिऩॆऩ्ऩाम् पॆट्ऱक्काल् ऎऩ्ऩाम् उऱिऩॆऩ्ऩा
उळ्ळम् उडैन्दुक्कक् काल् ।। १० ।।

दुसह विरह सह सकी न प्यारी, त्याग दिये यदि प्रान अमूल्य।
पुनरावर्तन[1] पुर्नमिलन[2], पुनरालिंगन[3] का तब क्या मूल्य ।। १० ।।

(दुःख को सहन न कर सकने के कारण) हृदय भग्न होकर यदि वह चल बसी तो अब क्या उपाय है? उसे फिर से प्राप्त करके क्या होगा? या संयोग होकर ही क्या होगा? ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १२८

कुऱिप्पऱिवुऱुत्तल् (भावानुभूति)

(नायक स्वगत)

करप्पिऩुङ् कैयिहन् तॊल्लानिऩ् उण्कण्
उरैक्कल् उऱुवदॊन् ऱुण्डु ।। १ ।।

लाख छिपाती हो संयम से, प्रकट न करती मन का भाव।
किन्तु छलकता कजरारे नयनों से मन का छिपा दुराव[4] ।। १ ।।

---

१ फिर लौटना २ फिर मिलना, ३ फिर बहु-पाश में बाँधना ४ छिपे भाव।

तुम चाहे जितना छिपाकर रखो, पर बन्धन को तोड़कर तुम्हारे नेत्र, मुझसे कुछ कहने को उत्कंठित हैं ।। १ ।।

कण्णिरैन्द कारिहैक् काम्पेर्तोळ् पेदैक्कुप्
पेण्णिरैन्द नीर्मै पेरिदु ।। २ ।।

अहा ! प्रियतमा के मञ्जुल दृग, वंश[१]-सदृश भुज चढ़ाउतार ।
नारी-सुलभ सुलक्षण सारे, उस मुग्धा[२] में सर्व प्रकार ।। २ ।।

आँखें परिपूर्ण हों ऐसा सौन्दर्य और बाँस सदृश स्कन्ध-युक्त मेरी प्रिया में नारी-सुलभ मुग्धता का गुण परिपूर्ण है ।। २ ।।

मणियिल् तिहळ्दरु नूलपोल् मडन्दै
अणियिल् तिहळ्वदोन् रुण्डु ।। ३ ।।

मणिमाला के मध्य पिरोहा सूत चमकता ज्यों समवेत[३] ।
उसी भाँति उसकी छबि से प्रस्फुटित हो रहे कुछ संकेत ।। ३ ।।

माला की मणि में से जिस प्रकार अन्तर्निहित सूत झलकता है, उसी प्रकार बाला की छबि में कुछ निहित संकेत झलक रहे हैं ।। ३ ।।

मुहैमोक्कुळ् उळ्ळदु नाट्रम्पोर् पेदै
नहैमोक्कुळ् उळ्ळदोन् रुण्डु ।। ४ ।।

कलिका[४] के खिलने पर जैसे सुरभित होती मञ्जु सुवास[५] ।
बाला की मुस्कान, मनोगति[६] का करती है मञ्जु प्रकाश ।। ४ ।।

कली में जिस प्रकार गंध बन्द रहती है, उसी प्रकार बाला के मन्द स्मित में संकेत बन्द हैं ।। ४ ।।

शेरितोडि शेय्दिरुन्द कळ्ळम् उरुदुयर्
तीर्क्कुम् मरुन्दोन् रुडैत्तु ।। ५ ।।

प्रिया, चूड़ियाँ खनका कर, उपजाती मेरे मन में दाह ।
उसी दाह से किन्तु शान्त होता है मेरा दुःख अथाह ।। ५ ।।

अनेक चूड़ियाँ पहनी हुई बाला ने मुझसे दुराव का संकेत किया, (पर) यह हाव-भाव मेरे (विरहजनित) दुःखों का निवारण करने की औषधि रखता है ।। ५ ।।

---

१ बाँस २ मोहिनी ३ अन्तर्भूत, बंधा हुआ ४ कली ५ सुगंध ६ मन के भाव ।

(नायिका स्वगत)

पॆरिदाट्ऱिप् पॆट्पक् कलत्तल् अरिदाट्ऱि
अन्बिन्मै शूऴ्व तुडैत्तु ॥ ६ ॥

प्रिय, के पुर्नमिलन से निश्चय मिलता है अपार आनन्द।
पुर्नवियोग[1], विरह बीते[2] की याद किन्तु करती सुख मन्द ॥ ६ ॥

प्रियतम का आकर अतिशय मिलन-सुख देना, (विरह-जनित) पीड़ा का निवारण करता है, (पर साथ ही साथ) भावी विरह का (संकेत) तथा (पूर्व के) निष्ठुर व्यवहार का स्मरण (भी) दिला देता है ॥ ६ ॥

तण्णम् तुऱैवन् तणन्दमै नम्मिनुम्
मुन्नम् उणर्न्द वळै ॥ ७ ॥

शीतल उर करनेवाले प्रिय के बिछोह का दुख-संवाद।
शिथिल चूड़ियाँ क्षीण कलाई की हैं प्रथम दिलातीं याद ॥ ७ ॥

शीतल घाट का नायक बिछुड़ जायेगा, यह बात मुझसे पहले ही इन चूड़ियों को पता लग गयी। (अर्थात् मेरे हाथ क्षीण हो गये और चूड़ियाँ खिसक गयीं।) ॥ ७ ॥

नॆरुनट्ऱुच् चॆन्ऱारॆम् कादलर् यामुम्
ऎऴुनाळेम् मेनि पशन्दु ॥ ८ ॥

है कल ही की बात कि प्रिय परदेस गये हैं, बिछुड़ा संग।
किन्तु सात दिन पहले ही से तन में छाया पीला रंग ॥ ८ ॥

मेरे प्रिय कल ही मुझे छोड़कर गये, (पर) हमारी देह को पीलापन प्राप्त हुए सात दिन बीत गये ॥ ८ ॥

तॊडिनोक्कि मॆन्तोळुम् नोक्कि अडिनोक्कि
अःदाण्डु अवळ्शॆय् ददु ॥ ९ ॥

क्षीणस्कन्ध, शिथिल चूड़ी, डगमग पैरों की ओर निहार।
प्रिय के संग अनुगमन का दरसाती है नायिका विचार ॥ ९ ॥

अपनी चूड़ियों को देखकर, फिर अपने कंधों को देखकर, और फिर अपने पैरों की ओर देखकर उसने इस प्रकार साथ गमन करने का संकेत किया ॥ ९ ॥

पॆण्णिनार् पॆण्मै उडैत्तॆन्ब कण्णिनार्
कामनोय् शॊल्लि इरवु ॥ १० ॥

---

१ फिर भावी वियोग २ जो वियोग पहले हो चुका है।

काम-वेदना नयनों से झाँकती, प्रेम का चहती दान।
नारि-स्वभाव सहज! यह नारी में करता श्रीवृद्धि महान ॥ १० ॥

काम-रोग को प्रकटकर, नयनों से इंगितकर (उसे दूर करने की) याचना करने का (भाव) स्वयं-सुलभ स्त्रीत्व को और भी स्त्रीत्व प्रदान करता है, यों जानकार लोगों का कहना है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १२९

पुणर्च्चिविदुम्बल् (मिलन-उत्कंठा)

उळ्ळक् कळित्तलुम् काण महिऴ्दलुम्
कळ्ळुक्किल् कामत्तिऱ् कुण्डु ॥ १ ॥ (नायिका स्वगत)

सुमिरन में आनन्द, दरस पाने पर अतुलनीय उल्लास।
सुलभ न मदिरा में; इन दोनों का वस्तुतः 'काम' में वास ॥ १ ॥

स्मृति-मात्र से प्रसन्नता और दर्शन-मात्र से उल्लास ये दोनों गुण शराब में नहीं हैं, पर काम-भाव में हैं ॥ १ ॥

तिऩैत्तुणैयुम् ऊडामै वेण्डुम् पऩैत्तुणैयुम्
कामम् निऱैय वरिऩ् ॥ २ ॥

प्रियतम से यदि प्रेम मिल रहा हो विशाल तरु-ताल[1] समान।
दाना भर भी उदासीनता घातक है प्रिय के प्रति मान[2] ॥ २ ॥

प्रेम जब ताड़ के समान बड़ी मात्रा में आ रहा हो (अर्थात् मिल रहा हो) तो प्रिय से तिल बराबर भी मान नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

पेणादु पॆट्पवे शॆय्यिऩुम् कॊण्कऩैक्
काणा तमैयल कण् ॥ ३ ॥

यद्यपि मुझसे उदासीन हैं, विमुख सदा रहते निज राह।
फिर भी बिना उन्हें देखे, मेरे नयनों का नहीं निबाह ॥ ३ ॥

यद्यपि (प्रिय) मुझसे प्रेम न कर, अपनी इच्छानुसार काम करते हैं, तो भी मेरी आँखों को उन्हें देखे बिना चैन नहीं मिलता ॥ ३ ॥

ऊडऱ्कण् शॆऩ्ऱेऩ्मऩ् तोऴि अदुमऱन्दु
कूडऱ्कण् शॆऩ्ऱदॆऩ् नॆञ्जु ॥ ४ ॥

---

१ ताड़ का वृक्ष २ रूठना।

मिलने गई, तिरस्कृत करने, मन में लिए रोष का भाव ।
किन्तु दरस पाते ही घुल-मिल गई, प्रेम का सहज स्वभाव ॥ ४ ॥

सखी ! मैं उनसे मान करने का विचारकर उनसे रूठने के लिए गयी, पर मेरा मन यह भूलकर उनसे मिलने के लिए (प्रस्तुत हो) गया ॥ ४ ॥

ऍऴुदुङ्गाऱ् कोल्काणाक् कण्णेपोऱ् कॊण्कऩ्
पऴिकाणेऩ् कण्ड विडत्तु ॥ ५ ॥

नयन आँजते समय, सलाई पर नैनों का कभी न ध्यान ।
वैसे ही प्रिय के दोषों का कभी न होता मुझको भान[1] ॥ ५ ॥

अंजन आँजते समय जैसे आँखें शलाका को नहीं देखतीं, वैसे ही प्रिय को देखते समय उनके दोष मैं नहीं देखती ॥ ५ ॥

काणुङ्गाऱ् काणेऩ् तवऱाय काणाक्काऱ्
काणेऩ् तवऱल् लवै ॥ ६ ॥

जब प्रियतम प्रत्यक्ष, न तब उनके दोषों पर जाता ध्यान ।
दोषों के अतिरिक्त न लखती, होते ही प्रिय-अंतर्धान[2] ॥ ६ ॥

जब मैं प्रियतम को देखती हूँ तो उनके दोषों को नहीं देखती और जब उन्हें नहीं देखती तो उनके दोषों के सिवाय कुछ नहीं देखती ॥ ६ ॥

उय्त्तल् अऱिन्दु पुऩल्पाय् पवरेपोल्
पॊय्त्तल् अऱिन्दॆऩ् पुलन्दु ॥ ७ ॥

प्रबल बहाव, न उसमें पड़ कर, पा सकता कोई निस्तार[3] ।
प्रेम-प्रवाह अथाह ! जानकर मान-गुमान[4] सकल बेकार ॥ ७ ॥

प्रवाह (साथ) बहा ले जायेगा यह जानकर भी तेज प्रवाह में कूदनेवाले की तरह ही निष्फलता जानकर भी मान करने से क्या लाभ ? ॥ ७ ॥

इऴित्तक्क इऩ्ना शॆयितुम् कऴित्तार्क्कुक्
कळ्ळट्ऱे कळ्वनिऩ् माऱ्पु ॥ ८ ॥

दुखदायी मदिरा ! मद्यप को जीवनीय[5], सुख का आगार ।
उसी भाँति, चितचोर छली का वक्षस्थल मेरा आधार ॥ ८ ॥

हे वंचका ! मद्यप को मद्यपान चाहे जितना निन्दाजन्य दुःख क्यों न दे पर (उसकी इच्छा बढ़ती ही जाती है) उसी प्रकार हमारे लिए तुम्हारा वक्षस्थल है ॥ ८ ॥

---

१ अनुभूति, ज्ञान २ अनुपस्थित ३ पार पाना ४ रूठना और गर्व ५ जीवन का आधार ।

(नायक स्वगत)

मलरिऩुम् मॆल्लिदु कामम् शिलरदऩ्
शॆव्वि तलैप्पडु वार् ॥ ९ ॥

प्रेम वस्तुतः कोमल सुमनों से भी कहीं अधिक सुकुमार।
विरले ही जन धन्य, सती का जिनको मिलता सच्चा प्यार ॥ ९ ॥

प्रेम सुमनों से भी (अधिक) कोमल होता है। इस सत्य को जानकर उसके शुभ-फलों को प्राप्त करनेवाले जन बिरले ही हैं ॥ ९ ॥

कण्णिल् तुऩित्ते कलङ्गिऩाळ् पुल्लुदल्
ऎन्ऩिऩुम् ताऩ्विदुप् पुट्रु ॥ १० ॥

नयन कटाक्ष सरोष, किन्तु मन में मिलने की छाई पीर।
दरस हुआ, बस आलिङ्गन-आबद्ध हुई वह प्रेम-अधीर ॥ १० ॥

(केवल) आँखों से मान दिखाकर, मिलन के लिए मुझसे अधिक उत्कंठित होकर बाला (अपने मान को भूलकर) मुझसे तत्काल गले मिली ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १३०

नॆञ्जॊडुपुलत्तल् (हृदय से अनुयोग[१])

अवर्नॆञ्जु अवर्क्कादल् कण्डुम् ऎवऩ्नॆञ्जे
नीऎमक्कु आहाददु ॥ १ ॥

उनका मन तो उनके वश में, देता उन्हें पूर्ण सहयोग।
रे मन! तू भी प्रिय-समीप ही जाता, देकर मुझे वियोग ॥ १ ॥

हे मेरे वन! उनका मन तो उनका है और उनका ही साथ देता है, यह देखकर भी तू मेरे साथ क्यों नहीं रहता? (उनके पीछे क्यों भटकता है?) ॥ १ ॥

उऱाअ तवर्क्कण्ड कण्णुम् अवरैच्
चॆऱाअरॆऩच् चेऱिऎऩ् नॆञ्जु ॥ २ ॥

मन! तेरी परवाह न प्रिय को, उनकी निर्ममता[१] को जान।
'हों न रुष्ट प्रिय', इसी लिए तेरा प्रियतम की ओर पयान ॥ २ ॥

हे मन! प्रिय की निर्ममता देखकर भी उन्हें देखते ही 'वे नाराज न हों' यह सोचकर तू उनके पास चल पड़ा! ॥ २ ॥

---

१ निर्दयता।

कॆट्टार्क्कु नट्टारिल् ऎन्बदो नॆञ्जे नी
पॆट्टाङ्गु अवर्पिन् शॆलल् ॥ ३ ॥

प्रिय के पीछे सदा लगे रहते हो, मुझ दुखिया को त्याग।
मित्र दुखी का कौन, अरे मन ? इसी हेतु क्या तुझे विराग[१] ? ॥ ३ ॥

हे मन ! तुम अपनी इच्छानुसार ही उनके (पीछे) पीछे क्या यह सोचकर चल रहे हो कि दुःख से पीड़ित (व्यक्ति) का कोई साथी नहीं होता ? ॥ ३ ॥

इऩिअऩ्ऩ निऩ्ऩॊडु शूऴ्वार्यार् नॆञ्जे
तुऩिशॆय्दु तुव्वाय्काण् मट्रु ॥ ४ ॥

क्षणिक रूठना व्यर्थ ! दरस पाते ही प्रिय में होता लीन।
मन वञ्चक ! तेरे बिन कैसे धैर्य पा सकूँगी मैं दीन ? ॥ ४ ॥

हे मन ! तू (उनसे) पहले मानकर; बाद में आत्मसमर्पण कर। यह मेरी सलाह है। तेरे अतिरिक्त कौन यह युक्तियाँ खेलेगा। ॥ ४ ॥

पॆऱाअमै अञ्जुम् पॆऱिऩ्पिरि वञ्जुम्
अऱाअ इडुम्बैत्तॆऩ् नॆञ्जु ॥ ५ ॥

मिलने पर वियोग का भय है; मिलन न होना भी दुखदैन[२]।
दोनो हालत में, प्रिय से मेरा मन कभी न पाता चैन ॥ ५ ॥

प्रिय नहीं मिलते तो (न मिल पाने का) भय, मिलते हैं तो फिर से वियोग का भय; इस प्रकार मेरा मन (वियोग हो या संयोग) चिरदुखी रहता है ॥ ५ ॥

तऩिये यिरुन्दु निऩैत्तक्काल् ऎन्ऩैत्
तिऩिय यिरुन्ददॆऩ् नॆञ्जु ॥ ६ ॥

प्रिय की याद अकेले में करती हूँ, उर में लिये विलाप।
तब भी साथ नाथ के रह, मन मुझको ही देता संताप ॥ ६ ॥

प्रियतम से अलग रहकर जब मैं उनके दोषों को याद करती थी तो मेरा मन मेरे साथ रहकर जैसे मुझे खा रहा था ॥ ६ ॥

नाणुम् मऱन्देऩ् अवर्मऱक् कल्लाऎऩ्
माणा मडनॆञ्जिऱ् पट्टु ॥ ७ ॥

अधम-मूर्ख इस मन की संगति में दयनीय दशा यह आज।
प्रियतम को तो भूल न पाई, बिसर गई निश्चय सब लाज ॥ ७ ॥

---

१ मुझसे विरक्ति २ दुखदायी।

प्रिय को भूल न सकनेवाले मेरे आत्मसम्मानरहित मन के साथ मिलकर, मैं लज्जा को भी भूल गयी ।। ७ ।।

ऍळ्ळिन् इळिवामॆन् ऱॆण्णि अवर्तिऱम्
उळ्ळुम् उयिर्क्कादल् नॆञ्जु ।। ८ ।।

मन उदास होता, यदि प्रिय के प्रति करती निन्दा-अनुयोग।
सुमिर गुणों को प्रिय के बेशक उर को होता सुख-संयोग ।। ८ ।।

जीवनधन से प्रेम करनेवाला यह मन, (हमारी उपेक्षाकर चले गये इसलिए हम भी) प्रिय की उपेक्षा करें तो वह निन्दनीय बात होगी, यों सोचकर, प्रिय के गुणों का स्मरण करता है ।। ८ ।।

तुन्बत्तिऱ्कु यारे तुणैयावार् तामुडैय
नॆञ्जम् तुणैयल् वऴि ।। ९ ।।

अपना ही मन साथ न देता, चल देता है प्रिय के संग।
अन्य किसी से सुख-सहायता पाने का फिर कहाँ प्रसंग ? ।। ९ ।।

संकट आने पर (भला) कौन सहायता करेगा, जबकि (स्वयं अपना) मन ही सहायता नहीं करता ! ।। ९ ।।

तञ्जम् तमरल्लर् ऎदिलार् तामुडैय
नॆञ्जम् तमरल् वऴि ।। १० ।।

अपना ही मन सगा नहीं, मुझसे हट, प्रिय से सदा लगाव।
अन्य सगा यदि नहीं जगत में, अजब[1] नहीं ! यह सहज स्वभाव ।। १० ।।

(एक व्यक्ति का) अपना मन ही जब बन्धु नहीं बनता तो अन्य जन बन्धु न बनें यह बात सहज-स्वाभाविक ही है ।। १० ।।

अदिहारम् (अध्याय) १३१

पुलवि (मान करना, रूठना)

पुल्ला तिराअप् पुलत्तै अवरुऱुम्
अल्लनोय् काण्हम् शिऱिदु ।। १ ।।

असंयमित[2] आतुर[3] हो अर्पण करो न प्रिय को, रक्खो धीर।
लें आनन्द, मानिनी[4] को लख कितने आकुल और अधीर ।। १ ।।

---

१ आश्चर्यजनक २ धैर्य खोनेवाली ३ बेसब्र, अधीर ४ रूठनेवाली (प्रिया को)।

दुःख सहते हुए उनको हम जरा देखें, इसलिए उनको आलिंगन मत करना, बल्कि मानकर, थोड़ा ठहर जाना ।। १ ।।

उप्पमैन् दट्ऱाऱ् पुलवि अदुशिऱिदु
मिक्कट्ऱाल् नीळ विडल् ।। २ ।।

कभी कभी का मान[1] उचित, ज्यों लवण खाद्य में लाता स्वाद ।
अधिक रूठना, अधिक नमक सम, उपजाता है प्रेम-विषाद ।। २ ।।

जिसप्रकार भोजन में नमक होता है, जान लो कि उसी प्रकार प्रणय-कलह है ! यदि उसे जरा बढ़ा दो तो ज़्यादा नमक (हो जाने पर भोजन की जो स्थिति होगी, उसी) के समान है ।। २ ।।

अलन्दारै अल्लनोय् शॆय्दट्ऱाल् तम्मैप्
पुलन्दारैप् पुल्ला विडल् ।। ३ ।।

रूठे मन को अगर न रक्खा[2], किया न उसको अगर प्रसन्न ।
प्रेमपगे के दुखित हृदय को मानो करना अधिक विषन्न[3] ।। ३ ।।

अपने से मानकर रूठी हुई प्रेमिका को मनाकर उससे न मिलना, तो पहले (ही से) दुखी व्यक्ति को और बड़ा दुःख देना है ।। ३ ।।

ऊडि यवरै उणरामै वाडिय
वळ्ळि मदलरिन् दट्ऱु ।। ४ ।।

रूठे को यदि नहीं मनाया, नहीं मिटाया उर का शूल ।
सूख रही जो बेल बिचारी, मानो उसे किया निर्मूल ।। ४ ।।

मानकर बैठी हुई (प्रिया) को यदि नहीं मनाया तो वह तो ऐसा ही है जैसे पहले ही से सूखी वल्लरी को जड़ से काट डाला जाये ! ।। ४ ।।

नलत्तहै नल्लवर्क् कॆऍर् पुलत्तहै
पूवन्ऩ कण्णा रहत्तु ।। ५ ।।

सत्पुरुषों को भी न अशोभित, होता उन्हें सहज आनन्द ।
कुसुम-नयन प्रियतमा रूठ कर प्रेमदान कर देती बन्द ।। ५ ।।

श्रेष्ठगुणयुक्त श्रेष्ठ पुरुष के लिए भी यह आनन्द ही की बात होगी, यदि कुसुमनेत्रों वाली प्रियतमा उनसे यथेष्ट रूठ जाये ।। ५ ।।

तुन्ऩियुम् पुलवियुम् इल्लायिन् कामम्
कन्ऩियुम् करुक्कायुम् अट्ऱु ।। ६ ।।

---

१ रूठना २ मन को मनाकर ३ विषण्ण, दुखी ।

गलित[1] अतिपके[2] फल के तद्वत्[3], अगर प्रेम में घोर विषाद।
मान-मनौनी बिना प्रेम, कच्चे फल के समान निःस्वाद॥ ६॥

यदि उग्र प्रणय-कलह उपस्थित हो, या कभी मान ही न हो, तो प्रेम क्रमशः अत्यधिक पके फल या एकदम कच्चे फल के समान (आनन्द देने में अनुपयुक्त) होगा॥ ६॥

ऊडलिऩ् उण्डाङ्गोर् तुऩ्बम् पुणर्वदु
नीडुव तऩ्ऱुकॊल् ॲऩ्ऱु॥ ७॥

अधिक रोष संशय उपजाता, क्या अब नहीं मिलन-संयोग ?
मिलन दूर या निकट, हृदय में शंका उपजाती दुख-योग॥ ७॥

"क्या अब मिलन-सुख और नहीं बढ़ेगा" यों शंका का भाव रहने के कारण भी प्रणय-कलह में (प्रेमियों को) दुःख मिलता है॥ ७॥

नोदल् ॲवऩ्मट्ऱु नॊन्दारॆऩ् ऱःदऱियुम्
कादलर् इल्ला वऴि॥ ८॥

दुख से दुखी न मेरे दुख की अगर किसी को है परवाह।
किसके लिए, और क्यों ढोऊँ असहनीय यह दुक्ख अथाह॥ ८॥

"ये हमारे कारण दुखी हैं" यह समझने वाले प्रिय व्यक्ति यदि नहीं हैं तो दुखी होने से क्या लाभ है ?॥ ८॥

नीरुम् निऴलदु इऩिदे पुलवियुम्
वीऴुनर् कण्णे इऩिदु॥ ९॥

शीतलछाया-तीर[4] नीर ही देता जल का मंजुल स्वाद।
जिसके मन में प्रेम उसीसे निभता सुमधुर मान-विवाद[5]॥ ९॥

जल भी छाया के पास रहे तभी सुमधुर होता है, उसी प्रकार प्रणय-कलह भी प्रेम करनेवाले से हो तभी मधुर होता है॥ ९॥

ऊडल् उणङ्ग विडुवारो डॆऩ्ऩॆञ्जम्
कूडुवेम् ॲऩ्ब दवा॥ १०॥

मानिनि को न मनाना, उलटे सुख से करना निपट निराश।
वृथा मोह के सिवा न, ऐसे निर्मोही से करना आश॥ १०॥

मान करने के बाद मनाकर आनन्द न देकर, मुरझा देनेवाले के साथ मेरा मन मिलने की जो इच्छा रख रहा है उसका कारण उसका मोह ही है॥ १०॥

---

१ गले हुए   २ अत्यधिक पके हुए   ३ समान   ४ ठंढी छाँह के नीचे   ११ मान और रूठना।

अदिहारम् (अध्याय) १३२

पुलविनुणुक्कम् (झूठा रोष)

(नायिका नायक के प्रति स्वगत)

पॅण्णियलार् ॲल्लारुम् कण्णिऩ् पॊदुउण्बर्
नण्णेन् परत्तनिऩ् मार्बु ॥ १ ॥

सुन्दरियों को सुलभ सदा सम्भोग, सभी को है उपभोग्य।
दूर सदा मैं कभी न ऐसे छलिया[1] के आलिङ्गन-योग्य ॥ १ ॥

हे परस्त्रीगामी ! सभी स्त्रियाँ समान भाव से अपने-अपने नयनों से तुम्हारे वक्ष का भोग करती हैं, मैं तुम्हारे वक्ष से संयोग नहीं करूँगी ॥ १ ॥

ऊडि इरुन्देमात् तुम्मिऩार् याम्तम्मै
नीडुवाऴ् हॅऩ्बाक् करिन्दु ॥ २ ॥

युगल[2] मौन[3] थे, छींक यकायक उठे, कर दिया मुझे निरास।
'रहो चिरायु', कहीं कह कर मैं पहुँच न जाऊँ उनके पास ॥ २ ॥

हम प्रिय से मानकर बैठे थे। उन्हें लगा कि 'चिरंजीव रहो' यों कहकर हम बात कर बैठेंगे इसलिए वे छींक उठे ॥ २ ॥

(नायक स्वगत)

कोट्टुप्पूच् चूडिऩुम् कायुम् ऑरुत्तियैक्
काट्टिय शूडिऩीर् ॲऩ्ऱु ॥ ३ ॥

उसे रिझाने हेतु, सुमन-सज्जित हो ज्योंही जाता तीर।
'किस सुमुखी के लिए साज यह ?', कह उठती वह रुष्ट अधीर ॥ ३ ॥

मैं (उसे आकर्षित करने के लिए) डालियों पर खिले फूलों को धारण करता हूँ तो भी "आप किसी और स्त्री को दिखाने के लिए ये साज कर रहे हैं" यों वह नाराज होकर कह उठती है ॥ ३ ॥

यारिऩुम् कादलम् ॲऩ्ऱेऩा ऊडिऩाऴ्
यारिऩुम् यारिऩुम् ॲऩ्ऱु ॥ ४ ॥

'तू मुझको सर्वाधिक प्रिय !', इस सहज वाक्य से लेती सार[4]।
कह उठती 'सब कौन ?' 'अधिक किससे मुझको करते हो प्यार ?' ॥ ४ ॥

"सबसे बढ़कर मैं तुम्हें प्यार करता हूँ" यों मेरे कहने पर वह "किस से बढ़कर" कहकर मुझसे रूठने लगी ॥ ४ ॥

---

१ छली, वञ्चक २ दोनो ही ३ खामोश मान किये हुए ४ आशय।

इम्मैप् पिऱप्पिर् पिरियलम् ॲन्ऱेनाक्
कण्णिऱै नीर्कॊण् डनळ् ॥ ५ ॥

'इस जीवन में विलग[1] न होंगे', मुँह से प्रगट हुआ उद्‌गार[2] ।
'अगले जीवन में बिछोह' से शंकाकुल[3] वह उठी निहार[4] ॥ ५ ॥

"इस जन्म में हम अलग नहीं होंगे" यों मेरे कहने पर (दूसरे जन्म में अलग हो जायेंगे यों सोचकर) वह नयनों में जल भर लाई ॥ ५ ॥

उळ्ळिनेन् ॲन्ऱेन्मट्ऱु ॲन्मऱन्दीर् ॲन्ऱेन्नैप्
पुल्लाळ् पुलत्तक् कनळ् ॥ ६ ॥

सहज वचन निकले कि 'तुम्हारी अभी मुझे आई थी याद' ।
'अब से पहले क्यों बिसरी[5] ?', तज आलिंगन, कर लिया विवाद ॥ ६ ॥

'स्मरण किया' यों कहने पर 'भूले क्यों थे ?' यों कहकर मुझे आलिंगन किये बिना मानकर वह रूठ गयी ॥ ६ ॥

वऴुत्तिनाळ् तुम्मिने नाह अऴित्तऴुदाळ्
यारुळ्ळित् तुम्मिनीर् ॲन्ऱु ॥ ७ ॥

आई छींक, 'शतायु'[6] कहा, फिर अकस्मात् हो गई उदास ।
'किस सुभगा[7] की याद सताने लगी, पूछ कर भरी उसास[8] ॥ ७ ॥

मैं छींक पड़ा, तो (वह) आशीर्वचन दे बैठी; फिर तुरन्त बात बदलकर 'किसके स्मरण करने से तुम छींके ?' यों कह दुःख से रो दी ॥ ७ ॥

तुम्मुच् चॆऱुप्प अऴुदाळ् नुमरुळ्ळल्
ॲम्मै मऱैत्तिरो ॲन्ऱु ॥ ८ ॥

रूठ न जाये, इस कारन वह छींक दबाते मुझको जान ।
'किसकी याद छिपाते मुझसे', रोकर बोल उठी नादान ॥ ८ ॥

कहीं वह रूठ न जाये यह सोचकर मैं छींक दबाता रहा तो वह यह बोलकर रो उठी कि "अपनी कोई यादकर रही है, उसे छिपाना चाहते हैं, है ना ?" ॥ ८ ॥

तन्नै उणर्त्तिनुम् कायुम् पिऱर्क्कुनीर्
इन्नीरर् अहुदिर् ॲन्ऱु ॥ ९ ॥

कुपित प्रिया को लगा मनाने, त्यों ही निकला तीखा व्यंग ।
औरों को भी तुष्ट सदा करने का यही तुम्हारा ढंग ॥ ९ ॥

---

१ पृथक् २ मन के भाव ३ सन्देह से भयभीत ४ ताकने लगी ५ भूली हुई थी ६ सौ वर्ष चिरञ्जीव रहो (छींक आने पर स्वास्थ्य का लक्षण मानकर यह कहा जाता है ।) ७ सुन्दरी ८ दुखभरी साँस ।

रूठी हुई को मनाता हूँ तो यह कहकर रुष्ट होती है कि "आप अन्यों को भी इसी तरह से तुष्ट करते होंगे।" ॥ ९ ॥

निऩ्ऩैत्तिरुन्दु नोक्किऩुम् कायुम् अऩ्ऩैत्तुनीर्
यारुळ्ळि नोक्किऩीर् अॆऩ्ऱु ॥ १० ॥

उर में बसी, प्रिया की छबि को एक मात्र, मैं रहा निहार[1]।
'किस ललना की तुलना में हो मग्न ?', कर उठी वाक्प्रहार[2] ॥ १० ॥

उसके सौन्दर्य के बारे में सोचहा हुआ चुपचाप बैठा रहता हूँ तो "आप किसे सोचकर (तुलना करते हुए) सब देख रहे हैं ?" यों वह क्रुद्ध होने लगती है ॥ १० ॥

अदिहारम् (अध्याय) १३३

ऊडलुवहै (रूठने में आनन्द !)

(नायिका स्वगत)

इल्लै तवऱुवर्क् कायिऩुम् ऊडुदल्
वल्लदु अवरळिक्कुम् आऱु ॥ १ ॥

प्रिय मेरे निर्दोष ! किन्तु प्रेरित करता है फिर भी प्यार।
रूठूँ, और मनाना उनका— लूटूँ यह आनन्द अपार ॥ १ ॥

यद्यपि प्रिय निर्दोष हैं, पर उनका प्रणय-विधान मुझे प्रेरित करता है कि मैं मान करूँ ॥ १ ॥

ऊडलिल् तोऩ्ऱुम् शिऱुदुऩि नल्लळि
वाडिऩुम् पाडु पॆऱुम् ॥ २ ॥

करती हूँ जब मान, नाथ के मन पर होता है कुछ क्लेश।
क्लेशजन्य प्रिय-प्रेम किन्तु देता है उर को सुक्ख विशेष ॥ २ ॥

मान से पैदा हुए छोटे दुःख से यद्यपि प्रिय का प्रेम थोड़ा-सा मुरझा जाता है, फिर भी उसमें बहुत गौरव है ॥ २ ॥

पुलत्तलिऱ् पुत्तेळ्नाडु उण्डो निलत्तॊडु
नीरियैन् तऩ्ऩा रहत्तु ॥ ३ ॥

---

१ ताक रहा था २ वचनों से चोट की।

जल-मिट्टीवत्[1] है अभिन्न जब प्रीति परस्पर एक समान।
मौन, मान, रूठना न दुखकर, वह भी है सुख-स्वर्ग-निदान[2] ॥ ३ ॥

मिट्टी और पानी के मिलन के समान जिस प्रिय का प्रेम है उनसे परस्पर रूठने और मान करने में भी कलह स्वर्ग-(सुख) प्राप्त से क्या बढ़कर नहीं है ? ॥ ३ ॥

पुल्लि विडाअप् पुलवियुळ् तोन्ऱुमॆन्
उळ्ळम् उडैक्कुम् पडै ॥ ४ ॥

मान-रूठना श्रेयस्कर है, प्रेममिलन जिसका परिणाम।
प्रीति-सुरक्षा के हित में वह मान कवच का देता काम ॥ ४ ॥

जो मान प्रिय से मिलन साध्यकर उनसे बिछुड़ने नहीं देता, वह द्वन्द्व मेरे हृदय का स्फोट कराने में समर्थ सैन्य-सा दिखाई देता है ॥ ४ ॥

(नायक स्वगत)

तवऱिल रायिनुम् ताम्वीऴ्वार् मॆन्ऱोळ्
अहऱलिन् आङ्गॊन् ऱुडैत्तु ॥ ५ ॥

निरपराध हूँ ! किन्तु प्रिया आलिंगन त्याग, दिखाती रोष।
अस्थिर रोष प्रियतमा का भी मुझको देता सुख-सन्तोष ॥ ५ ॥

निर्दोष होने पर भी (प्रिया के मान का कारण बनने से) जब प्रिया का कोमल स्कन्ध मिलन से छूटा हुआ होता है तब उस (अलगाव) में भी एक आनन्द होता है ॥ ५ ॥

उणलिनुम् उण्डदु अऱलिनिदु कामम्
पुणर्दलिन् ऊडल् इनिदु ॥ ६ ॥

पच जाये आहार, न सुखकर तब तक बार-बार आहार।
प्रेममिलन से अधिक उसी विधि मान-रूठना सुख का द्वार ॥ ६ ॥

(दुबारा) भोजन करने की अपेक्षा पहले किये हुए भोजन का पचना अधिक सुखकारी होता है, उसी प्रकार प्रेम में मिलन की अपेक्षा मान अधिक सुखद है ॥ ६ ॥

ऊडलिल् तोट्ऱवर् वॆन्ऱार् अदुमन्नुम्
कूडलिऱ् काणप् पडुम् ॥ ७ ॥

सदा 'पराजित' 'जय' पाता है, युगल प्रेमियों में जब द्वन्द[3]।
क्योंकि द्वन्द्व के बाद बिलसता है वह अतुलनीय आनन्द ॥ ७ ॥

१ जल और मिट्टी जिस प्रकार घुले-मिले रहते हैं २ हेतु ३ झगड़ा, मान, रूठना।

जो प्यार के झगड़ों में पराजित होता है, उसे जय का योग मिलता है; यह (बात) तो तब जानी जायेगी, जब संयोग होगा ॥ ७ ॥

ऊडिप् पॆरुहुवम् कॊल्लो नुदल्वॆयर्प्पक्
कूडलिल् तोन्ऱिय उप्पु ॥ ८ ॥

क्या सुखकर परिणाम न होगा, मान-रूठने के उपरान्त ?
पुर्नमिलन पर कितना होगा सुलभ युगल को स्नेह अनन्त ! ॥ ८ ॥

सुन्दर ललाट पर पसीना आ जाये इस प्रकार (गाढ़) मिलन (अर्थात् आलिंगन) का आनन्द रूठकर समझ चुकने के पश्चात् क्या हमें फिर से प्राप्त होगा ? ॥ ८ ॥

ऊडुह मन्नो ऒळियिळै यामिरप्प
नीडुह मन्नो इरा ॥ ९ ॥

रत्नमयी प्यारी के निसि भर चलते रहें मान-अनुयोग[1] ।
निशा-अवधि[2] बढ़ती जाये, कर सकूँ मानिनी का सुख-भोग ॥ ९ ॥

रत्नाभरणों से सजी प्रिया और अधिक रूठे, ताकि हम उसे मनाते रहें, और उस समय तक यह रात बढ़ती रहे ॥ ९ ॥

ऊडुदल् कामत्तिऱ् किन्बम् अदऱ्किन्बम्
कूडि मुयङ्गप् पॆऱिन् ॥ १० ॥

यही प्रेम का सुख है, जब-तब होते रहना मान-गुमान ।
और मान के बाद, पुनः मिलना है अधिक सुक्ख की खान ॥ १० ॥

प्रेम का आनन्द प्रणय-कलह में डूबना है और प्रणय-कलह का आनन्द फिर से उत्साहपूर्वक मिलन में है ॥ १० ॥

---

१ रूठना और शिकायतें २ रात्रि का नियत समय।

॥ कामकांड समाप्त ॥

॥ तिरुक्कुऱळ् सम्पूर्ण ॥

वाणी सरोवर

(अपने ढंग का निराला त्रैमासिक पत्र)

इस पत्र में हिन्दी, उर्दू, अ़रबी, फ़ारसी, संस्कृत, पारसी, बंगला, ओड़िया, मराठी, गुरुमुखी, तमिऴ, मलयाळम, असमी, गुजराती, तेलुगु, कन्नड, सिन्धी, कश्मीरी, राजस्थानी, नेपाली आदि के अनुपम ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद तथा देवनागरी लिपि में उनका मूल पाठ धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है। वार्षिक शुल्क १०·०० मात्र।

नवीन ग्राहक बननेवाले सज्जनों को सन् १९७० से अब तक का १०·०० प्रतिवर्ष के हिसाब से शुल्क भेजना उनके हित में होगा। बीते हुए वर्षों के अंक न मँगाने पर धारावाहिक चलनेवाले पहले से शुरू अनेक ग्रंथ उनके संग्रहालय में अपूर्ण रह जायँगे। वैसे ट्रस्ट को आपत्ति नहीं है; आप जिस वर्ष से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

सभी ग्रंथों का मूलपाठ नागरी लिपि में और अनुवाद हिन्दी में है:—

	सम्पूर्ण हो चुके ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या	मूल्य
अ़रबी	ज़ादे सफ़र (अ़रब में अति प्रामाणिक हूदीस)	३३६	१२·००
बंगला	कृत्तिवास रामायण (१५वीं शती) लंकाकाण्ड हिन्दी गद्यानुवाद, नागरी लिप्य०	४८८	१५·००
,,	,, ,, (आदि, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दरकाण्ड) पद्यानुवाद, नागरी लिप्य०	६२४	२५·००
मलयाळम	महाभारत (एऴुत्तच्छन् कृत—१५वीं शती) हिन्दी अनुवाद सहित नागरी लिप्यन्तरण	१२१६	४०·००
कश्मीरी	रामावतारचरित—प्रकाशरामकुर्यग्रामी (१८वीं शती) हिन्दी अनु० नागरी लिप्य०	४८०	२०·००
फ़ारसी	सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत उपनिषद्-भाष्य) खण्ड—१ (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर)	२८०	२०·००
उर्दू	शरीफ़ज़ाद: (डॉ० रुस्वा कृत) नागरी लिप्यन्तरण	१३६	५·००
गुरुमुखी	श्रीजपुजी-सुखमनी साहब—नागरी लिपि में मूल गुरुमुखी पाठ एवं ख़्वाज: दिलमुहम्मद कृत पद्यानुवाद	१६४	५.००
मराठी	श्रीराम-विजय (श्रीधर स्वामी कृत—१७वीं शती) सानुवाद मूलपाठ	१२२५	४५·००
नेपाली	भानुभक्त रामायण हिन्दी अनुवाद सहित मूलपाठ	३४४	२०·००
तमिऴ	तिरुक्कुरळ् (तिरुवल्लुवर कृत) २००० वर्ष प्राचीन (हिन्दी गद्य-पद्य अनुवाद एवं तमिऴपाठ का ना० लिप्य०)	३५२	२०·००

★ अरबी सम्पूर्ण क़ुर्आन शरीफ़ (सटीक) अरबी नागरी, दोनों लिपियों में मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणी (द्वि.सं.)		१०२४	४०·००
★ ,, ,, ,,	(मुअर्रा-मूल) अरबी	५२०	२०·००
★ क़ुर्आन शरीफ़	केवल हिन्दी अनुवाद सटिप्पण	५३०	२०·००

ये सानुवाद लिप्यन्तरण-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं :—

भाषा	विवरण	अनुमानित पृष्ठ,	मुद्रित
तमिळ	कम्ब रामायण (१४वीं शती)	२०००	×
बंगला	कृत्तिवास रामायण (१५वीं शती)—उत्तरकाण्ड	४००	×
मलयाळम	एळुत्तच्छन् कृत अध्यातम रामायण (१५वीं शती)	१५००	२४०
गुजराती	गिरधर रामायण (१९वीं शती)	१५००	४९६
असमिया	माधवकंदली रामायण (१४वीं शती)	११००	२६४
तेलुगु	रंगनाथ रामायण (१३वीं शती)	१७००	४९६
,,	मोल्ल रामायण (१४वीं शती)	५००	×
ओड़िया	बैदेहीश-विळास (उपेन्द्रभंज कृत–१८ वीं शती)	१०००	५८४
कन्नड	अभिनव पम्प रामायण (जैन सम्प्रदाय–११वीं शती)	१५००	४७२
सिन्धी	'सामी', 'शेख़', 'सचल' की त्रिवेणी	१५००	२४०
कश्मीरी	लल्लद्यद	३००	×
गुरुमुखी	श्रीगुरुग्रन्थ साहिब हिन्दी अनुवाद सहित	५६००	१२०
उर्दू	गुज़श्तः लखनऊ—मौ० अब्दुल हलीम शरर	३५०	१४४
राजस्थानी	रुक्मिणी मंगळ पदम भगत कृत ,, ,,	४००	१०४
फ़ारसी	सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत ५० उपनिषदों की व्याख्या हिन्दी में) खण्ड–२,३	१०००	×
संस्कृत	रामचरित मानस—मूलपाठ तथा पंक्ति-अनुपंक्ति संस्कृत पद्यानुवाद	१२००	२००
ओड़िया	,, ,, मूलपाठ ओड़िया लिपि में तथा ओड़िया गद्य-पद्य अनुवाद	१४००	८४८
बंगला	,, ,, मूलपाठ बंगला लिपि में तथा बंगला पद्यानुवाद	१३००	×

★ (१) क़ौरानिक कोश पठनक्रम (२) क़ौरानिक कोश वर्णानुक्रम (३) जदीद उर्दू-हिन्दी कोश—[ये तीन कोश छप रहे हैं]

★ ट्रस्ट से पृथक्, ट्रस्ट के प्रतिष्ठाता (नन्दकुमार अवस्थी) का यह आदिम प्रयास होने के कारण इसकी चर्चा उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार निउ टेस्टामेण्ट के साथ ओल्ड टेस्टामेण्ट का गुंथन अनिवार्य है। यह कार्य ट्रस्ट से पृथक् होते हुए भी ट्रस्ट की आधार-शिला है। ★ तारांकित कार्य ट्रस्ट से पृथक्, लखनऊ किताबघर, लखनऊ-३, से प्रकाशित हो रहे हैं।

ताज़ी विज्ञप्ति

प्रकाशित हो चुके हिन्दी अनुवाद सहित नागरी लिप्यन्तरण ग्रन्थः—

१ गुजराती—गिरधर रामायण (रचनाकाल-१८३५ ई०) हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण पृष्ठ संख्या १४६० मूल्य ६०·००
२ ,, प्रेमानन्द रसामृत— ना० लिप्य० हिन्दी अनुवाद पृ० संख्या ४९६ मूल्य ३५·००
३ मलयाळम—अध्यातम रामायण (एळुत्तच्छन् कृत) १५वीं शती हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण पृ०सं० ७५२ मू० ४०·००
४ ,, —महाभारत-एळुत्तच्छन् (१५वीं शती) पृ० १२१६ मू०६०·००
५ बँगला— कृत्तिवास रामायण (पाँचकाण्ड)—१५वीं शती। हिन्दी पद्या० सहित नागरी लिप्य० पृ० ६२४ मू० २५·००
६ ,, कृत्तिवास लंकाकाण्ड— ,, गद्यानुवाद पृ० ४८८ मू० २५·००
७ ,, ,, उत्तरकाण्ड ,, ,, मूल्य २५·००
८ कश्मीरी—रामावतारचरित-प्रकाशराम कुर्यग्रामी कृत पृ०४८९ मू०२०·००
९ ,, लल्द्यद—(नागरी) हिन्दी गद्य संस्कृत पद्यानु० पृ०१२० ,, १०·००
१० राजस्थानी—रुक्मिणी मंगल पदमभगत कृत। पृ० ३०० मू० १५·००
११ तमिळ— तिरुक्कुरळ्-तिरुवळ्ळुवर कृत। २००० वर्ष से अधिक प्राचीन; नागरी लिप्यन्तरण, गद्य-पद्य हिन्दी अनुवाद, पृ०३५२मू०२०·००
१२ ,, कम्ब रामायण बालकाण्ड (९वीं शती) पृ०६५२ मूल्य ४०·००
१३ ,, ,, अयोध्या-अरण्य पृष्ठ १०२४ मूल्य ७०·००
१४ ,, ,, किष्किन्धा-सुन्दर ,, १०१६ मूल्य ७०·००
१५ ,, ,, युद्धकाण्ड पूर्वार्द्ध ,, १०१६ मूल्य ७०·००
१६ ,, ,, ,, उत्तरार्ध ,, ८४० मूल्य ७०·००
१७ कन्नड— रामचन्द्रचरित पुराणं, अभिनव पम्प विरचित (जैन-मतानुसार रामचरित्र ११वीं शती) पृ० ६९० मूल्य ४०·००
१८ तेलुगु— मोल्ल रामायण (१४वीं शती) पृ० ४०० मूल्य २०·००
१९ ,, रंगनाथ रामायण (१३वीं शती) अनु. पृ. १३३५ मू० ६०·००
२० ,, श्री पोतन्न महाभागवतमु १-४ स्कन्धपृ० ८५६ मूल्य ७०·००
२१ ,, ,, ,, ५-९ ,, मूल्य ७०·००
२२ ,, ,, ,, १०-१२ स्कन्ध मूल्य ७०·००
२३ मराठी—श्रीरामविजय-श्रीधरकृत (१७वीं शती) पृ० १२२८ मू०६०·००
२४ ,, श्रीहरि-विजय (श्रीधर कृत) पृष्ठ १००४ मू० ७०·००
२५ फ़ारसी—सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत उपनिषद-व्या०) २८०मू०२०·००
२६ उर्दू— शरीफ़ज़ादः (मिर्ज़ा रुस्वा कृत) पृ० १३६ मूल्य ८·००
२७ ,, गुज़श्तः लखनऊ (मो० शरर) पृ० ३१६ मूल्य २०·००

ताजी विज्ञप्ति

२८ गुरमुखी—श्री गुरुग्रन्थ साहिब पहली सैंची पृ० ९६८ मूल्य ४०·००
२९ ,, ,, ,, दूसरी सैंची पृ० ९९२ मूल्य ५०·००
३० ,, ,, ,, तीसरी सैंची पृ० ९६४ मूल्य ५०·००
३१ ,, ,, ,, चौथी सैंची पृ० ८०० मूल्य ५०·००

३२ ,, श्री दसम गुरूग्रन्थ साहिब प्रथम सैंची पृ० ८२० मू० ५०·००
३३ ,, ,, ,, ,, दूसरी सैंची पृ० ७०४ मू० ५०·००
३४ ,, ,, ,, ,, यंत्रस्थ मूल्य ५०·००
३५ ,, ,, ,, ,, ,, मूल्य ५०·००
३६ ,, श्रीजपुजी सुखमनी साहब गुरमुखी पाठ तथा ख्वाजः दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानुवाद—दोनों नागरी लिपि में; पृ० १६४ मू० १०·००
३७ ,, सुखमनी साहिब मूल गुटका नागरी लिपि । मूल्य ४·००
३८ सिन्धी— सामी, शाह, सचल की त्रिवेणी पृष्ठ ४१५ मू० २०·००
३९ नेपाली—भानुभक्त रामायण पृ० ३४४ मूल्य २०·००
४० असमिया—माधवकंदली रामायण (१४वीं शती) पृ० ९४३ ,, ६०·००
४१ ओड़िआ—बैदेहीश-बिळास उपेन्द्रभञ्ज (१८वीं शती) पृ० १०००,, ६०·००
४२ ,, तुलसी-रामचरितमानस—ओड़िआ लिपि में मूलपाठ तथा ओड़िआ गद्य-पद्य अनुवाद । पृ०सं० १४६४ मू० ६०·००

४३ संस्कृत—मानस-भारती रामचरितमानस-सहित संस्कृत पंक्ति-अनुपंक्ति पद्यानुवाद । पृ० ७४० मू० ५०·००
४४ ,, अद्भुत रामायण हिन्दी अनुवाद सहित पृ० २४४ मूल्य २०·००

प्रचारित प्रकाशन (ल.कि.घ.)

४५ अरबी क़ुर्आन शरीफ़ मूलपाठ अरबी तथा नागरी लिपि में तथा हिन्दी अनुवाद सहित पृ० १०२४ मू० ४६·००
४६ ,, ,, केवल मूल; अरबी, नागरी दोनों लिपि में पृ० ५२० मू० २३·००
४७ ,, ,, केवल हिन्दी अनुवाद पृ० ५३० मूल्य २३·००
४८ ,, क़ौरानिक कोश (पठनक्रम) पृ० १९२ मूल्य १०·००
४९ ,, ज़ादे सफ़र (रियाज़ुस्सालिहीन) भाग १ पृ० ३३६ मू० १५·००
५० ,, तफ़्सीर माजिदी (पारः १ से ५) क़ुर्आन शरीफ़ अरबी व नागरी, दोनों में मूल पाठ, तथा स्व० मौलाना अब्दुल् माजिद दर्याबादी का अनुवाद एवं वृहत् भाष्य हिन्दी में पृ० ५१२ मूल्य ५०·००
५१ बहुभाषाई— 'वाणी सरोवर' त्रैमासिक पत्र वार्षिक मूल्य १५·००

प्राप्ति-स्थान— भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ-३

भुवन वाणी ट्रस्ट,

'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८ चौपटियाँ रोड, लखनऊ—३

यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हो चुके हैं (सानुवाद देवनागरी लिप्यन्तरण):—

१—(बंगला) कृत्तिवास रामायण-पाँच कांड नागरी लिप्य०, अवधी पद्यानुवाद मूल्य २५·००
२—(बंगला) कृत्तिवास रामायण लंका काण्ड ,, १५·००
३—(मलयाळम) अेंळुत्तच्छन्‌कृत महाभारत हिन्दी अनु० सहित ,, ४०·००
४—(,,) ,, अध्यात्म रामायण ,, ,, ,, ३५·००
५—(कश्मीरी) रामावतारचरित—प्रकाशराम कुर्यग्रामी कृत ,, ,, २०·००
६—(,,) लल्‌द्यद—हिन्दी, संस्कृत अनुवाद सहित ,, ७·००
७—बाइबिल सार (सालोमन के नीतिवचन) संस्कृत उद्धरणयुक्त ,, १·००
८—(उर्दू) श्री 'रुस्वा' कृत शरीफ़ज़ाद: (आर्यपुत्र) नागरी लिपि में ,, ५·००
९—(गुरमुखी) जपुजी तथा सुखमनी साहब—गुरमुखी मूल पाठ तथा ख्वाज: दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानु०—दोनों देवनागरी लिपि में—मूल्य ५·००
१०—(फ़ारसी) सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, श्वेताश्वतर) की फ़ारसीव्याख्या हिन्दी में— ,, २०·००
११—(अरबी) रियाज़ुस्सालिहीन ज़ादे सफ़र (इस्लामी हदीस) प्र० खण्ड ,, १२·००
१२—(तमिळ) तिरुक्कुरळ् नागरी में मूल, हिन्दी गद्य-पद्यानुवाद— ,, २०·००
१३—(मराठी) श्रीराम-विजय—श्रीधर कृत, हिन्दी अनुवाद सहित ,, ४५·००
१४—(नेपाली) रामायण भानुभक्त कृत सानुवाद ,, २०·००
१५—(तेलुगु) मोल्ल रामायण सानुवाद लिप्यन्तरण ,, २०·००
१६—(कन्नड) रामचन्द्र चरित पुराणं—जैनसाहित्य (अभिनव पम्प नागचन्द्रकृत) ,, ४०·००
१७—(राजस्थानी) रुक्मिणीमगल—पदम भगत कृत ,, १५·००
१८—(गुजराती) गिरधर रामायण हिन्दी अनुवाद सहित (दो खण्ड में) ,, ५५·००
१९—(वाणी सरोवर)—उपर्युक्त अनुपम ग्रंथों का सानुवाद धारावाहिक देवनागरी लिप्यन्तरण का त्रैमासिक पत्र—वार्षिक ,, १०·००

ट्रस्ट के अतिरिक्त, सानुवाद देवनागरी-लिप्यन्तरण के अन्य कार्य, जो अन्यत्र हो चुके हैं:—

२०—(अरबी) क़ुरआन (मूल आयतें अरबी व देवनागरी लिपि में, अनुवाद, टिप्पणी सहित)—इस्लामी धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित— मूल्य ४०·००
२१—(,,) क़ौरानिक कोश क़ुर्आन के पठनक्रम से शब्दार्थ ,, १०·००

ट्रस्ट में प्रकाशित हो रहे सानुवाद देवनागरी-लिप्यन्तरण ग्रन्थ (यन्त्रस्थ):—

१—(तमिळ) कम्ब रामायण
२—(तेलुगु) रंगनाथ रामायण
३—(असमिया) माधवकंदली रामायण
४— ,, पोतन्न भागवतमु
५—(हिब्रू) बाइबिल ओल्ड टेस्टामेण्ट हिन्दी अनु० सहित हिब्रू तथा अंग्रेज़ी मूल नागरी
६—(ग्रीक) ,, निउ ,, ,, ,, ,, ग्रीक ,, ,, लिपि में
७—(गुरमुखी) श्रीगुरुग्रंथ साहब
८—(ओड़िआ) बैदेहीशबिळास—उपेन्द्र भञ्जकृत
९—(मराठी) श्रीहरि-विजय—श्रीधर कृत मूलपाठ हिन्दी अनुवाद सहित
१०—(उर्दू) गुज़श्त: लखनऊ—मौ० शरर
११—(फ़ारसी) दाराशिकोह कृत ५० उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या का धारावाहिक हिन्दी अनुवाद (द्वि० खण्ड)
१२—(अरबी) रियाज़ुस्सालिहीन (हदीस)—(ज़ादे सफ़र) द्वि० खण्ड
१३—(सिंधी) स्वामी, शाह, सचल की त्रिवेणी
१४—रामचरितमानस (तुलसी)—संस्कृत पद्यानुवाद सहित, तथा
१५— ,, ओड़िया लिपि में लिप्यन्तरण एवं ओड़िया गद्य-पद्यानुवाद
१६— ,, बँगला ,, ,, बंगला पद्यानुवाद

वाणी प्रेस, लखनऊ—३ में मुद्रित एवं भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ—३ द्वारा प्रकाशित।
—द्वारा नन्दकुमार अवस्थी